उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# PGDEM & FP - 02
# फिल्म परिचय एवं इतिहास

## खण्ड

## 1

## फिल्म का परिचय

इकाई-1 5
फोटो पत्रकारिता

इकाई-2 14
फिल्म संक्षिप्त परिचय

इकाई-3 22
फिल्म पत्रकारिता के आयाम

इकाई-4 38
डाकूमेन्ट्री

इकाई-5 52
करेंट अफेयर्स कार्यक्रम

## परामर्श-समिति

| | |
|---|---|
| **प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव** | **कुलपति - अध्यक्ष** |
| **डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल** | **कार्यक्रम संयोजक** |
| **श्री एम0 एल0 कनौजिया** | **कुलसचिव - सचिव** |

## परिमापन

| | |
|---|---|
| **1- प्रो0 राम मोहन पाठक** | - वाराणसी |
| **2- डॉ0 अर्जुन तिवारी** | - इलाहाबाद |

## सम्पादन

| | |
|---|---|
| **1- श्री राजकृष्ण मिश्र** | - |

## लेखक मंडल

### PGDEM&FP - 02

| | |
|---|---|
| **1- श्री राजकृष्ण मिश्र** | - लखनऊ |
| **2- डॉ0 के0 के0 मालवीय** | - इलाहाबाद |

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से कुलसचिव, श्री एम0 एल0 कनौजिया, द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, मार्च 2008

मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद, मुद्रित। फोन - 2548837

# इकाई - 1 : फोटो पत्रकारिता

## इकाई की रूपरेखा-


1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 फोटो पत्रकारिता

1.2.1 परिभाषा

1.2.2 फोटो पत्रकारिता से लाभ

1.2.3 फोटो पत्रकारिता का आकर्षण

1.2.4 फोटोग्राफी कला के प्रकार

1.3 फोटो पत्रकारिता का इतिहास

1.4 फोटो पत्रकार

1.4.1 फोटो पत्रकार के गुण

1.4.2 खोजी पत्रकारिता और फोटो पत्रकार

1.5 फोटो पत्रकारिता और भाषा

1.6 फोटो पत्रकारिता एक चुनौती


## 1.0 उद्देश्य

- यदि आप फोटो पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना कैरियर बनाना चाहते हैं तो इस इकाई की मदद से इसकी विस्तृत जानकारी मिलेगी और आपको फोटो पत्रकारिता में मदद मिलेगी।
- इस इकाई के अध्ययन से फोटो पत्रकार बनने सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और इस क्षेत्र में आने वाली चुनौतियों का सामना भी कर सकते हैं।
- फोटो पत्रकार बनकर कैसे नाम, पैसा कमा सकते हैं, इस बारे में जानेंगें; साथ ही इस इकाई से यह भी मदद मिलेगी कि आप अपनी कला का प्रदर्शन कर सकते हैं।

## 1.1 प्रस्तावना

फोटो पत्रकारिता से आज के दौर में विश्व में कहीं भी कोई घटना घटती है तो क्षण भर में हमें उसकी आंखों देखी रिपोर्ट मिल जाती है। फोटो पत्रकारिता फिल्म, इलेक्ट्रानिक और प्रिंट मीडिया से सम्बन्धित ऐसी पत्रकारिता है जिसके माध्यम से हमें किसी भी घटना का आंखों देखा समाचार मिल जाता है। फोटो हमें घटना स्थल या अन्य उस स्थल का जिसका फोटो पत्रकार परिचय कराना चाहता है उसका परिचय भी हमें मिल जाता है। यह पत्रकारिता का चित्रात्मक प्राणतत्व है। एक चित्र ही हजारों शब्दों के बराबर है। यह पत्रकारिता की विश्वसनीयता बढ़ा देता है। किसी भी रिपोर्ट के साथ लगी फोटो उस रिपोर्ट की विश्वसनीयता तो बढ़ाती ही है साथ ही हमें घटनास्थल पर नहीं होने पर

भी आंखों देखी घटना का परिचय करा देती है। हम घटनाओं की फोटो देखकर समाचार की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण होने से विश्वसनीयता बढ़ जाती है, तभी फोटो पत्रकारिता का महत्व बढ़ जाता है। आज इसकी मांग बढ़ती जा रही है।

## 1.2 फोटो पत्रकारिता

हजारों शब्दों में जिस स्थिति भाव या घटना की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती उसे हम एक चित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। चित्र शब्द रहित काव्य है। पत्रकारिता के क्षेत्र में फोटो पत्रकारिता का बहुत महत्व है। समाचार केवल पढ़े जा सकते हैं। किन्तु फोटो बिना बोले ही चित्र द्वारा ही सारी घटनाओं को प्रस्तुत कर देती है। इसका प्रभाव तुरंत हमारे ऊपर पड़ता है। फोटो में हम स्वयं घटनाओं को घटित हुआ देखते हैं, जो विश्वसनीय, सत्य लगता है। कई बार प्रिंट मीडिया के समाचारों पर विश्वास नहीं होता किन्तु फोटो सत्य को प्रमाणित कर देता है। इसीलिए प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रानिक मीडिया में फोटो पत्रकारिता का महत्व बढ़ जाता है। टेलीविजन, फिल्म के जरिये हम घटनाओं के फोटो देखकर समाचार की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। फोटो हमें उस स्थान से भी परिचय करा देती है जहाँ घटनाएं घटी और समाचार विकसित हुए। प्रिन्ट मीडिया और इलेक्ट्रानिक मीडिया में फोटो पत्रकारिता अधिक प्रभावी होती है। यह फिल्म टीवी और अखबारों एवं पत्र-पत्रिकाओं का चित्रात्मकता प्राण तत्व है । एक चित्र हजार शब्दों के बराबर होता है। यह समाचार के आभूषण तो होते ही हैं साथ में दर्शकों के मानस को मथने वाले भी होते हैं और दर्शकों को भाव-विह्वल कर देते हैं।

### 1.2.1 परिभाषा

फोटो अपने में समाचार, विचार, रिपोर्ताज, लेख, दस्तावेज और सम्पादकीय सभी कुछ है। यह विश्वसनीयता का सर्वोत्तम माध्यम है।

'लिखा - लिखी की बात नहि, देखा-देखी बात'

**कबीर,**

'A Camera is a mirror with memory.' - Dr. Arjun Tiwari

''आप तस्वीर खींचते नहीं हैं बल्कि आप सृजन करते है।''-**एन्सेल एडम्स**

''सब राष्ट्रों की जनता के बीच मेल-मिलाप उत्पन्न करने में फोटो पत्रकार की बहुत बड़ी देन होती है। दुनिया की समस्त भाषाओं में फोटो समाचारों की भाषा सबसे अधिक सरल होती है। आज के युग में जबकि अगणित मनुष्यों पर अत्याचार हो रहे हैं तथा कई देशों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता नष्ट हो रही है, चित्र व्यक्ति की स्वतंत्रता को बरकरार रखते हैं, क्योंकि वह सच्चाई को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करते हैं ।'' **आइजन हावर**

A picture often conveys more than volumes? - **O.S. Powler**

Photography is an effective medium communications offering an unlimited variety of perception, interpretation and execution.

**- Dr. Arjun Tiwari**

फोटो पत्रकारिता का प्रभाव अधिक है। चित्र किसी को उद्वेलित करने तक में सक्षम तो हैं ही सोचने को भी मजबूर कर देते हैं। अकबर इलाहाबादी की उक्ति सार्थक सिद्ध होती है -

'महफिल उनकी साकी उनका,

आंखे अपनी बाकी उनका ।'

आज फोटो पत्रकारिता की मांग बढ़ गयी है। वर्तमान युग में पाठक और दर्शक सिर्फ दर्शक नहीं रह गया है अपितु वह एक उपभोक्ता हो गया है। उपभोक्ताओं को रिझाने के लिए फोटोग्राफर बेहतर प्रभावशाली फोटो की तलाश करते हैं। प्रतियोगिता के इस युग में कभी-कभी खास फोटो की मांग बढ़ जाती है। फोटो पत्रकारिता में केवल किसी घटना की फोटो खींचना मात्र नहीं है।इसमें कुछ अलग प्रभावशाली, नयी दृष्टि से देखकर फोटो खींचा जाता है। उदाहरण - सरकारी अस्पतालों में दुर्व्यवस्था की खबरें आये दिन छपती है। एक दिन अस्पताल के बेड पर कुत्तों के सोने बैठने की फोटो रहती है, जो बताती है कि अस्पताल की दुर्व्यवस्था के कारण मरीज सरकारी अस्पतालों में आना नहीं चाहते और वहाँ के बिस्तरों का उपभोग कुत्ते कर रहे हैं। इसी तरह कई बार रिश्वत लेते अधिकारियों की फोटो छप जाती है। समाज में कई तरह के अपराध होते रहते हैं जिसकी तस्वीरें भी फोटो पत्रकार खींच कर समाज के सामने उजागर करते हैं। इससे उनकी चर्चा होती है।

## 1.2.2 फोटो पत्रकारिता से लाभ

प्रकाश तथा रासायनिक सदैव सार्वभौम भाषा बोलते हैं। सभी को आकर्षित करते हैं। इनको बनाने तथा रखने की सुविधा भी है। इसके लाभ भी अनेक हैं और यह भाषा व प्रिंट में रह गयी कमियों व बाधा को दूर कर सकता है।

1. भाषा में आने वाली बाधा को इसके प्रयोग से दूर किया जा सकता है।

2. फोटोग्राफ का प्रभाव तुरन्त पड़ता है क्योंकि इससे यथार्थ, सत्य माना जाता है। इसमें विश्वसनीयता होती है। लोगों के दृष्टिकोण और अभिरूचि को फोटोग्राफी के माध्यम से बदला जा सकता है।

3. सामाजिक बुराइयों और अपराधों को सही ढंग से पहचानने में सहायता मिलती है फलतः उनसे दूर रहने की प्रेरणा भी मिलती है।

4. फोटोग्राफ एक साथ बहुत अधिक संख्या में लोगों के पास पहुँचाये जा सकते हैं ।

5. इनके द्वारा सीखने की प्रक्रिया को तेज किया जा सकता है।

## 1.2.3 फोटो पत्रकारिता का आकर्षण

ग्लैमर, शोहरत और खतरों से भरा क्षेत्र फोटोग्राफी है जिसकी ओर युवा पीढ़ी बड़ी तेजी से अग्रसर है। वर्तमान में मीडिया के अतिरिक्त फिल्म, विज्ञापन, फैशन, पुलिस सेना, पर्यटन विज्ञान आदि ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ फोटोग्राफी के बिना संबंधित कार्य को अधूरा समझा जाता है। इसलिए फोटोग्राफी के क्षेत्र में दिलचस्पी रखने वालों के लिए फोटोग्राफी का कैरियर असीम संभावनाओं वाला है। जिस प्रकार पत्रकारिता को चुनौतीपूर्ण कैरियर माना जाता है उसी प्रकार फोटो पत्रकारिता भी चुनौती वाला

कैरियर है। इस क्षेत्र में ग्लैमर, शोहरत आ जाने से फोटोग्राफर खतरों और चुनौतियों को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। फोटोग्राफर अपनी सृजनशक्ति द्वारा विशेष कोण अथवा पोज के आधार पर किसी साधारण चेहरे एवं व्यक्तित्व में चार चांद लगा देता है। दौलत, शोहरत और रोजगार की सुनिश्चितता को लेकर शिक्षित युवक -युवतियों के लिए यह आकर्षक कैरियर बनता जा रहा है। यह क्षेत्र उन लोगों के लिए अधिक उपयुक्त है जिनमें चीजों को उनकी सूक्ष्मता तथा सम्पूर्णता में देखने की अतिरिक्त प्रतिभा मौजूद है।। जिन लोगों में नयी चीजें, अलग सामग्री जुटाने की हॉबी है। वह भी इस कैरियर में रूचि लेते हैं। वैसे तो दृश्यों,रंगों, प्रकाश, आकार-प्रकार आदि से तादात्म्य स्थापित करने वाले लोग फोटो पत्रकारिता का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करके बेजोड़ फोटोग्राफी कर लेते हैं, किन्तु यदि इसमें विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त कर लिया जाय तब तो सोने में सुहागा वाली बात होगी। फोटो पत्रकारिता और फोटोग्राफी के कोर्स के दौरान प्रशिक्षार्थी को कैमरा तथा फोटोग्राफी से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं को प्रायोगिक एवं सैद्धान्तिक रूप से पढ़ाया जाता है। प्रशिक्षण के दौरान प्रशिक्षुओं को अनेक स्थलों पर ले जाकर फोटोग्राफी में आवश्यक प्रकाश, रंग छाया इत्यादि की भी सूक्ष्म जानकारी दी जाती है।

### 1.2.4 फोटोग्राफी के प्रकार

फोटोग्राफी कला को ललित कला और कामर्शियल फोटोग्राफी के रूप में बांटा गया है।

**ललितकला** - ललित कला फोटोग्राफी के अन्तर्गत मंदिर, मस्जिद, किलों, इमारतों, कलाकृतियों, मूर्तियां आदि आती हैं।

**कमर्शियल या व्यावसायिक फोटोग्राफी** - कामर्शियल फोटोग्राफी में विज्ञापन, फैशन फिल्म, विभिन्न तरह के संगीतमय कार्यक्रम जिसमें देखने के लिए टिकटें खरीदनी पड़ती हैं,प्रदर्शनी आदि शामिल हैं।

## 1.3 फोटो पत्रकारिता का इतिहास

फोटोग्राफर कैमरे के माध्यम से जो देखता है उसी को वह सम्प्रेषित करता है। डा. जेम्स मूर्ति ने 'लाइफ' की घोषणा को ही फोटो पत्रकारिता करने वाला बतलाया है।आप सोच सकते हैं कि 'जीवन को देखना, संसार को देखना, महान घटनाओं का साक्षी बनना, गरीब का चेहरा एवं गौरवान्वित की भंगिमाएं देखना, अपरिचित एवं विलक्षण वस्तुएं देखना, जंगल व चन्द्रमा पर अनेक बिम्ब देखना, आदमी के कार्य, उसकी चित्रकारी, मीनारें एवं आविष्कार देखना, दीवारों के पीछे, कमरों के भीतर रखी चीजों को देखना, देखना और देखने की प्रक्रिया में आनन्द लेना। देखना एवं चकित होना यह सब कैसे संभव होता है। इसका इतिहास डेढ.सौ साल से भी अधिक पुराना है । सन् 1839 ई. में विलियम हेनरी फॉक्स ने उस प्रक्रिया का आविष्कार किया जिसके द्वारा नेगेटिव से पॉजिटिव चित्र बनाना सम्भव हो पाया। फोटो के माध्यम से समाचारों के प्रसारण को पत्रों ने महत्व दिया। सन् 1842 में इलस्ट्रेटेड लन्दन न्यूज ने ऐसा किया। अमेरिका-स्पेन युद्ध, प्रथम विश्व युद्ध तथा स्पेन के गृह युद्ध के समय फोटो पत्रकारिता पनपी। उस समय मैथ्यू ब्राडी, जिमी हेयर, जे. सी. हेमंत

ने युद्धों का रोचक चित्र प्रस्तुत किया। इसके बाद धीरे-धीरे फोटो पत्रकारिता में निरंतर विकास होता गया। शुरूआत युद्ध की घटनाओं से हुई बाद में समारोहों, उत्सवों, समाचार आदि पर भी ध्यान दिया जाने लगा। समाचार रिपोर्ट फीचर को आकर्षक व रोचक बनाने में फोटो की प्रमुख भूमिका है। वर्ष 1888 में अमेरिकी उद्यमी जार्ज ईस्टमैन ने कोडैक बाक्स कैमरे का आविष्कार किया। ईस्टमैन ने इस कैमरे में हल्की रील फिल्म का प्रयोग किया। इस ब्राउनी कैमरे के आविष्कार से पहले फोटोग्राफी की विधि काफी खर्चीली थी। 1892 में ईस्टमैन कोडैक फोटो ग्राफिक कम्पनी की स्थापना हुई जिसने सन् 1900 तक आते-आते एक डालर की कीमत पर कैमरे बेचना शुरू कर किया था। कैमरे में प्रेयोग होने वाली रंगीन फिॅल्म में विद्युत संवेदी मिश्रण की कई परतें होती हैं, जो विद्युत की हर किरण को अलग-अलग रंगों में रिकार्ड करती हैं । यह मिश्रण विद्युत संवेदी सिल्चर हेलाइड एवं जिलेटिन से बना होता है। जब इन परतों को रंगीन प्रिन्ट या ट्रान्सपेरेंसी की तरह से देखा जाता है तो अलग-अलग रंग संयोजित होकर वास्तविक दृश्य को सही रंग दिखाते है।। इलेक्ट्रानिक मीडिया आने के बाद मूविंग कैमरा का महत्व बढ़ गया। इससे चलती-फिरती घटनाओं को हूबहू दिखाते हैं। मूविंग कैमरा आने के बाद इलेक्ट्रानिक मीडिया और फिल्मों का विकास हुआ। मूविंग कैमरा में चलती, फिरती, बोलती गाती हर तरह की क्रिया करने वाली तस्वीरें दिखायी जाती हैं। यह हूबहू वास्तविक जीवन जैसा ही लगता है। इसमें फोटोग्राफर का महत्व बढ़ जाता है। उससे कोई चीज छुपी नहीं रहती। मूविंग कैमरा से समाचार,फीचर फिल्म को रोचक बनाया जा सकता। मूविंग कैमरा के चलते टेलीविजन पर समाचारों को हूबहू दिखाया जा सकता है। इस कैमरे के विकास से विभिन्न चैनलों का विकास होता जा रहा है। इससे समाचार की प्रमाणिकता भी बढ़ गयी है।

## 1.4 फोटो पत्रकार

सम-सामयिक घटनाओं के सचित्र विवरण की प्रस्तुति फोटो पत्रकारिता है। भयावह, विनाशकारी, विकृत, वीभत्स घटनाओं को कैमरे में बंद करने हेतु एक फोटो पत्रकार जितना तत्पर रहता है उतना ही वह किसी समारोह, उत्सव और आयोजन के साथ भी एकाग्रचित होता है। फोटो पत्रकार केवल कैमरे का बटन दबाने वाला ही नहीं होता वह पैनी दृष्टि से सम्पन्न और जीवन्त दृश्य को पकड़ने में समर्थ होता है। चित्रों की प्राप्ति, चित्रों का चयन, चित्रों का सम्पादन ये तीन प्रमुख कार्य फोटो पत्रकार के हैं। समाचार रिपोर्ट, फीचर को आकर्षक, रोचक और मुखर बनाने में फोटो पत्रकार सदैव चिन्तामग्न रहते हैं। प्रासंगिकता और दूरदृष्टि से सम्बन्धित गुणों के कारण फोटो पत्रकार सर्वत्र उपस्थित हो जाते हैं। सामान्य पत्रकार तो लेट हो सकता है, पक्षपात कर सकता है, उसकी लेखनी बहक सकती है, लेकिन फोटो पत्रकार चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकता। फोटो पत्रकारिता में सत्यता, वास्तविकता, विश्वसनीयता और वस्तुनिष्ठता का समावेश रहता है।

### 1.4.1 फोटो पत्रकार के गुण

प्रिन्ट एवं इलेक्ट्रानिक मीडिया में फोटो पत्रकार का विशेष महत्व है। कोई भी फोटोग्राफर फोटो पत्रकार नहीं बन सकता, उसमें विशेष योग्यता होनी चाहिए। इसके लिए प्रशिक्षण लेना जरूरी है। फोटो पत्रकार में निम्नलिखित गुण होना आवश्यक है।-

1. उसे फोटो तकनीक की बारीकियों में दक्ष होना चाहिए।

2. फोटो पत्रकार को मिलनसार, संवेदनशील एवं सृजनशील होना चाहिए।

3. उसे घटनाओं, कार्यक्रमों तथा परिवर्तनों की जानकारी होनी चाहिए।

4. उसमें भी पत्रकारों की तरह समाचार सूंघने, खोजने की क्षमता होनी चाहिए।

5. एक अच्छे फोटो पत्रकार को कैमरा, लैंसों, फिल्टर्स, शटरगति, फोकस फ्लैश गन, प्रकाश नियन्त्रण आदि की जानकारी होनी चाहिए।

6. उसमें फिल्म प्रोसेसिंग,डार्करूम तकनीक, फोटो पेपर ग्रेड तथा फोटोग्राफी रसायनों की भी भली-भांति समझ होनी चाहिए। फोटो पत्रकार को कम्पोजीशन के नियम, रूल आफ थर्ड, सेन्टर ऑफ इन्टरेस्ट इत्यादि का भी ज्ञान होना चाहिए।

7. फोटो पत्रकारों में जिज्ञासाओं को शांत करने की ललक होना चाहिए। जिन घटनाओं, समाचारों में अधिकतम लोगों की रूचि हो, उससे सम्बन्धित आगे के छायाचित्र पाठकों तक यथाशीघ्र पहुँचने चाहिए।

8. फोटो पत्रकार को सदैव सतर्क, सजग जिम्मेदार रहना चाहिए।

9. उसे पत्रकारिता की आचार संहिता का ज्ञान होना आवश्यक है, जिससे राष्ट्र, समाज, विधायिका, न्यायपालिका का हनन न हो।

## 1.4.2 खोजी पत्रकारिता और फोटो पत्रकार

खोजी पत्रकारिता में फोटो पत्रकार की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। पुलिस सम्बन्धी प्रकरण हो या अन्य किसी भी तरह के ऐसे समाचार जिसे रिपोर्टर खोज निकालता है उसमें घटना की फोटो महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

**उदाहरण** - 14 नवम्बर 2006 को सर सुन्दरलाल चिकित्सालय में खुली दवा की दुकानों पर तीस प्रतिशत छूट का विरोध कर रहे दवा व्यवसायियों पर सुरक्षा कर्मियों ने लाठियाँ बरसायी किन्तु इस सम्बन्ध में पूछने पर चीफ प्राक्टर ने इससे इंकार किया। फोटोग्राफर ने मौके पर खींची फोटो प्रमाण के रूप में छाप दी जो सत्य को उजागर करती हैं

## बी एच यू में दवा व्यवसाइयों पर बरसीं लाठियाँ

**कई घायल, जवाब में सिंहद्वार पर पथराव, आज से बेमियादी बंदी का ऐलान**

वाराणसी (सं0 ) 1 सर सुंदरलाल चिकित्सालय में हाल ही में खुली दवा की दुकान पर तीस प्रतिशत छूट का विरोध सोमवार को और भड़क उठा। विरोध प्रदर्शन के 11वें दिन कुलपति प्रो. पंजाब सिंह से वार्ता के लिए जा रहे दवा व्यवसायियों पर विश्वविद्यालय परिसर में प्राक्टर कर्मियों ने जमकर लाठियां बरसाई। लाठीचार्ज में दवा व्यवसायियों के प्रांतीय नेता दिवाकर सिंह व सुरेश गुप्ता, केमिस्ट एंड ड्रगिस्ट वेलफेयर एसोसियेशन के जिला महामंत्री संदीप चतुर्वेदी समेत कई व्यापारी

घायल हो गये। व्यवसायियों ने जवाब में लंका स्थित सिंहद्वार पर पथराव किया। लाठीचार्ज व पथराव से पहले परिसर और बाद में लंका चौराहे पर कुछ देर के लिए अफरा-तफरी रही।

स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान के चिकित्सा विज्ञान संस्थान के सामने सोमवार को दवा व्यवसाइयों को पीटते सुरक्षाकर्मी।

**सुरक्षाकर्मियों ने कोई ज्यादती नहीं की : चीफ प्राक्टर**

घटना के विरोध में थोक एवं फुटकर दवा व्यवसायियों ने सोमवार से बनारस में बेमियादी बंदी की घोषणा की है। बंदी को केमिस्ट एंड ड्रगिस्ट वेलफेयर एसोसियेशन, केमिस्ट एण्ड ड्रगिस्ट एसोसियेशन और औषधि व्यवसायी मंडल ने समर्थन दिया है। लंका दवा व्यवसायी संघ के बैनर तले सोमवार को अस्पताल परिसर के उत्तरी छोर पर सभा चल रही थी। सभा में केमिस्ट एण्ड ड्रगिस्ट फेडरेशन व केमिस्ट एण्ड ड्रगिस्ट वेलफेयर एसोसियेशन समेत कई अन्य जिलों के लोगों ने शिकायत की।

आजकल खोजी पत्रकारिता के प्रसंगों में प्रमाण-स्वरूप दस्तावेजों के फोटो समाचार पत्रों में प्रकाशित किये जाते हैं। जिन्हें विशेष प्रकार के सप्लीमेन्ट्री लेन्सों तथा सूक्ष्म फोटोग्राफी की सहायता से तैयार किया जाता है।

पुलिस प्रकरणों तथा न्यायालयीय कार्यों में भी प्रेस फोटो का बड़ा महत्व होता है। हत्या, लूट की वारदात इत्यादि में छायात्रितों को एक श्रृंखला के रूप में खींचा जाना चाहिए जिसमें मृतक के विभिन्न कोणों के फोटो, रक्त के धब्बों, मृतक द्वारा संघर्ष के निशान, घातक हथियार, चोट इत्यादि के निशान,मृतक के आस-पास की स्थिति एवं बिखरे पड़े सामान, वस्तुओं को दर्शाते चित्र जिससे घटना के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सके तथा जरूरत पड़ने पर अदालत में इन फोटो श्रृंखला की सहायता से घटना की यर्थाथता पर प्रकाश डालने में मदद मिले।

अपराध, भ्रष्टाचार, दंगों, लूट- पाट, कानून, चोरी और कानून व्यवस्था सम्बन्धी परिस्थितियों की फोटो का पुलिस द्वारा प्रयोग करने में एक फोटो पत्रकार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अपराध

अनुसंधान तथा अपराधियों की खोज में छायाचित्र काफी मददगार साबित हो रहे हैं।फोटोग्राफ घटनास्थल के स्वयं एकमात्र प्रमाण होते हैं। इनको देखकर घटनास्थल पर अनुपस्थित व्यक्ति भी घटना का सही आंकलन कर सकता है। वैसे भी गवाहों से सुनी -सुनाई बातों की अपेक्षा फोटो में देखी बात अधिक विश्वसनीय लगती है । अनपढ़ व्यक्ति से भी अदालत में पूछताछ करने में फोटो से आसानी रहती है।

**इलेक्ट्रानिक मीडिया और फोटो पत्रकारिता** -

इलेक्ट्रानिक मीडिया में फोटो पत्रकारिता का महत्व प्रिंट मीडिया से अधिक है। इसमें समाचार, घटना के विवरण प्रस्तुत करने के साथ ही कैमरा कवरेज दिखाया जाता है। इसमें कैमरामैन द्वारा उपलब्ध करायी गई दृश्यसूची को दृश्यों के लिए मूल सामग्री मानते हुए इसी आधार पर रिपोर्ट बनायी एवं प्रस्तुत की जाती है। चुनाव परिणाम, अपराधिक घटनाएं, कोई दैवीय आपदाओं की घटना की फोटोसहित रिपोर्ट को ही आवश्यक माना जाता है। प्रिन्ट व इलेक्ट्रानिक मीडिया में ग्राफिक्स मानचित्र, फोटोग्राफिक्स मानचित्र, फोटोग्राफ पहले से तैयार कर लिये जाते हैं। चुनाव परिणाम में इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। इलेक्ट्रानिक मीडिया में रिपोर्टर के साथ साया बन कर कैमरामैन जाता है।

## 1.5 फोटो पत्रकारिता और भाषा

पूरे विश्व में प्रिन्ट मीडिया की भाषा अलग-अलग है किन्तु फोटो की भाषा एक ही है। हिन्दी, अंग्रेजी,रूसी, चीनी उर्दू ये सभी भाषाएं अलग-अलग प्रतीकों द्वारा समझी और लिखी जाती है। विभिन्न देशों के लोग अपनी विविध भाषा में विचार प्रकट करते हैं। चित्र ही ऐसा है जिसकी भाषा एक है जो सर्वजन हेतु बोधगम्य है। यह भाषा की दीवार को चित्र ही तोड़ता है ।फोटो पत्रकार शब्दों के स्थान पर चित्रों का ही प्रयोग करता है। किसी भी घटना, त्योहार (दुर्गापूजा, दशहरा आदि) फैशन, विज्ञापन आदि के बारे में फोटो पत्रकारिता का महत्व बढ़ जाता है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इन दिनों कुछ ऐसी फोटो भी प्रकाशित की जाती है जिसमें कुछ अधिक बताने की जरूरत नहीं पड़ती लोग फोटो देखकर ही समझ जाते हैं। एक अच्छा फोटोग्राफर अपना छायाचित्र इस परिप्रेक्ष्य में उतारता है जिसे समझने के लिए उम्र, लिंग, भौगोलिक क्षेत्र, साक्षरता, सामाजिक-आर्थिक स्तर कुछ भी बाधा नहीं बनते।

मुंबई बम काण्ड,ट्रेन या वाहन दुर्घटना, बाढ़, आंधी, तूफान आदि की घटनाओं में फोटोग्राफी अपना प्रभाव रिपोर्ट से अधिक छोड़ती है। इसके महत्व को देखते हुए इन दिनों विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में फोटो को अधिक लगा कर सजाया जाता है।

**उदाहरण -** मुंबई में ट्रेन बमकाण्ड को लेकर और मुंबई में आयी बाढ़ से सम्बन्धित फोटो को विभिन्न पत्र पत्रिकाओं ने कई पेज में छापा था। फोटो के नीचे स्थान का नाम लिख दिया गया था। भूली- बिसरी यादों को भी विभिन्न फोटो के द्वारा बताया जाता रहा है। इसमें प्रधान मंत्री, राष्ट्रपति, अन्य बड़े नेता, अभिनेता, बड़े बिजनेसमैन, लेखक, गायक, विश्व के अन्य देशों के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आते हैं। मात्र एक फोटो का महत्व इससे भी समझा जा सकता है कि सन 1860 ई में मात्र एक फोटो के चलते अब्राहम लिंकन को सफलता मिली। यह चित्र लिंकन का था जिसे मैथ्यू ब्राडी

ने खींचा था। चुनाव के समय बहुत जोरों से प्रचारित किया गया था कि लिंकन गंवार,जंगली हैं वह राष्ट्रपति पद के लिए उपयुक्त नहीं है। इस आरोप के खण्डन में ब्राडी का खींचा गया चित्र सभी जगह दिखलाया गया तथा मतदाताओं का दृष्टिकोण बदला और लिंकन के प्रति लोगों की अभिरूचि जागी। अमेरिका के ही सीनेटर मिलार्ड टायडिंग को कम्युनिस्ट नेता अर्ल बाउडर के साथ बातचीत करते दिखाया गया। इस कम्पोजिट चित्र का प्रचार हुआ फलतः अगले चुनाव में टायडिंग हार गये।

हमारे देश में तो चित्रों को लेकर काफी उथल-पुथल हुए है। जो अब इतिहास के पन्नों में दृष्टिगत हो रहे हैं ।

फोटो पत्रकारिता द्वारा सामाजिक कुरीतियों और अपराधों को सही ढंग से पहचानने में सहायता मिलती है। फोटो पत्रकार त्याज्य या ग्राह्य कार्य के प्रति भावनाओं को उत्तेजित करने में प्रभावकारी भूमिका भी निभाते हैं।

## 1.6 फोटो पत्रकारिता : एक चुनौती

फोटो पत्रकार को सदैव चुनौतियों का सामना करना पड़ता है । विपरीत स्थितियाँ, समय, सुविधा पाने की परवाह किये बगैर ही उसे समय-सीमा में जल्द से जल्द तस्वीरें समाचार पत्रों को भेजनी होती है। बाढ़, भूकम्प, आतंकवादी दंगा-फसाद, घटना, रेल दुर्घटना,आगजनी किसी भी विपरीत परिस्थिति में पहुँचकर उसे अपने कौशल एवं कला का परिचय तथा नित्य नई कसौटी पर खरा उतरना होता है। मुद्रण तकनीक तथा डिजिटल तकनीक की नई चुनौतियों से जूझते हुए तत्काल घटना स्थल की तस्वीरें मोडेम, कम्प्यूटर तथा उपग्रह नेटवर्क के माध्यम से दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक अपनी फोटो प्रेषित करनी होती है।। उनकी फोटो में सम्पूर्ण विषय-वस्तु की स्पष्टता, सम्प्रेषणीयता आवश्यक है। कलात्मकता, सृजनशीलता तथा संवेदनशीलता जैसे गुण भी अति आवश्यक हैं जो एक अच्छे फोटो पत्रकार की सफलता की कुंजी है।

आज के पत्रकार को अपना कार्य अत्यन्त सावधानीपूर्वक करना पड़ता है। एक बार घटनास्थल कार्यक्रम को जो भी फोटो पत्रकार अपने कैमरे में बटन दबाकर कैद करता है, वह सदैव के लिए अमिट रहता है एक पत्रकार अपनी खबर को दुबारा लिखकर ठीक कर सकता है। अपने से अनुभवी व्यक्ति का मार्ग दर्शन ले सकता है। इसी प्रकार एक चित्रकार भी अपनी चित्रकला में हुई खराबियों को बाद में ठीक कर दुबारा बना सकता है। किन्तु फोटो पत्रकार को वही घटना अथवा कार्यक्रम की फोटो दुबारा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिलता है। अतः उसे अत्यधिक सावधानीपूर्वक कलात्मक एवं तकनीकी दक्षता के साथ ही अपने कैमरे का बटन दबाना होता है।

# इकाई - 2 : फिल्म : संक्षिप्त परिचय

## इकाई की रूपरेखा-


2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 फिल्म का इतिहास

2.3 चर्चित फिल्में

2.4 केन्द्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड (सी.बी.एफ.सी.)

2.5 राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम

2.6 फिल्म समारोह

2.7 राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार

2.8 फिल्म संगीत

2.9 फिल्म समीक्षा

2.10 साक्षात्कार

2.11 सारांश

2.12 शब्दावली

2.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.14 प्रश्नावली


## 2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करके आप -

- फिल्म के इतिहास से परिचित हो सकेंगे।
- फिल्म से जुड़े विभिन्न सरकारी संगठनों को जान सकेंगे।
- फिल्म समीक्षा से परिचित हो सकेंगे।
- फिल्म संगीत से परिचित हो सकेगे।
- फिल्म समारोह और चर्चित फिल्मों को जान सकेंगे।

## 2.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आपको फिल्म पत्रकारिता के सभी मुख्य घटकों से परिचित कराया जाएगा। फिल्म या सिनेमा को व्यावसायिक रूप से स्थापित करने का श्रेय 'ल्युमिएर बन्धुओं' को है। उन्होंने 28 दिसम्बर 1895 में पेरिस में पहली बार लघु चित्र का व्यावसायिक प्रदर्शन किया। 1897

में जार्जेस मेलिस ने पेरिस के पास विश्व का पहला स्टूडियो 'पथे गरमान्टे' स्थापित कर फिल्म उद्योग को एक संगठित स्वरूप प्रदान किया। फिल्म जगत की इस विश्वव्यापी क्रान्ति से भारत भी अछूता न रह सका और 1913 में सर्वप्रथम दादा साहब फालके की मूक फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' के जरिये भारत में फिल्म निर्माण का आरम्भ हुआ।

## 2.2 फिल्म का इतिहास

लुईस और आगस्टे ल्यूमिएर बंधुओं द्वारा फिल्म की शुरूआत हुई। भारत में 7 जुलाई 1896 को बम्बई के वाटसन होटल में पहली बार सिनेमा का व्यावसायिक प्रदर्शन हुआ। ये मूक फिल्मों का दौर था जिनमें संगीत हेतु अलग से बैण्ड बजाया जाता था। पहली हिन्दी मूक फिल्म थी - 'राजा हरिश्चन्द्र। 1913 में बनी इस फिल्म के निर्माता-निर्देशक थे - डी. जी. फाल्के। इस फिल्म में नारी पात्र तारामती की भूमिका भी एक पुरूष 'सांलुके' ने निभाई थी, क्योंकि उस समय महिलाओं का फिल्मों में आना अच्छा नहीं माना जाता था। 1914 में डी. जी. फाल्के की 'मोहिनी भस्मासुर' से पहली बार भारत में महिला अभिनेत्रियों की भूमिकाओं की शुरूआत हुई।

1931 से सवाक् फिल्मों की शुरूआत हुई। पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' थी। सवाक् फिल्मों के आरम्भ के बाद का समय अधिकतम ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों पर आधारित फिल्मों का था। बाद में सामाजिक परिवर्तनों को फिल्मों का मुख्य विषय बनाया गया। विमल राय, महबूब, व्ही. शान्ताराम, मास्टर विनायक, हिमांशु राय और चेतन आनन्द जैसे निर्देशकों ने सामाजिक परिवर्तन को अपनी फिल्मों में चित्रित किया। व्ही. शान्ताराम की 'अमर ज्योति' (1936) और 'दुनिया ना माने' (1937) नारी उत्पीड़न पर आधारित फिल्में थीं। निर्देशक चन्दूलाल की 'अछूत' (1940) छुआ-छूत पर एक संदेशप्रद फिल्म थी। ए.आर.कारदार की 'शारदा' (1942) जहाँ बाल-विवाह की समस्या को उजागर करती है, वहीं व्ही. शान्ताराम की फिल्म 'दहेज' अपनी प्रस्तुति के कारण आजतक प्रासंगिक है।

विभिन्न आन्दोलनों, वर्ग संघर्ष के अलावा भारत में साहित्यिक कृतियों पर भी फिल्में बनाने की परम्परा है। शरतचन्द्र के उपन्यास 'देवदास' पर अभी तक तीन फिल्में बन चुकी हैं। 1950 के बाद का भारतीय फिल्म इतिहास का दौर सामाजिक जागरण के रूप में देखा जा सकता है। देवानन्द-सुरैया, अशोक कुमार-नलिनी जयवंत और राजकपूर-नरगिस जैसी जोड़ियाँ प्रसिद्ध हुई। राजकपूर निर्देशित 'आवारा' इस दशक की सबसे हिट फिल्म थी जिसे देश-विदेश में भरपूर सफलता मिली। ख्वाजा अहमद अब्बास (के.ए. अब्बास) द्वारा लिखित और चार्ली चैपलीन सरीखी राजकपूर की शैली ने उन्हें 'भारतीय चार्ली चैपलीन' के रूप में प्रतिष्ठित किया। रूस में इस फिल्म का गीत 'आवारा हूँ' बेहद लोकप्रिय हुआ। 50 के दशक में राजकपूर, गुरूदत्त के साथ बी. आर. चोपड़ा भी सफल निर्माता - निर्देशक के रूप में उभरे। 1953 में विमल रॉय ने 'दो बीघा जमीन' बनाई जिसे हिन्दी फिल्म इतिहास में मील का पत्थर कहा जाता है। 'दो बीघा जमीन' को 1953 का फिल्म फेयर पुरस्कार प्राप्त हुआ। 1954 में आई फिल्म 'नागिन' ने अपने गीत-संगीत से सारे भारत में धूम मचाई। 1956 में बोलती (सवाक्) फिल्मों का रजत जयंती वर्ष था। इसी वर्ष सत्यजीत रॉय की 'अपराजिता', राजकपूर की 'जागते रहो', बी.आर.चोपड़ा की 'एक ही रास्ता', ए. वी. एम. की 'चोरी चोरी' और व्ही. शान्ताराम की सर्वाधिक चर्चित फिल्म 'दो आँखें बारह हाथ' प्रदर्शित हुई। यह फिल्म बर्लिन फिल्मोत्सव में भी प्रदर्शित की गयी और पुरस्कृत हुई । इसके अलावा मदर इंडिया, प्यासा, नवरंग, अनाड़ी, नया दौर, मधुमती, साधना, कागज के फूल, नौ दो ग्यारह और फिर सुबह होगी

इस दशक की मशहूर फिल्में थी।

साठ का दशक मुख्यतः रोमान्टिक फिल्मों का दौर रहा। राजकपूर ने अपनी रोमांटिक फिल्मों में प्रेम और पीड़ा की अभिव्यक्ति को फंतासी के साथ उकेरा तो प्रेम के गंभीर स्वप्न को सामाजिक यथार्थ के साथ गुरूदत्त ने अपनी फिल्मों में प्रस्तुत किया। चौदहवीं का चाँद, साहिब बीबी और गुलाम, में गुरूदत्त ने प्रेम के उदात्त स्वरूप को चित्रित किया। इसी दशक में बनी 'मुगले आजम' अपने शानदार सेटों, और पृथ्वीराज कपूर के शानदार अभिनय से खूब चर्चित हुई। इस फिल्म ने बाक्स ऑफिस पर न केवल अपार सफलता अर्जित की बल्कि मील का पत्थर साबित हुई। इसी वर्ष ऋषिकेश मुखर्जी की मानवीय सम्बन्धों पर आधारित फिल्म 'अनुराधा' को राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार प्राप्त हुआ। शहर और सपना (1963), तीसरी कसम (1966) और भुवनसोम (1969) साठ के दशक की राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित फिल्में रहीं। तीसरी कसम हिन्दी के प्रख्यात कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम पर आधारित थी। इसके निर्माता थे गीतकार शैलेन्द्र। इस फिल्म को एक तरफ राष्ट्रपति का सम्मान प्राप्त हुआ वहीं बॉक्स आफिस पर फिल्म की असफलता से शैलेन्द्र की मृत्यु हो गयी। लेकिन कलात्मक और अभिनय की दृष्टि से आज भी यह एक बेहतरीन फिल्म मानी जाती है।

सत्तर के दशक में रोमांटिक फिल्मों के साथ-साथ एक्शन फिल्मों का दौर आरम्भ हुआ। अमिताभ बच्चन अभिनीत प्रकाश मेहरा की 'जंजीर' ने 'यंग एंग्रीमैन' की छवि प्रस्तुत की, जिसने हिन्दी फिल्मों का स्वरूप परिवर्तित किया। 'जंजीर' और 'दीवार' जैसी फिल्मों के साथ एक्शन फिल्मों का दौर शुरू हो चुका था। इसी समय फिल्म की एक नयी धारा का प्रवेश हुआ जिसे 'कला फिल्म' के नाम से जाना जाता है। इस दौर की प्रमुख कला फिल्में थीं - अंकुर, निशान्त, मंथन, मृग्या, भूमिका, सारा आकाश, दामुल, अनुभव, पार्टी, आक्रोश, पंचवटी आदि । श्याम बेनेगल, मृणाल सेन, गोविन्द निहलानी, प्रकाश झा, मणिकौल, बासु भट्टाचार्य, मुजफ्फर अली, गौतम घोष, बुद्धदेवदास गुप्ता, सईद मिर्जा, सई परांजपे और केतन मेहता कला फिल्म निर्देशकों के रूप में जाने गये। ओमपुरी, स्मिता पाटिल, नसीरूद्दीन शाह, अमरीश पुरी, दीप्ति नवल, अमोल पालेकर, शबाना आजमी, ओम शिवपुरी और कुलभूषण खरबन्दा जैसे कलाकार इसी 'कला फिल्मों' की ही देन हैं।

अस्सी से नब्बे का दशक फिल्मों में मिला -जुला वर्ष है। जहाँ प्रधान विषय एक्शन, रोमांस एवं फंतासी रहे। बीसवीं शताब्दी तक पहुँचते -पहुँचते हिन्दी फिल्मों में तकनीकी रूप से भी पर्याप्त विकास हुआ और फोटोग्राफी की प्रभावत्मकता और ध्वनि प्रभाव में व्यापक सुधार हुआ। वर्तमान में तकनीकी रूप से भारतीय सिनेमा काफी समृद्ध है और भारत से बाहर भी इसे एक बड़े विकसित उद्योग के रूप में जाना जाता है।

## 2.3 चर्चित फिल्में

पचास के दशक की चर्चित फिल्मों में सर्वाधिक चर्चित फिल्म राजकपूर की 'आवारा' है। इसके अलावा आनन्द मठ, टैक्सी ड्राइवर, बूट पालिश, मिर्जा गालिब, बाजी, दाग, परिणिता, नागिन, चोरी -चोरी, सी.आई.डी., हावड़ा ब्रिज, प्यासा, पेइंग गेस्ट, नया दौर, झनक झनक पायल बाजे, फंटूश, जागते रहो, दो आँखें बारह हाथ, चलती का नाम गाड़ी, काला पानी, नवरंग, अनाड़ी,

मधुमती, फागुन और सुजाता इस दौर की चर्चित फिल्में हैं।

सत्तर के दशक में बरसात की रात, चौदहवीं का चाँद, जिस देश में गंगा बहती है, छलिया, झुमरू, हम दोनों, गंगा-जमुना, घराना, कोहिनूर, मुगले आजम, प्रोफेसर, मै चुप रहूँगी, काबुलीवाला, बीस साल बाद, गोदान, हरियाली और रास्ता, दिल एक मंदिर, तीसरी कसम, मेरे महबूब, तेरी सूरत मेरी आँखें, ताज महल, फिर वही दिल लाया हूँ, पारसमणि, मुझे जीने दो, आई मिलन की बेला, चित्रलेखा, दूर गगन की छाँव में, गजल, दोस्ती, गंगा की लहरें, गीत गाया पत्थरों ने, जहाँआरा, कश्मीर की कली, आरजू, ज्वेलथीफ, हमराज, जब जब फूल खिले, खानदान, तीन देवियाँ, ममता, मेरा साया, फूल और पत्थर, आँखें, राम और श्याम, मेरे हमदम मेरे दोस्त, आराधना, आया सावन झूम के, धरती कहे पुकार के, जीने की राह और एक फूल दो माली चर्चित फिल्में थी।

## 2.4 केन्द्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड ( सी.बी.एफ.सी. )

केन्द्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड (सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ फिल्म सर्टिफिकेशन) का गठन 15 जनवरी 1951 को हुआ। सभी फिल्में सार्वजनिक प्रदर्शन के पूर्व सेन्सर होनी आवश्यक हैं। सेन्सर बोर्ड का एक अध्यक्ष और 6 अवैतनिक सदस्य होते हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों से केन्द्र सरकार के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। इसका कार्यालय मुम्बई में है तथा क्षेत्रीय कार्यालय चेन्नई, बैंगलूर, त्रिवेन्द्रम, हैदराबाद और नयी दिल्ली में स्थित है। सेन्सर बोर्ड फिल्मों को यू.ए. तथा यू.ए. 2 प्रमाण पत्र देता है। यू यानि यूनिवर्सल का अर्थ है सभी को देखने योग्य फिल्में। 'ए' श्रेणी की फिल्में केवल वयस्कों हेतु होती हैं। 'यू.ए.' मध्यम श्रेणी की फिल्में होती हैं। यदि किसी फिल्म को बोर्ड द्वारा वयस्क प्रमाणपत्र दिया जाता है तो फिल्म की प्रचार सामग्री में उसका उल्लेख आवश्यक होता है।

## 2.5 राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम ( एन.एफ.डी.सी. )

स्थापित फिल्मकारों को ऋण देने एवं फिल्मों के विकास के लिए 1960 में 'फिल्म वित्त निगम' की स्थापना हुई । निगम द्वारा सहायता प्राप्त दो फिल्में थीं - भुवन सोम (मृणाल सेन) और तीसरी कसम (शैलेन्द्र) । 1980 में फिल्म वित्त निगम और भारतीय चलचित्र निर्यात परिषद् का विलय करके 'राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम' की स्थापना हुई। इसके पहले अध्यक्ष बने प्रख्यात निर्माता निर्देशक ऋषिकेश मुखर्जी ।

निगम ने भारतीय फिल्मों के विकास के लिए कई महत्वपूर्ण कार्य किये। कलकत्ता में 16 एमएम की फिल्में बनाने के सभी यंत्र लगाए गये। निगम ने पुणे में राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार मुबई में एक फिल्म सर्किल की स्थापना की। निगम अपनी एक मासिक पत्रिका 'सिनेमा एन इंडिया' भी निकालता है।

## 2.6 फिल्म समारोह

विश्व में सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह की शुरूआत 1932 में 'वेनिस' में हुई। अब तो प्रायः सभी देशों में फिल्म समारोहों का आयोजन होता है। वेनिस, कान्स और बर्लिन को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण माना जाता है। इन समारोहों ने विश्व स्तर पर सिनेमा के महत्व और विकास को रेखांकित किया है। इन समारोहों से सांस्कृतिक तथा कलात्मक मूल्यों का वैश्विक आदान-प्रदान संभव हुआ है। व्यापारिक सौदों एवं आर्थिक समझौतों में भी इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

भारत में 1973 में 'फिल्म समारोह निदेशालय' (डी.एफ.एफ.) का गठन किया गया। देश में और बाहर अच्छी फिल्मों को प्रोत्साहित करना इसका मुख्य उद्देश्य है। भारतीय फिल्मों को विश्व सिनेमा के अनुकूल स्तर तक लाने में निदेशालय की महत्वपूर्ण भूमिका है। मुख्यतः निदेशालय के निम्नवत कार्य हैं -

- राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कारों का संचालन
- भारतीय पैनोरमा फिल्मों का संचयन
- प्रिन्ट कलेक्शन एवं डॉक्यूमेन्टेशन
- विशिष्ट फिल्म कार्यक्रमों का संचालन
- भारत तथा विदेशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान
- विदेशी अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोहों में सहभागिता
- अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोहों का आयोजन

## 2.7 राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार

क्षेत्रीय एवं सामाजिक प्रासंगिकता तथा कलात्मकता को आधार मान कर राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कारों की शुरूआत 1954 में हुई। यह प्रत्येक वर्ष आयोजित होते हैं। मुख्यतः राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार सिनेमा हेतु तीन श्रेणियों में पुरस्कार दिये जाते हैं। फीचर फिल्म, गैर-फीचर फिल्म और सिनेमा पर सर्वश्रेष्ठ लेखन का पुरस्कार प्रमुख श्रेणियाँ हैं। इसके अलावा भाषा समूह में सर्वश्रेष्ठ फीचर फिल्म का पुरस्कार भी प्रदान किया जाता है। एक विशेष ज्यूरी पुरस्कार भी प्रदान किया जाता है। पुरस्कार में स्मृति चिन्ह और नकद राशि प्रदान की जाती है। फिल्म समारोह निदेशालय प्रतिवर्ष लगभग 50 महोत्सवों में भारतीय फिल्में भेजता है। यदि फिल्म प्रतियोगी स्तर की होती है तो सरकार फिल्म के निर्देशक की यात्रा प्रायोजित करती है। भारत की बहुत सी फिल्में अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोहों में पुरस्कृत हो चुकी है। फिल्म जगत का प्रतिष्ठित पुरस्कार 'दादा साहब फालके एवार्ड' है।

## 2.8 फिल्म संगीत

भारत में जन साधारण तक संगीत को पहुँचाने में हिन्दी फिल्मों की बड़ी भूमिका है। पहले संगीत तो था किन्तु तकनीकी तौर पर न तो उसे सजाया जाता था और न ही उसके रिकार्ड बनते थे।

फिल्म संगीत की शुरूआत सवाक् फिल्मों के साथ ही हुई । 1931 में पहली बार किसी फिल्म के गीत की रिकार्डिंग हुई और डब्लू. ए. खान पहले फिल्म गायक बने। यह समय फिल्मों में संगीत का आरंभिक समय था। इस दौर में फिल्मों में अधिक से अधिक गाने देने की होड़ शुरू हो गयी। उस दौर की लैला मजनूं में 22 गाने थे, शकुंतला में 42 गाने रखे गये। 'इन्द्रसभा' में 71 गाने थे जो एक रिकार्ड है।

फिल्मों में प्लेबैक गायन का आरम्भ के.सी.डे. के गायन से फिल्म 'धूप -छाँव' से हुआ। प्रथम महिला संगीतकार बनी सरस्वती देवी फिल्म 'जवानी की हवा' में जिसका निर्माण 'बॉम्बे टॉकीज' के द्वारा किया गया था।



यह समय गायक कुन्दल लाल सहगल का था इसलिए मुकेश, रफी, सी.एच. आत्मा और

तलत महमूद जैसे कलाकार सफलता के लिए उन्हीं की शैली का प्रयोग करने लगे थे। पचास और साठ का दशक फिल्म संगीत में शास्त्रीय संगीत पर आधारित धुनों का दौर था। नौशाद के संगीत निर्देशन में फिल्म 'मुगले आजम' ने अपनी मधुर धुनों के कारण रिकार्ड तोड़ सफलता पायी। इसके सभी गीत शास्त्रीय संगीत पर आधारित हैं।

संगीतकार शंकर-जयकिशन ने मुकेश की आवाज के लिए विशेष धुनें बनायीं जैसे - आँसू भरी हैं ये जीवन की राहें, मुझको माफ करना यारों मै नशे में हूँ आदि। एस. डी. बर्मन अपनी लोकधुनों के लिए प्रसिद्ध हुए। आज भी उनके कुछ गीत जैसे - सुन मेरे बंधु रे, यहाँ कौन है तेरा, मुसाफिर जाएगा कहाँ लोकधुनों के लिए अवस्मिरणीय हैं। समय के साथ फिल्म संगीत का भी स्वरूप बदल गया। फिल्मों में 'बैकग्राउण्ड म्यूजिक' का प्रयोग बढ़ा और नये-नये 'साउण्ड इफेक्ट' का प्रयोग होने लगा। स्टार सिस्टम की शुरूआत के साथ ही धुन बनाने का काम हल्का होने लगा और रविन्द्र जैन, भप्पी लहरी, राजेश रोशन, राजकमल, लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल, आनन्द मिलिन्द, अनु मलिक जैसे संगीतकारों का दौर शुरू हुआ। वर्तमान में भी फिल्म की सफलता में उसके संगीत का महत्व बना हुआ है।

## 2.9 फिल्म समीक्षा

फिल्म समीक्षा के मुख्यतः तीन तत्व हैं -

- **अभिनय**
- **तकनीकी पक्ष**
- **निर्देशन**

फिल्म की सफलता या असफलता में अच्छे अभिनय का महत्व होता है। अच्छा अभिनय दर्शक को पात्रों से जोड़ता है। भावों की अभिव्यक्ति, चरित्र (पात्र) के अनुकूल व्यवहार तथा वस्त्र अच्छे अभिनय को दर्शाते हैं। तकनीकी पक्ष में फोटोग्राफी, लोकेशन, संगीत, संवाद, स्पेशल इफेक्ट (विशेष प्रभाव) आदि आते हैं। ये सभी तत्व फिल्म की सफलता हेतु महत्वपूर्ण हैं। कभी -कभी कोई फिल्म अपने संगीत के बल पर चल निकलती है तो कभी अपने संवादों के कारण लोकप्रिय हो जाती है। तकनीकी पक्ष के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण फिल्म का निर्देशन होता है। फिल्म की पूरी प्रक्रिया निर्देशन का ही परिणाम होती है। निर्देशक को 'कैप्टन ऑफ द शिप' कहा जाता है। कसी हुयी पटकथा पर कसा हुआ निर्देशन ही फिल्म को संतुलित करता है जिससे दर्शकों की रूचि फिल्म में बनी रहती है। निर्देशक अपनी कल्पना शक्ति एवं चिन्तन को विषय -वस्तु के रूप में प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार फिल्म समीक्षा में निर्देशन, तकनीकी पक्ष, और अभिनय का विशेष ध्यान देना चाहिये।

## 2.10 साक्षात्कार

फिल्मों से जुड़े व्यक्तियों के साक्षात्कार भी सामान्य साक्षात्कार के अनुसार ही होते हैं। इसके लिए जिस व्यक्ति (अभिनेता, अभिनेत्री, गीतकार, संगीतकार, निर्माता, निर्देशक) का साक्षात्कार लेना हो उसकी पृष्ठभूमि का पता होना चाहिये। साक्षात्कार से पूर्व 'होमवर्क' आवश्यक होता है। संभावित

प्रतिप्रश्न भी तैयार कर लेना चाहिये। साक्षात्कार प्रत्यक्ष, टेलीफोननिक या प्रश्नोत्तर शैली में हो सकता है । मुख्यतः फिल्मी व्यक्तियों से सम्बन्धित सभी तरह की जानकारियाँ लोग जानना चाहते हैं अतः प्रश्न 'जनरूचि' के अनुसार ही चुनना चाहिये। ऐसा कोई प्रश्न नही ंहोना चाहिये जिससे उत्तरदाता आहत हो। विवादास्पद प्रश्नों से यथासंभव बचने का प्रयास करना चाहिये। साक्षात्कार देने वाले की सुविधानुसार ही समय का चुनाव करना चाहिये और सामान्य शिष्टाचार के साथ साक्षात्कार आरम्भ करना चाहिये। उत्तरदाता से ऐच्छिक बात निकलवा लेना ही किसी साक्षात्कार की सफलता होती है।

## 2.11 सारांश

समस्त जनसंचार माध्यम फिल्म क्षेत्र से सम्बंधित जानकारी देने का भरपूर प्रयास करते हैं। समाचार पत्र, रेडियो और टी.वी. के लिए फिल्म एक विशेष विषय है। हमारे देश में प्रकाशित होने वाले समस्त समाचार पत्र फिल्म संबंधित विशेष पृष्ठ या स्थान रखते हैं। आज फिल्म पत्रकारों की संख्या हजारों में है। ये पत्रकार फिल्मी हस्तियों से साक्षात्कार करके उनके व्यक्तिगत, अनुभव और फिल्म से जुड़े पक्षों को आम जनता तक प्रस्तुत करते हैं। समाज का सभी वर्ग फिल्मी दुनिया से प्रभावित है अतः सभी वर्ग का पाठक एवं श्रोता इसमें रूचि रखता है। लगभग प्रत्येक जनसंचार माध्यम में फिल्मी समाचारों हेतु स्थान निश्चित होता है। दिन -प्रतिदिन हमारे समाज में फिल्म पत्रकारिता का महत्व बढ़ता जा रहा है।

## 2.12 शब्दावली

**सवाक्** - बोलती हुई

**एंग्री यंगमैन** - नाराज युवक 'एंग्री यंगमैन' की छवि का प्रारम्भ अमिताभ बच्चन के आगमन के साथ हुआ जिसमें एक ऐसा युवा है जिसकी नाराजगी सामाजिक अव्यवस्था से है।

**सी.बी.एफ.सी.** - सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ फिल्म सर्टिफिकेशन (केन्द्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड)

**एन.एफ.डी.सी.** - नेशनल फिल्म डेवलपमेन्ट कार्पोरेशन (राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम)

**डी.एफ.एफ.** - डाइरेक्टोरेट ऑफ फिल्म फेडरेशन (फिल्म समारोह निदेशालय)

## 2.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

मास कम्युनिकेशन एण्ड जर्नलिज्म इन इंडिया : डी.एस.मेहता एलाइड पब्लिशर्स लि. नई दिल्ली।

हाउस फुल : ललित जोशी, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद

सिनेमा और संस्कृति : डा. राही मासूम रजा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

## 2.13 प्रश्नावली

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

1. फिल्म की शुरूआत कब और किसके द्वारा हुयी थी?
2. भारत की पहली फिल्म कौन थी?

3. भारत की पहली महिला संगीतकार कौन थी?

4. सी.बी.एफ.सी. क्या है?

5. भारत में पहली बार व्यावसायिक सिनेमा का प्रदर्शन कब हुआ?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. भारतीय फिल्म के इतिहास की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये।

2. केन्द्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड के प्रमुख कार्य क्या हैं, व्याख्या कीजिये।

3. फिल्म समीक्षा क्या है, व्याख्या कीजिये।

4. फिल्म समारोह पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

1. तीसरी कसम फिल्म के निर्माता थे -

   (1) राजकपूर (2) शैलेन्द्र

   (3) गुरूदत्त (4) व्ही. शान्ताराम

2. फिल्म को प्रमाण पत्र देता है -

   (1) सी.बी.एफ.सी. (2) एन.एफ.डी.सी.

   (3) डी.एफ.एफ. (4) एफ.डी.सी.

3. फिल्म इन्द्रसभा में गीतों की संख्या थी -

   (1) 70 (2) 71

   (3) 72 (4) 73

4. एंग्री यंगमैन की छवि फिल्मों में इस कलाकार से आई -

   (1) अमिताभ बच्चन (2) दिलीप कुमार

   (3) राजेन्द्र कुमार (4) राजेश खन्ना

5. फिल्म समीक्षा का अर्थ है -

   (1) फिल्म की आलोचना (2) फिल्म की प्रशंसा

   (3) फिल्म के सारगर्भित गुण-दोष (4) फिल्म की तकनीकी

**वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर**

1. (2) 2. (1) 3. (2) 4. (1) 5. (3)

# इकाई - 3 फिल्म पत्रकारिता के आयाम

## इकाई की रूपरेखा-


3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 न्यूजरील, समाचार वृत्तान्त

3.3 समाचार

3.4 दूरदर्शन समाचार

3.5 दूरदर्शन समाचार की फिल्म प्रक्रिया

3.6 16 एम एम गेज

3.7 फिल्म पत्रकारिता संगठन

3.8 तुलनात्मक अध्ययन

3.9 स्ट्रींगर समाचार विवरण पत्रिका , डोप शीट का नमूना

3.10 डॉकूमेन्टरी ड्रामा

3.11 नाटकीय तत्व का विवेचन

3.12 उदाहरण

3.13 सारांश

3.14 शब्दावली

3.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.16 सम्बन्धित प्रश्न


## 3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे -

- फिल्म पत्रकारिता क्या है ।
- फिल्म पत्रकारिता का अर्थ क्या है ।
- फिल्म पत्रकारिता का आरम्भ कैसे हुआ ।
- फिल्म पत्रकारिता के आयाम क्या हैं ।
- फिल्म पत्रकारिता के प्रकार क्या हैं ।

## 3.1 प्रस्तावना

आज के युग में, फिल्म पत्रकारिता का स्वरूप भले ही परिवर्तित हो गया हो, परन्तु उसके आधारभूत सिद्धान्त वही हैं, जो 20वीं शताब्दी के आरम्भ में थे।

आज, जब हम उस जमाने की फिल्म क्लिप, किसी वृत्तचित्र का भाग अथवा किसी न्यूजरील का अंश देखते हैं, तब चित्र, असामान्य गति, से चलते-फिरते दृष्टिगत होते हैं। इसके विपरीत, वर्तमान समय में ऐसा नहीं दिखता । आज जब हम कोई वृत्तचित्र देखते हैं या किसी समाचार वृत्तान्त, सिनेमाघर में या दूरदर्शन पर देखते हैं, वैसा नहीं दिखता । इसका कारण क्या है, यह प्रश्न आप के अन्दर कसमसाने लगता है, एक मूक उत्सुकता, सवाल पूछने लगती है। इसका कारण है, फिल्म कैमरा की गति। उस जमाने की शूटिंग 16 फ्रेम में जब की जाती थी, चित्र, असाधारण रूप से गतिमान होते थे। फिल्म कैमरा की सामान्य गति इस प्रकार होती है -

24 48

16 32

8

जितनी कैमरा की गति कम होगी, चित्र में समाहित पात्र या चलती -फिरती वस्तुएं, गतिमान होते ही उसी के अनुरूप प्रतिक्रिया देंगी। आदर्श गीत, जिस पर सिनेमा बनता है, आज के वृत्तचित्र बनते हैं न्यूजरीड, समाचार वृतान्त बनते हैं वह कैमरा स्पीड 24 फ्रेम प्रति सेकण्ड होती है।

इसका सिद्धान्त है, जितनी अधिक कैमरा की स्पीड (गति होगी) उतना अधिक, चित्र गतिहीन होगें या कम गति से चलते -फिरते नजर आएंगे। यह उन चित्रों पर विशेष रूप से लागू होता है, जो गतिमय होते है। उसी प्रकार कैमरा स्पीड जितनी कम होगी, उतना अधिक चित्र गतिमान दृष्टिगत होंगे। यह विशेष रूप से उन चित्रों पर लागू होता है जो गतिमय होते हैं।

यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि फिल्म पत्रकारिता का आरम्भ उस समय हो चुका था, जब कैमरा पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुआ था। फिल्म पत्रकारिता के निम्नलिखित स्वरूप जाने जाते हैं -

(1) समाचार रील या वृत्तचित्र

(2) करेन्ट अफेयर्स कार्यक्रम - चर्चित विषयों पर कार्यक्रम

(3) डॉकू. ड्रामा इसे डॉकूमेन्ट्री ड्रामा या वृत्तचित्र नाटक कहा जा सकता है।

## 3.2 न्यूजरील - समाचार वृत्तान्त

न्यूजरील या समाचार वृत्तान्त मुख्य रूप से सिनेमाघरों में 35 एम. एम. फार्मेट में दिखाया जाता है। सदैव से, समाचार वृत्तान्त, फिल्म प्रभाग मुम्बई द्वारा बनाए जाते रहे हैं।

प्रत्येक सिनेमाघर को, पिक्चर आरम्भ होने से पूर्व कुछ समय के लिए, सामान्यरूप से 10 मिनट समाचार वृत्तान्त या सूचनापरक वृत्तचित्र, प्रदर्शन करना सिनेमेटोग्राफ ऐक्ट के अनुसार अनिवार्य है।

यह कार्य या यूँ कहा जाए सम्भवतः इसी कार्य के लिए फिल्म प्रभाग का गठन किया गया था। उस जमाने में टेलीविजन नहीं था, तब समाचार, तथा समाचार वृत्तान्त के लिए लोग मात्र रेडियो सुना करते थे। रेडियो सुना जा सकता था, देखा नहीं जा सकता था।

इसीलिए फिल्म डिवीजन या फिल्म प्रभाग की न्यूजरील या समाचार वृत्तान्त ही एक माध्यम

था जिसके जरिए सिनेमाघरों में समाचार वृत्तान्त और वृत्तचित्र दिखाए जाते थे।

आज यह संगठन वैसे भी काम कर रहा है।टेलीविजन के आ जाने के पश्चात भी, ऐसे करोड़ों लोग हैं, जिनके पास टी.वी. सेट नहीं हैं उनके लिए सिनेमा हॉल में चलने वाले समाचार वृत्तान्त ही देखकर समझने का अवसर उनको प्रदान करते हैं।

फिल्म प्रभाग के 10 वितरण केन्द्र हैं। यह केन्द्र निम्न स्थानों पर हैं -

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| (1) | बैंगलूर | (2) | मुम्बई | (3) | कोलकाता |
| (4) | हैदराबाद | (5) | लखनऊ | (6) | चेन्नई |
| (7) | मदुराई | (8) | नागपुर | (9) | तिरूवन्थपुरम |
| (10) | विजयवाड़ा | | | | |

उपर्युक्त दस वितरण केन्द्रों के माध्यम से, 12000 सिनेमा घरों में मूवी से पूर्व, समाचार वृत्तान्त या वृत्तचित्र दिखाने की कानूनी जरूरत पूर्ण करने का कार्य फिल्म प्रभाग करता है। इसके एवज में प्रत्येक सिनेमाघर में रॉयल्टी जमा की जाती है जिससे, वितरण का खर्च निकल आता है।

समाचार वृत्तान्त का निर्माण करने के लिए, उपरोक्त 10 केन्द्रों तथा कुछ अन्य स्थानों पर फिल्म प्रभाग ने, 35 एम एम कैमरा यूनिट उपलब्ध करा रक्खी है। प्रत्येक यूनिट के साथ एक कैमरामैन, सहायक या स्पॉट ब्वॉय संलग्न रहते हैं इनका उस स्थान विशेष से पूरे क्षेत्र में होने वाली प्रमुख घटनाओं को कैमरा में एक्सपोज करके, फुटेज मुम्बई मुख्यालय भेजने का काम होता है। देश भर से आने वाली फुटेज के आधार पर फिल्म प्रभाग, समाचार वृत्तान्त तैयार करता है।

## 3.3 समाचार

फिल्म प्रभाग आधारभूत रूप से 35 एम एम गेज फिल्म पर काम करता है फिल्म को एक्सपोज करने के लिए भी 35 एम एम कैमरा का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार शूट किये गये समाचार 35 एम एम मशीन पर ही सम्पादित किए जाते हैं। सम्पादन से पहले 35 एम एम फिल्म को रसायन प्रक्रिया से विकसित किया जाता है। यह कार्य प्रोसेसिंग लैब में होता है।

प्रोसेसिंग के बाद रफ प्रिन्ट निकाली जाती है जिसे सम्पादित करके, ध्वनि मिश्रित की जाती है और तब कहीं जाकर निगेटिव कटिंग होती है और ध्वनि निगेटिव तैयार किया जाता है। अंत में, रिलीज प्रिन्ट निकाल कर समाचार वृत्तान्त, वितरण केन्द्रों के माध्यम से सिनेमाघर तक पहुँचाए जाते हैं। इस प्रक्रिया को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है -

(1) 35 एम एम कैमरा से समाचार एकत्रित किया जाता है।

(2) विभिन्न केन्द्रों पर, रसायनशाला नहीं होती, अतः एक्सपोज्ड फिल्म मुख्यालय मुम्बई भेज दी जाती है।

(3) विभिन्न केन्द्रों से प्राप्त एक्सपोज्ड फिल्म मुम्बई केन्द्र पर स्थित रसायनशाला में प्रॉसेस की जाती है या डेवलप की जाती है।

(4) डेवलपिंग के बाद रफ प्रिन्ट निकाली जाती है और तब शुरू होता है सम्पादन का कार्य।

(5) काम आगे बढ़ाने के लिए, सम्पादन के समय ही, अलग -अलग प्रकार की ध्वनि अलग-अलग ट्रैक पर जो मैगनेटिक टेप तैयार रहता है, लगायी जाती रहती है।

फील्ड या क्षेत्र से प्राप्त होने वाली ध्वनि साधारण स्पूल टेप पर होते हैं, यह -

- सिंक हो सकता है, यानी संवाद सहित या
- अलग से ध्वनि संकलित की गयी होती है।

(6) सम्पादन से पूर्व, उपरोक्त ध्वनि तथा प्रभाव डालने वाली ध्वनि जैसे, चिड़ियों का चहचहाना, रेलगाड़ी या किसी गाड़ी की आवाज या कोई भी, विषयानुसार उचित ध्वनि अथवा संगीत की कोई धुन या गीत, कोई लड़ी डालने के लिए अलग -अलग ट्रैक बनाने पड़ते हैं।

ट्रैक का अर्थ होता है समानान्तर टेप पर ध्वनि अंकन । प्रत्येक प्रकार की ध्वनि का ट्रेक अलग बनाया जाता है। यह ट्रैक बनाने के लिए 1/4'' टेप पर अंकित मूल ध्वनि को एक परफोरेटेड टेप पर हस्तान्तरित किया जाता है। इसी टेप को मैगनेटिक टेप कहा जाता है। इस मैगनेटिक टेप को जगह -जगह से काटा जा सकता है और फिर से रसायन से जोड़ा जा सकता है।

(7) सम्पादन के पश्चात, सभी ट्रैक को मिश्रित किया जाता है। मिश्रण को मिक्सिंग कहते हैं। जिसके अन्दर ध्वनि, अपने उचित स्थान पर या नियत स्थान पर सुनायी देती है। जब तक उसे ओवरलैप न किया जाय।

(8) जब मिश्रित ट्रैक बन जाता है तब यह माना जाता है सम्पादन का कार्य करीब- करीब पूर्ण हो गया। ऐसा इसलिए होता है, मिश्रित टेप से, छेड़छाड़ नहीं की जा सकती।

(9) और अब मिश्रित ध्वनि टेप, जो अब मैगनेटिक टेप पर होता है, को ध्वनि निगेटिव बनाने में प्रयुक्त किया जाता है।

उधर सम्पादित फिल्म के आधार पर निगेटिव कटिंग होती है। निगेटिव में, प्रत्येक फ्रेम पर नम्बर पड़े होते हैं । एक सेकेण्ड में 24-25 फ्रेम होते हैं, यानी एक सेकेण्ड के अन्दर फिल्म के 24-25 फ्रेम निकल जाते हैं । सम्पादित फिल्म के नम्बर देखकर निगेटिव कटिंग होती है। ध्वनि निगेटिव और पिक्चर निगेटिव दोनों को निश्चित परिमाण में, प्रिन्ट किया जाता है।

इस प्रकार 12,000 थियेटर या सिनेमाघरों के लिए, एक निश्चित मात्रा में प्रिन्ट बनाई जाती है, जिन्हें एक फिक्स्ड प्वॉइन्ट चार्ट के आधार पर घुमाया जाता है।फिक्स्ड प्वाइंट चार्ट में, कौन सी प्रिन्ट किस तिथि पर, किस केन्द्र को, कितने समय के लिए भेजी जाएगी, यह अंकित रहता है।

उधर क्षेत्र में नियत समय के बाद केन्द्र प्रिन्ट को अपने यहाँ के सिनेमाघरों में, प्रदर्शन के पश्चात दूसरे केन्द्र को उस केन्द्र से सम्बद्ध सिनेमाघरों में प्रदर्शन हेतु भेज देता है।

## 3.3 दूरदर्शन समाचार

जब दूरदर्शन आरम्भ किया गया, तब वीडियो कहाँ था। यह कहानी आज से 30-35 वर्ष पुरानी है तब सारा काम फिल्म पर होता था। दूरदर्शन की प्रसारण विधि 2'' वीडियो पर आधारित थी। 2'' वीडियो या 1'' वीडियो तथा स्टूडियो में लगे हुये ब्रॉडकास्ट कैमरा, बाहर नहीं ले जाये जा सकते थे। यह पोर्टेबल नहीं होते थे। अतः समाचार का समस्त कार्य फिल्म पर होता था। लेकिन

यह फिल्म 35एम एम गेज की नहीं होती थी। इसका कारण टेलीविजन, अपने आप में 16 एम एम गेज पर कार्य करता है।

फिल्म के गेज निम्नलिखित होते हैं -

**फिल्म के गेज**

- 35 एम एम यानी 35 मिलीमीटर
- 16 एम एम यानी 16 मिलीमीटर
- 70 एम एम यानी 70 मिलीमीटर
- सिनेमास्कोप

उपरोक्त गेज में, 70 एम एम तथा सिनेमास्कोप और 35 एम एम केबल सिनेमा उद्योग में ही प्रयुक्त होता है। इसका अपवाद मात्र 35 एम एम है। जिसका उपयोग फिल्म प्रभाग द्वारा भी किया जाता है।

इसका कारण है सिनेमाघर , सिनेमाघरों में फिल्म प्रदर्शन के लिए 35 एम एम के ही प्रोजेक्टर लगाये जाते हैं क्योंकि अधिकतर फिल्में 35 एम एम पर ही बनती है।

कुछ फिल्में जो 70 एम एम पर या सिनेमास्कोप फार्मेट पर बनायी जाती है। उनको भी 35 एम एम पर ही प्रदर्शित किया जाता है। इसका मुख्य कारण है, अधिकतक सिनेमाघरों में 35 एम एम प्रोजेक्टर का होना। सब में 35 एम एम गेज ही वह जादुई गेज है। जिसमें सदैव से फिल्म उद्योग में काम होता रहता है। आज भी होता है और सम्भवतः कल भी होता रहेगा। फिल्म प्रभाग को चूँकि अपना समाचार वृत्तान्त सिनेमाघरों में ही दिखाना था। इसलिए उसने अपनी कार्यविधि में, 35 एम एम गेज का ही समावेश किया और फिल्म प्रभाग का सारा काम 35 एम एम में होने लगा। यह स्थिति के अनुसार आवश्यक था।

## 3.5 दूरदर्शन समाचार की फिल्म प्रक्रिया

आरम्भ से, दूरदर्शन, केवल भारत में नहीं, समूचे विश्व में 16 एम एम गेज पर ही काम करता है। इसका कारण है फिल्म प्रभाग की तरह दूरदर्शन को अपने कार्यक्रम, सिनेमाघरों में नहीं प्रदर्शित करने थे।

दूरदर्शन को अपने समाचार, अपने कार्यक्रम लोगों के घरों तक पहुँचाने थे। उधर टी वी सेट 16 एम एम फार्मेट पर ही बनाए जाते थे। प्रदर्शन का अन्य कोई माध्यम या मॉडल कहाँ उपलब्ध था। अतः स्वाभाविक रूप से, घरेलू माध्यम होने के कारण, दूरदर्शन को छोटा गेज यानी 16 एम एम गेज अपनाना पड़ा और कोई चारा भी नहीं था। कार्यक्रम बनाने के लिए दूरदर्शन के कैमरामैन और प्रस्तुतकर्ता दूरदर्शन तक जाया करते थे। साथ में कैमरा, रिकार्डर, लाइट, बूम, माइक, ले जाना पड़ता था।

माइक को एक लकड़ी या किसी धातु के डन्डे में बांधकर उस व्यक्ति की ध्वनि अंकन के लिए, आगे तक ले जाना पड़ता था या फिर फ्रेम से ऊपर माइक रखना पड़ता था, जिससे वह कैमरा की पकड़ में न आ सके। इसे बूम कहते हैं। इस प्रकार दूरदर्शन को, निम्नलिखित कारणों से 16 एम एम गेज, अपनाना पड़ा -

(1) निचले आयाम में 16 एम एम से भी छोटा गेज उपलब्ध था। वह गेज था 8 एम एम का।

प्रश्न उठता है, यदि हल्के गेज या हल्की नाप के गेज की आवश्यकता थी, तब 8 एम एम गेज क्यों अपनाया गया।

(2) 8 एम एम गेज व्यवसायिक नहीं है । इसे फिल्म पेशे का प्रोफेशनल गेज नहीं माना जाता।

(3) इसकी तुलना आज के वी. एच. एस. गेज से की जा सकती है।

(4) बात को समझने के लिए हम फिल्म तथा वीडियो की नाप के गेज का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं-

| **फिल्म के गेज** | **वीडियो के गेज** |
|---|---|
| 8 एम एम | वी एच एस |
| 16 एम एम | यूमेटिक लो बैण्ड या यूमेटिक हाई बैण्ड बीटा डिजीटल बीटा |
| 35 एम एम | इसका सानी वीडियो में नहीं है। |
| 70 एम एम | इसका सानी वीडियो में नहीं है। |
| सिनेमास्कोप | यह वीडियो में नहीं है। |

## 3.6 16 एम एम गेज

(1) उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है, टेलीविजन या उस समय का एकाधिकार प्राप्त दूरदर्शन 16 एम एम गेज पर कार्य करता था या कर सकता था।

(2) 16 एम एम गेज विश्व मान्य गेज है।

(3) सिनेमाघरों को छोड़कर फिल्म पर समस्त कार्य यानी प्रोफेशनल काम, 16 एम एम गेज पर ही होते हैं।

(4) सभी मशीनें 16 एम एम गेज पर आधारित हैं।

(5) प्रोसेसिंग लैब या रसायन लैब 16 एम एम और 35 एम एम गेज की ही उपलब्ध होती है।

कुछ लैब 70एम एम की फिल्म डेवलप करती हैं और प्रिन्ट भी निकाल सकती हैं। लेकिन अधिकतर सिनेमाघरों में 35 एम एम गेज के प्रोजेक्टर होने के कारण अन्य कोई गेज सुविधाजनक नहीं होता ।

(6) टी वी सेट, प्रोजेक्सन उपकरण, सम्पादन, कैमरा, टेलीसिने प्रणाली जिससे फिल्म को वीडियो में हस्तांतरित किया जाता है । प्रसारण व्यवस्था के अनुरूप बनाया जाता है। 16 एम एम गेज टेलीविजन का माध्यम का है जबकि 35 एम एम सिनेमा उद्योग का गेज है।

दूरदर्शन को 16 एम एम गेज अपनाना पड़ा और प्रत्येक केन्द्र पर 16 एम एम गेज के उपकरण लगाने पड़े।

दूरदर्शन के केन्द्र जहाँ 16 एम एम गेज के उपकरण थे वह निम्नलिखित हैं -

कोलकाता, मुम्बई, चेन्नई, दिल्ली, लखनऊ, श्रीनगर, भुवनेश्वर

इन सभी केन्द्रों पर निम्न उपकरण लगाए गये -

(1) 16 एम एम कैमरा - अनेक यूनिट

(2) ध्वनि रिकार्डर

(3) 16 एम एम रसायनशाला

(4) 16 एम एम प्रोजेक्सन प्रणाली

(5) टेलीसिने प्रणाली

(6) लाइट

उपरोक्त प्रत्येक यूनिट के साथ,

कैमरामैन, सहायक, रिकार्डिस्ट, सहायक, कैमरा अटेन्डेन्ट, लाइटमैन - दो, चार, आवश्यकतानुसार, प्रस्तुतकर्ता, सहायक।

फिल्म का संगठन, समाचार संगठन से अलग था।

## 3.7 फिल्म पत्रकारिता संगठन

आज भी फिल्म का संगठन, समाचार संकलन तथा समाचार सम्पादन, यह काम केन्द्रीय सूचना सेवा पी.आई.बी., प्रेस इनफारमेशन ब्यूरो के अधिकारी करते हैं और समाचार के साथ दिखाए जाने वाले दृश्य या विजुअल, दुरदर्शन का प्रस्तुतकर्ता तथा सहायक अपनी यूनिट के साथ करते हैं। पहले भी ऐसे होता था, अन्तर था तो सिर्फ फार्मेट का । पूर्व में फिल्म पर काम होता था, अब वीडियों पर काम होता है।

इस इकाई में हमारा उद्देश्य फिल्म पत्रकारिता की बात करना है ना कि वीडियो पत्रकारिता की। वीडियो के आने, सेटलाइट चैनल के प्रादुर्भाव तथा अनेक समाचार चैनलों के आ जाने से अब समाचार का स्वरूप बदल गया।

जब हम 30 साल पूर्व की या कम से कम 80 के पूर्वाद्ध की बात करते हैं तो एक निश्चित स्वरूप, विशेष रूप से फिल्म पत्रकारिता का हमारे सामने घूम जाता है। 1982 में एशियाड हुआ था। वीडियो लो बैन्ड का पदार्पण उसी समय हुआ था। एशियाड के बाद, पुनः ठहराव आ गया। सब कुछ पहले की तरह चलता रहा। अंत में 1983 से 1985 के दौर में धीरे -धीरे वीडियो की पकड़ मजबूत होती गयी। लेकिन हमारे अध्ययन का विषय वीडियो नही है, इसीलिए हम फिल्म पत्रकारिता तक सीमित रहते हुए उस जमाने की अवधारणा तथा प्रणाली की चर्चा करेंगे। फिल्म पत्रकारिता की व्यवस्था निम्न प्रकार थी -

(1) प्रत्येक केन्द्र पर रसायनशाला पर प्रोसेसिंग लैब हुआ करती थी।

(2) उस लैब में निगेटिव की धुलाई या डेवलपिंग नहीं होती थी।

(3) इसका अर्थ है जिस प्रकार फिल्म प्रभाग फिल्म के माध्यम से काम करता था दूरदर्शन उस प्रकार काम नहीं करता था।

फिल्म प्रभाग की प्रक्रिया निम्नलिखित थी और आज भी है -

**सम्पादन से पूर्व -**

(क) 35 एम एम गेज के कैमरा के द्वारा शूटिंग करके क्षेत्रीय इकाइयाँ समाचार कवरेज, मुख्यालय भेजती थी।

(ख) मुख्यालय में विभिन्न इकाइयों की कवरेज को तुरन्त लैब में प्रासेसिंग या डेवलपिंग के लिए दिया जाता था।

(ग) डेवलपिंग के पश्चात कवरेज की रफ या साधारण प्रिन्ट निकाली जाती थी।

(घ) और तब सम्पादन किया जाता था।

**सम्पादन के पश्चात -**

(क) रफ प्रिन्ट के सम्पादन के बाद, प्रत्येक लगाए गये शॉट के नम्बर के आधार पर निगेटिव काटा जाता था यानी आवश्यकतानुसार जिन शॉट को सम्पादित रफ प्रिन्ट में लगाया जाता है उसके अतिरिक्त फिल्म किसी काम की नहीं रह जाती है। इसलिए, उसे काटकर अलग कर दिया जाता था।

(ख) निगेटिव कटिंग को तब ग्रेड किया जाता था और फिर उससे प्रिन्ट निकाले जाते थे, जिन्हें क्षेत्रीय इकाइयों को सिनेमाघरों में प्रदर्शन के लिए भेज दिया जाता था। आज भी फिल्म प्रभाग में इसी प्रकार काम होता है।

(ग) फिल्म प्रभाग के दो मुख्य कार्य हैं -

(1) न्यूजरील तैयार करना

(2) वृत्तचित्र बनाना

अब हम दूरदर्शन की व्यवस्था की विवेचना करते हैं -

(1) दूरदर्शन एक प्रसारण माध्यम है। इसलिए उसकी कवरेज या फिल्म बाहर नहीं जाती।

(2) स्टूडियो के अन्दर ही सारा तामझाम लगा था। वहीं पर फिल्म कवरेज यानी समाचार के दृश्य 100 फिट की धातु की बनी क्रेन में आते थे।

(3) दूर- दूर समाचार वृत्तान्त के दृश्यों के लिए टीम भेजी जाती थी। यह टीम दो प्रकार की होती थी।

(क) दूरदर्शन स्टाफ द्वारा कवरेज या

(ख) स्वतंत्र निर्माता, स्वयं अपने 16 एम एम कैमरा से, आवंटित कवरेज शूट करने के बाद समाचार इकाई को सौंप देते थे। इन स्वतंत्र निर्माताओं को स्ट्रिंगर कहा जाता था।

यह स्ट्रिंगर 16 एम एम बेल एण्ड हावेल या पैलार्ड बोलेक्स कैमरा से शूटिंग करते थे।

(3) इस प्रकार स्ट्रींगर या स्टॉफ द्वारा न्यूज कवरेज या फिल्म में कैद समाचार वृत्तान्त प्राप्त होने पर वहीं, स्टूडियो परिसर में स्थापित लैब में इन कवरेज फिल्म की डेवलपिंग होती थी।

(4) यहाँ पर समझने वाली बात है यह कवरेज बिट्स या कवरेज एक्सपोज फिल्म विशेष प्रकार के रॉ स्टाक पर की जाती थी, जिन्हें रिवर्सल फिल्म कहा जाता था।

(5) यह फिल्म रॉ स्टाक जर्मनी से आता था।

(6) इस रॉ स्टाक के नाम इस प्रकार थे -

| | | |
|---|---|---|
| आर वो 100 फिट | 100 ए एस ए यू पी 32 | आऊटडोर |
| आर वो 100 फिट | 400 ए एस ए | इनडोर |

(7) सामान्य रूप से 100 फिट के टिन में रॉ स्टाक आता था। लेकिन 400 फिट के गोल टिन में भी यह रॉ स्टाक आता था।

(8) अगर कैमरा मोटराइज्ड है यानी उसमें फिल्म को आगे- पीछे करने के लिए मोटर लगी हो तो, तब फिल्म यानी रॉ स्टाक बार -बार बदलने की असुविधा से बचने के लिए 400 फिट रॉ स्टाक रोल या 400 फिट कच्ची फिल्म का प्रयोग किया जाता है।

लेकिन तब कवरेज की नाप -जोख करके उतनी फिल्म काले कपड़े के बॉक्स में रखकर 400 फिट के रॉ स्टाक से काट ली जाती थी।

(9) लैब में फिल्म पाजिटिव डेवलपिंग होती थी। इसका अर्थ है फिल्म का कच्चा माल कुछ इस प्रकार का होता था, जिसका निगेटिव नहीं होता था और रॉ स्टॉक या कच्चा माल पाजिटिव के रूप में तुरन्त डेवलप कर लिया जाता था। तात्पर्य है, पाजिटिव डेवलपिंग होने से, लैब से जब फिल्म निकलती थी हम उसे सीधे संपादन टेबल पर देख सकते थे। वैसे प्रोजेक्टर पर भी फिल्म चल सकती थी लेकिन ऐसा किया नहीं जाता था।

स्ट्रींगर को आठ रूपया फिट के हिसाब से भुगतान किया जाता था।

एक कवरेज करीब 30 फिट, 20 फिट या 15 फिट प्रयोग में लायी जाती थी।

यानी 20 सेकेण्ड, 30 सेकेण्ड, 40 सेकेण्ड, अधिकतम 60 सेकेण्ड की कवरेज प्रयोग में लायी जाती थी।

16 एम एम में 37.5 फिट बराबर होता है 1 मिनट। इस प्रकार -

30 सेकेण्ड हुआ 18 फिट

60 सेकेण्ड हुआ 37.5 फिट

30 सेकेण्ड 18 फिट फिल्म के प्रयोग का भुगतान बनता था, 144 रूपया।

भुगतान कम था फिर भी स्ट्रींगर काम करते थे । प्रत्येक फिल्म की टिन में जो 4'' के करीब डायमीटर की होती थी, 100फिट होती थी, जिसका रनिंग समय 3 मिनट होता था । 37.5 फिट फिल्म या रॉ स्टाक या कच्चा माल एक मिनट के बराबर होता था। इस टिन में कुल कच्चा माल या रॉ स्टाक करीब 112 , 113 फिट होता था, लूप या वाइट हिस्सा छोड़कर ।

लैब से फिल्म सम्पादन कक्ष में जाती थी, जहाँ उसका सम्पादन किया जाता था। सामान्य रूप से पाँच शाट लगाये जाते थे।

(1) इस लैबलिशिंग शाट्स जैसे बैनर, मैदान, हॉल, इमारत, जहाँ कार्यक्रम हो रहा था।

(2) डायस या विषय वस्तु

(3) दर्शक श्रोता

(4) वक्ता - 1, 2, 3

(5) डायस या और दर्शक श्रोता के

उसके बाद क्लोजअप फिल्म प्रसारण के लिए, समाचार के साथ जाती थी।

## 3.8 तुलनात्मक अध्ययन

1. पूर्व में काम 16 एम एम फिल्म पर होता था अब वीडियो पर होता है। वीडियो फार्मेट कई प्रकार का होता है। वर्तमान में डिजीटल या बीटा चल रहा है।

2. पहले फिल्म को लैब में डेवलप किया जाता था वीडियो में, इसकी आवश्यकता नहीं होती।

3. फिल्म युग में संवाददाता, समाचार इकाई को समाचार देते थे, सीधे एंकर को नहीं।

4. फिल्म कैमरा यानी 16 एम एम पैलार्ड वोलेक्स वेल हावल, ऐरी, एस टी, ऐरी बी एल का प्रयोग होता था, अब वीडियो कैमरा का प्रयोग होता है। जिसमें एक्सपोजर, कलर कंट्रास स्वचलित होता है।

5. सबसे महत्वपूर्ण बात जानने वाली है वह ब्लैक एण्ड वाइट युग था। सारा काम ब्लैक एण्ड वाइट या श्वेत- श्याम फिल्म पट्टी पर होता था, अब सारा काम रंगीन वीडियो पर होता है।

6. परिवर्तन की प्रक्रिया चल रही थी । 1982 में वीडियो - लो बैण्ड आया। दो- तीन वर्ष में ही हाई बैण्ड आ गया और 1991 के आस पास बीटा कैम का प्रादुर्भाव हुआ था।

7. 1983 में दूरदर्शन ने रंगीन प्रसारण आरम्भ करने का निर्णय लिया था और पतली तीन रंगीन फिल्में दी गयी थी।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| सत्यजीत रे | - | फिल्म | - | 'सद्गति' |
| बासु भट्टाचार्य | - | फिल्म | - | 'अन्वेषण' |
| राजकृष्ण मिश्र | - | फिल्म | - | रासली |

1983 में रंगीन प्रसारण के निर्णय ने सब कुछ बदल डाला। इसके कारण इस प्रकार थे -

(1) रंगीन फिल्म - रॉ स्टाक मंहगा होता है।

(2) रंगीन फिल्म की लैब लगाना दुरूह कार्य है।

(3) रंगीन फिल्म के लैब टेकनीशियन या तकनीकी जानकार आसानी से नहीं मिलते।

(4) सभी दूरदर्शन केन्द्रों पर रंगीन फिल्म लैब लगाने के लिए बड़ी पूँजी की आवश्यकता होती है।

(5) इतने कारीगर तकनीकी जानकार सरकारी वेतनमान पर मिलना असम्भव लग रहा था।

(6) कार्यकर्ता, स्टाफ, रंगीन फिल्म तकनीकी ज्ञान को शीघ्र आत्मसात् कर सकेंगे इसमें संदेह था।

(7) बात मात्र समाचार की होती तो विचार किया जा सकता था, लेकिन 16-18 घंटे के प्रसारण के लिए प्रत्येक दिन 16-18 घंटे के कार्यक्रम की आवश्यकता होती। स्टूडियो के अंदर कितने कार्यक्रम बनाए जा सकते थे। वाह्य शूटिंग तो करनी ही पड़ती, उसके लिए, रंगीन रॉ स्टाक, कच्चा माल, लैब, तकनीकी जानकार तथा पूँजी की आवश्यकता होती है।

वीडियो में सब कुछ आसान कर दिया था वीडियो स्वचलित होता है। उसे कोई भी चला सकता है। थोड़े से प्रशिक्षण के बाद कार्य करने लायक बना दिया जाता है इस प्रकार दूरदर्शन में फिल्म पत्रकारिता का अंत और वीडियो पत्रकारिता का जन्म हुआ।

## 3.9 समाचार फिल्म के साथ स्ट्रींगर द्वारा दी जाने वाली विवरण पत्रिका

**Commentators & Contributors**

48, Ruttledge Road
Lucknow-226 001

Ref: Tape No. 1 Date: 31.1.90

Dope. Sheet

Place of Filming : Lucknow Library Light Conditions : Day & Night

Date of Filming : 31.1.90 Subject : Location Amiruddalah Library
Film Used : I,ale a,[ex-197 48 Valmiki Mar. "W-Dhalua"
Footage Exposed : 20 Mts. reference. Nautanki and Sarangi
Special Instructions: Contains sheets film's shot by abul fazal &
of Library, Aine Akbari Aine-akbari.
Abulfazal & night shooting.

| Sl.No. | Sequence | Nature of shots | No. of shots | Story |
|---|---|---|---|---|
| 4. | Lucknow. as in Kaiser-bagh. | Top angle | 2/3 | |
| 5. | Kaiserbagh | Steady | steady one P.one | |
| 6. | Bajrangi | Top G2 | | Exid |
| 7. | do | Steady | | Ealking on the Terrace of library |
| 8. | do | do | | do |
| 9. | Books | | | Aine Akbari & Abulfazal |
| 10 | Exterior of library | Panning 200 m | Painning 1-200 mtr. | |
| 1. | Entry of Bajrangi | L/S | | from front to library |
| 2. | do | L/S | | from Back to library |
| 3. | do | L/S | | from Back to ref. sec tion |
| 11. | infront of rack | Mts. | | Selecon of Book |
| 12. | do | C/S | | Books |
| 13. | do | C/S | | front |
| 14. | On table | M/S | | reading |
| 15. | On table | C/S | | of fenkoo dacoit. |

(R.K. Mishra)

## 3.10 डॉकूमेन्ट्री ड्रामा

समाचार या फिल्म पत्रकारिता का आयाम है डॉकूमेन्ट्री ड्रामा ।

**अर्थ** - डाकूमेन्ट्री का अर्थ है वृत्तचित्र और ड्रामा का अर्थ है नाटक। कई बार हमें वृत्तचित्र के माध्यम से बात कहनी पड़ती है। वृत्तचित्र में आधारभूत तत्व होता है नाटक से परे। वृत्त चित्र का नाटक

से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उसी प्रकार नाटक का वृत्तचित्र से या वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

नाटक कल्पना है सब कुछ कल्पित होता है । घटनाओं व्यक्तियों पर नाटक रखा जा सकता है लेकिन उसमें काल्पनिक घटनाओं के आधार पर ही ताना -बाना बुना जाता है।

**स्वरूप** -डॉकूमन्ट्री ड्रामा किसी व्यक्ति विशेष पर बनता है। उसमें व्यक्ति विशेष की गुजरी हुई जिन्दगी के लिए, उसी व्यक्ति को नहीं लिया जा सकता है क्योंकि समय के साथ चेहरे- मोहरे, पहनावे और स्वरूप में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। ऊपर से उम्रदराज का तत्व महत्वपूर्ण हो जाता है। इसके अन्तर्गत -

(1) वर्तमान को उसी व्यक्ति के माध्यम से दर्शाया जाता है। जबकि

(2) गुजरे हुये समय का नाटकीय चित्रण किया जाता है।

**सिद्धान्त -**

डॉकूमेन्ट्री ड्रामा जिसे संक्षेप में डॉकू ड्रामा कहा जाता है। निम्नलिखित सिद्धान्त पर आधारित होता है-ः

(1) वृत्त चित्र की तरह, इसमें पार्श्व स्तर या वॉयस ओवर होता है।

(2) नाटकीय तत्वों का समावेश इसमें किया जा सकता है।

(3) वृत्तचित्र या डॉकूमेन्ट्री चूँकि सत्य पर आधारित होता है अतः, सब कुछ इसमें सत्यापित होना चाहिये।

(4) सम्भवतः इसी कारण इसमें नाटकीय तत्व का समावेश किया जाता है।आज व्यक्ति -विशेष वर्तमान का द्योतक होता है। गुजरे हुए जमाने का नहीं।

(5) इसीलिए भूतकाल दर्शाने के लिए, नाटक रचा जाता है।

(6) नाटक रचते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि सब कुछ उस समय के अनुरूप हो जिसे दर्शाया जा रहा है जैसे -

(क) वेशभूषा, पहनावा

(ख) गेटअप

(ग) वातावरण

(घ) चाल-ढाल, बात-चीत करने का तरीका

(7) नाटकीय पात्र मात्र उस दौर का नाटकीय रूपान्तर करते हैं जो निकल चुका है, गुजर चुका है।

## 3.11 नाटकीय तत्व का विवेचन

नाटकीय तत्वों को ध्यान में रखते हुये निम्नलिखित प्रक्रिया अपनाई जा सकती है -

(1) बोध

(2) साक्षात्कार

(3) संवाद

(4) आलेख

(5) वर्तमान का आलेख

(6) विश्वसनीयता के मानदंड

(7) नाटकीय पात्रों का चुनाव

(8) नाटकीय स्थलों का चित्रण

(9) भूतकाल से सम्बन्धित स्थल में परिवर्तन हो सकता है उसके अन्तर को कम करना।

(10) वेषभूषा, पहनावा

(11) उठने, बैठने, बोलने का ढंग पात्र के करीब होना चाहिये।

(12) शूटिंग के समय, शॉट का कम्पोजीशन कुछ ऐसा होगा जिससे, ऐब छुपाए जा सकें।

(13) पात्र का कार्यस्थल, कार्यविधि, सम्मान, इत्यादि का चित्रण आवश्यक होता है।

(14) कैलेण्डर के पन्ने निश्चित प्रक्रिया से पलटते हुए, समय का अन्तराल दिखाया जा सकता है।

## 3.12 उदाहरण

यदि हम प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के ऊपर डॉकूमेन्ट्री ड्रामा बनाते हैं तो इस प्रकार बनेगा-

(1) वर्तमान काल को, स्वाभाविक रूप से शूट किया जाएगा।

(2) वर्तमान प्रधानमंत्री की कार्यशैली की शूटिंग होगी ।

(3) परिवार के साथ शूटिंग होगी ।

(4) उठना, बैठना, पढ़ना, लिखना, खाना, पीना, इसकी शूटिंग की जाएगी।

(5) स्वयं प्रधानमंत्री का साक्षात्कार लिया जायेगा जिसमें केवल प्रधानमंत्री विजन में होगा। यह एक प्रकार से साक्षात्कार न होकर स्टेटमेन्ट या बयान होगा ।

(6) वर्तमान दौर के पूर्व शॉट, भाषण इत्यादि दिखाए जायेंगे- उनके स्टाक शॉट होगें।

(7) जन्म से लेकर प्रधानमंत्री बनने तक के स्तर का नाटकीय रूपान्तर, पात्रों के माध्यम से किया जाएगा।

(8) नाटकीय रूपान्तर में प्रधानमंत्री का

(क) पुराना आवास

(ख) जन्म स्थान

(ग) शिक्षा

(घ) कार्य क्षेत्र दर्शाया जायेगा।

(9) पात्रों का चुनाव प्रधानमंत्री के स्वरूप, व्यक्तित्व, वेशभूषा, चाल -ढाल से सत्यापित होगा।

## 3.13 सारांश

इस इकाई में, फिल्म पत्रकारिता के आयाम एवं प्रकार की चर्चा की गई। पत्रकारिता के उद्‌भव एवं विकास के विश्लेषण से हमें पता लगता है कि जैसे फिल्म माध्यम का आविष्कार हुआ और जिस प्रकार कैमरा का विकास हुआ उसी के साथ, फिल्म पत्रकारिता का स्वरूप, विकसित होता गया। आज हमारे पास स्वतंत्रता आन्दोलन की अनेक फिल्में, प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध की अनेक फिल्म क्लिप्स उपलब्ध हैं।

फिल्म पत्रकारिता का स्वर्णयुग 1970 से 80 के दशक के पूर्वार्द्ध तक माना जा सकता है। यद्यपि फिल्म पत्रकारिता को पूर्ण रूप से इलेक्ट्रानिक मीडिया ने ग्रसित कर लिया है । दूर से कहाँ एक टिमटिमाता सा दिया, फिल्म प्रभाग के रूप में अपने मूल स्वरूप में आज भी कार्य कर रहा है। आज भी सिनेमाघरों में समाचार वृत्तान्त दिखाए जाते हैं, वृत्तचित्र दिखाए जाते हैं।

फिल्म पत्रकारिता के प्रकार का विवरण इस इकाई में समाहित है। यह इस प्रकार है-

(1) समाचार वृत्तान्त - न्यूजरील

(2) समाचार कवरेज - न्यूज कवरेज

(3) डॉकूमेन्ट्री ड्रामा - वृत्तचित्र, नाटक

(4) डॉकूमेन्ट्री - वृत्तचित्र

(5) प्रचलित, वर्तमान समय का चालू मामलों पर कार्यक्रम जिसे करेन्ट एफेयर्स प्रोग्राम कहते है।

## 3.14 शब्दावली

| | |
|---|---|
| कैमरा स्पील | 24 फ्रेम प्रति सेकेण्ड |
| डॉकू ड्रामा | डॉकूमेन्ट्री ड्रामा |
| न्यूजरील | समाचार वृत्तान्त |
| डॉकूमेन्ट्री | वृत्तचित्र |
| 35 एम एम | कैमरा का गेज |
| 16 एम एम | कैमरा का गेज |
| मिक्सिंग | विभिन्न ट्रैकों का मिश्रण |
| लैब | फिल्म रॉ स्टॉक डेवलप करने की रसायनशाला |
| सिंक | संवाद और होंठ का ताल-मेल |
| ट्रैक | ध्वनि या चित्र की तारतम्यता |
| निगेटिव | फिल्म का कच्चामाल जिस पर चित्र अंकित होते हैं। |
| प्रिन्टिंग | फिल्म की कापी निकालना |

साउण्ड निगेटिव ध्वनि निगेटिव

फिल्म के गेज फिल्म के प्रकार

## 3.15 संदर्भ ग्रन्थ


- इलेक्ट्रानिक मीडिया और फिल्म प्रोडक्शन — राजकृष्ण मिश्र
- फण्डामेन्ट्ल्स ऑफ ब्राड कास्टिंग — शराफत यार खान
- इंडियन ब्रॉडकास्टिंग — एच आर लूथरा
- ई- जर्नलिज्म - डा. अर्जुन तिवारी


## 3.16 सम्बन्धित प्रश्न

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

1. फिल्म पत्रकारिता के प्रकार बताइये ।
2. दूरदर्शन रंगीन प्रसारण की तरफ कब झुका, वर्ष बताइये।
3. कैमरा स्पीड कितने प्रकार की होती है।
4. सिनेमाघरों में न्यूजरील या समाचार वृत्तान्त कौन दिखाता है।

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1) फिल्म पत्रकारिता के आयाम स्पष्ट कीजिये।

2) समाचार वृत्तान्त का विस्तार से वर्णन कीजिये।

3) डॉकू ड्रामा किसे कहते हैं, वह कैसे बनाया जाता है।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

क) फिल्म पत्रकारिता का स्थान इलेक्ट्रानिक मीडिया पत्रकारिता ने -

(1) नहीं लिया है (2) ले लिया है

(3) लेने वाला है (4) कभी नहीं ले सकता

ख) डॉकूमेन्ट्री ड्रामा -

(1) कोई चीज नहीं होता (2) बायोग्राफिक वृत्तान्त होता है

(3) फीचर फिल्म को कहते हैं (4) टेलीविजन के कार्यक्रम का नाम

ग) सिनेमाघरों में दिखाए जाने वाले समाचार वृत्तान्त -

(1) 16 एम एम गेज में बनते है। (2) 35 एम एम गेज में बनते हैं।

(3) 8 एम एम गेज में बनते हैं। (4) 70 एम एम गेज में बनते हैं।

घ) दूरदर्शन की सर्वप्रथम रंगीन फिल्म -

(1) 1983 में बनवायी गयी थी । (2) 1960 में बनायी गयी थी।

(3) 1980 में बनवायी गयी थी । (4) 1990 में बनी थी।

उत्तर - क) 2 ख) 2 ग) 2 घ) 1

# इकाई - 4 : डाकूमेन्ट्री

## इकाई की रूपरेखा-


4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 डॉकूमेन्ट्री का अस्तित्व

4.3 मूवी

4.4 डॉकूमेन्ट्री का स्वरूप

4.5 फिल्म विश्लेषण

4.6 डॉकूमेन्ट्री निर्माण की प्रक्रिया

4.7 बजट का मॉडल

4.8 प्रस्ताव का प्रारूप

4.9 सहमति अनुबन्ध

4.10 महत्वपूर्ण डॉकूमेन्ट्री

4.11 सारांश

4.12 शब्दावली

4.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.14 सम्बन्धित प्रश्न


## 4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे -

- वृत्तचित्र, डॉकूमेन्ट्री किसे कहते हैं।
- इसे बनाने में किन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये।
- वृत्तचित्र का निर्माण कैसे किया जाता है।
- डॉकूमेन्ट्री का प्रयोग कहाँ किया जाता है।
- डॉकूमेन्ट्री कहाँ दिखायी जाती है और
- इसे कौन बनाता है।

## 4.1 प्रस्तावना

इकाई के अन्दर वृत्तचित्र की परिकल्पना का आधारभूत विश्लेषण किया जाएगा। वृत्तचित्र एक ऐसी विधा है जिसमें तथ्यों को तोड़- मरोड़ कर नहीं रखा जाता। डॉकूमेन्ट्री ड्रामा की तरह इसमें

नाटकीय तत्वों का समावेश नहीं किया जा सकता, डॉकूमेन्ट्री शब्द, सबसे महत्वपूर्ण चीज है, डॉकूमेन्ट यानी दस्तावेज, अभिलेख।

इस प्रकार अभिलेख, दस्तावेज, आधार होता है डॉकूमेन्ट्री का । डॉकूमेन्ट्री तभी बन सकती है जब निम्नलिखित तत्वों का समायोजन किया जा सके -

(1) दस्तावेज, अभिलेख या दस्तावेज अभिलेखों की श्रंखला हो, जिसे आधार बनाकर वृत्तचित्रों का निर्माण किया जा सके।

(2) स्थान विशेष, ऐतिहासिक भग्नावशेष, निर्माणाधीन कोई विशेष प्रोजेक्ट।

(3) जाति, धर्म, समुदाय विशेष की परम्पराओं को आधार बनाकर वृत्तचित्र का निर्माण किया जा सकता है।

(4) कला के क्षेत्र में परम्पराओं या असाधारण रचनात्मक कार्य को वृत्तचित्र का आधार बनाया जा सकता है।

(5) चालू मामलों, समाचार की किसी विशेष युक्ति को आधार बनाकर डॉकूमेन्ट्री का निर्माण किया जा सकता है।

(6) किसी घटना, दुर्घटना या विशेष या असाधारण गतिविधि को आधार बनाकर वृत्तचित्र का निर्माण किया जा सकता है।

(7) किसी महान व्यक्तित्व, किसी पुरस्कृत व्यक्ति या संस्था पर भी डॉकूमेन्ट्री बनायी जा सकती है।

(8) नियम, कानून स्थिति पर वृत्तचित्र बन सकता है।

(9) किसी भी विषय पर जिसे डॉकूमेन्ट करने की आवश्यकता हो, वृत्तचित्र बनाया जा सकता है।

## 4.2 डाकूमेन्ट्री, वृत्तचित्र का अस्तित्व

मूवी हमें दो प्रकार के फार्म यानी आकार,क्रम, स्वरूप देती है। इससे पूर्व यह जानना अत्यावश्यक है कि स्वयं मूवी क्या है?

सामान्य रूप से चलचित्र को मूवी कहते हैं। सामान्य रूप से मूवी का जिक्र करते ही, हमारे सामने पर्दे पर किसी भी स्वरूप में, चलती-फिरती छायांकित लकीरों के बिन्दु घूमने लगते हैं। मूवी सिनेमा को कहते है। मूवी का आधार पर्दा है जिस पर प्रोजेक्टर के माध्यम से चलचित्र प्रदर्शित किया जाता है।

इस तरह, मूवी का सर्वमान्य सिद्धान्त होता है - चलचित्र या प्रोजेक्टर के माध्यम से, रूपहले पर्दे पर अंकित छायाचित्रों का चलता -फिरता स्वरूप ।

लेकिन ऐसा नहीं है, मूवी में कुछ भी मूव नहीं करता यानी चलित नहीं होता। वह मशीन जिससे, फिल्म खींची जाती है, वह मशीन जिससे फिल्म प्रदर्शित की जाती है, फिल्म का रॉ स्टाक, विकसित फिल्म की पट्टियाँ, पट्टियों में अंकित फ्रेम कुछ भी मूव नहीं करता।

## 4.3 मूवी

आइन्सटीन की विचारधारा के अनुसार विश्व में सब कुछ स्थिर है या चलायमान है। कोई

भी वस्तु उतने समय तक स्थिर रहती है, जब तक उसके ऊपर बल का प्रयोग न किया जाय। उसी प्रकार चलित वस्तु उतनी दूर तक जाएगी, जितना बल लगाकर उसे चलित किया गया है। उसी प्रकार फिल्म भी पर्दे पर उतनी ही देर चलती -फिरती दिखाई देती है, जितनी देर तक प्रोजेक्टर फिल्म की पट्टियों को प्रकाश बिंदुओं में परिवर्धित करके, पर्दे पर, प्रकाशीय तरंगों के माध्यम की रचना करता है। बात इतनी साधारण नहीं है इसे हम दूसरे तरह से समझते हैं-

''इसे मूवी कहते हैं। लेकिन इसमें कुछ भी मूव नहीं करता।''

**तब-** 24 फ्रेम प्रति सेकेण्ड की रफ्तार से कैमरा चित्र को रॉ स्टाक पर या केन्द्रीय फिल्म पर अंकित करता है। उसी प्रकार 24 या 25 फ्रेम प्रति सेकेण्ड की गति से प्रोजेक्टर फिल्म को, चित्रों को, रूपहले पर्दे पर प्रदर्शित करता है।

**परिणाम** - हमें लगता है चित्र मूव कर रहे हैं या चलित है या चलते -फिरते दृष्टिगत होते हैं।

**भ्रम** - फिल्म को मूवी समझना हमारी मजबूरी है। यह सिद्धान्त इस व्यवस्था पर आधारित है, 24 फ्रेम प्रति सेकण्ड की गति से गुजरने वाले चित्र भ्रम पैदा करते हैं ,वह चलित हैं।

**लेकिन ऐसा नहीं है -** साधारण रूप से अगर आप, अपनी पलकों को एक सेकेण्ड में 24 बार झपकाएं तब आपको स्वयं वह वस्तु या वस्तुएं या व्यक्ति या अनेक व्यक्ति चलित होते दिखाई देंगे।

## 4.4 मूवी ( का फार्म ) : डाकूमेन्ट्री का स्वरूप

मूवी के फार्म की जब हम चर्चा करते हैं तब हमें ज्ञात होता है, एक ओर वास्तविकता पर आधारित डॉकूमेन्ट करने की प्रक्रिया है और दूसरी ओर, परिकल्पना पर आधारित, भावनात्मक भाववाचक, सैद्धान्तिक आदर्श है। दोनों स्वरूप अलग- अलग हैं। इनका तालमेल नहीं हो सकता। एक है वास्तविकतापरक और दूसरा है कल्पनापरक । फिल्म तकनीकी दोनों प्रकार के स्वरूप को महत्व देता है।

तराजू के एक तरफ, वास्तविकतापरक, दस्तावेजी स्वरूप है तो दूसरी तरफ सौन्दर्यशास्त्र परक पूर्णरूप से नियंत्रित दृष्टि कोरम है।

(1) वृत्तचित्र में, वास्तविकतापरक तथ्यों का अभिलेखीकरण सत्य और सत्य के बिना कुछ नहीं व्यवस्था पर आधारित होता है।

(2) वास्तविकतापरक होने के कारण इसका अभिलेखीकरण बिना किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के किया जाता है।

(3) फिल्म इन दो विपरीत स्थितियों, ध्रुवों तक विस्तृत होती है। फोटोग्राफिक विवरण पट्टिका फिल्म एक समझौते का प्रयास होता है लेकिन उसमें सावधानी बरतनी होगी।

(4) कैमरा वास्तविकता में या परिकल्पना पर आधारित तथ्यों में अन्तर नहीं करता ।

(5) दोनों प्रकार की स्थितियों में धूमिल दृष्टिकोण जहाँ एक तरफ वास्तविकतापरक सीमाएं होती हैं वहीं दूसरी तरफ कतिपय कथावस्तु को स्टेज में प्रदर्शित किया जाता है।

(6) यह तो सिनेमा को बहुआयामी व्यक्तित्व प्रदान करता है।

(7) यह सभी कला के क्षेत्रों की गतिविधि का निरूपण कर सकता है।

(8) सबसे अधिक, सीधी-साधी, विवरण की आधारभूत प्रक्रिया दो बातों पर आधारित होती है-

(क) स्पष्टता - क्लैरिटी

(ख) विश्वसनीयता- क्रेडिबिलिटी

(9) दर्शक को मालूम होना चाहिये क्या हो रहा है।

(10) लेकिन उसे जो कुछ हो रहा है उस पर विश्वास होना चाहिये।

(11) यह रचनात्मक तारतम्यता से दृश्यों के प्रस्तुत विवरण से प्राप्त किया जा सकता है।

(12) 1911 में विलियम डिमिले जो स्वयंसिद्ध फिल्म निर्माता थे कहा था -

''उछलती -कूदती हुई सूक्ष्म परक जिसे कोई भी, किसी तार्किक परिमाण के रूप में नहीं देख सकता था, उसे किस प्रकार किसी वैज्ञानिक कलात्मक प्रक्रिया का हिस्सा माना जा सकता था।''

## 4.5 फिल्म विश्लेषण

डॉकूमेन्ट्री या वृत्तचित्र के निर्माण में निम्नलिखित पक्ष एवं तत्वों का ध्यान रखना चाहिये।

(1) वास्तविकता

(2) सत्य

(3) विषय को, वस्तु को या तथ्य को जैसा है, वैसा ही प्रस्तुत करना होगा।

(4) विषयवस्तु को तोड़-मोड़ कर प्रस्तुत करने की परम्परा डॉकूमेन्ट्री की वास्तविकता को समाप्त कर देगी ।

(5) डॉकूमेन्ट्री का एक थ्रेड (डोरा) होता है जो आरम्भ से अंत तक टूटना नहीं चाहिए। समस्त अनुपालक उसी के इर्द-गिर्द होना चाहिये।

(6) शॉट्स का कम्पोजीशन उचित और दृश्य के अनुरूप होना चाहिये।

(7) शॉट्स की व्यवस्था में विजुअल को कवितात्मक प्रकार से डालना चाहिये।

(8) लाँग शॉट, मिड शॉट, और क्लोज अप का प्रयोग तार्किक आधार पर किया जाना चाहिये।

(9) रात्रि और दिन के शॉट्स को किसी तारतम्यता में डालना चाहिये।

(10) जूम का प्रयोग इफेक्ट के रूप में कुछ, नया कहने के लिए, किया जाना चाहिये।

(11) धरोहर से छेड़-छाड़ नहीं।

(12) विषयवस्तु को, जहाँ जैसी हो, वैसा ही पेश करना चाहिये।

(13) वॉयस ओवर या कमेन्ट्री डालते समय कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(क) आवाज विषय के अनुरूप हो।

(ख) भावात्मक डिलेवरी होनी चाहिये।

(ग) आवाज का उतार-चढ़ाव विजुअल के अनुरूप होना चाहिये।

(घ) कलात्मकता से बचना चाहिये।

(14) सम्पादन के पक्ष पर विशेष ध्यान देना होगा ।

(क) शॉट, डॉकूमेन्ट्री, प्रलेख सम्बन्धी या दस्तावेजी आयाम से छेड़छाड़ न हो।

(ख) दस्तावेज, वस्तु या विचार, व्यक्ति अपने वास्तविक रूप में आनी चाहिये।

(ग) अधिक रोशनी विषय को नष्ट कर सकती है।

(घ) ध्वनि इफेक्ट, पिक्चर इफेक्ट में तालमेल होना चाहिये।

(15) संगीत किसी लहराती हुई लतिका की तरह किन्तु तारतम्यता मे होना चाहिये। संगीत के इफेक्ट का प्रयोग कम से कम करना चाहिये।

संगीत और वॉयस ओवर या कमेन्ट्री का पूर्ण तालमेल होना चाहिये।

अब एक डॉकूमेन्ट्री फिल्म की पटकथा पूरी निर्माण व्यवस्था के साथ दी जा रही है। समझने वाली बात यह है, दस्तावेजी चित्र कोई शौक के लिए नहीं बनाता । इसका निश्चित आदेश अनुबन्ध होने पर ही हाथ डालना चाहिये।

## 4.6 डाकूमेन्ट्री निर्माण की प्रक्रिया

किसी भी फिल्म की तरह डॉकूमेन्ट्री या दस्तावेजी फिल्म या प्रलेखकीय फिल्म आत्म-सुख या आत्म-संतोष के लिए नहीं बनायी जाती । वह तो पूर्ण रूप से व्यवसायिक गतिविधियाँ होती हैं। फिल्म की तरह डॉकूमेन्ट्री बनाने में अच्छा खासा धन व्यय होता है, समय लगता है इसलिए जब डॉकूमेन्ट्री निर्माण के विचार का जन्म होता है, तब सर्वप्रथम उस विचार की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं।

निर्माण की प्रक्रिया निम्नलिखित प्रकार की होती हैं-

(1) विचार का जन्म

(2) विषय

(3) अवधारणा

(4) शोध

(5) सिनाप्सिस

(6) पटकथा

(7) खरीदार की तलाश

(8) प्रस्ताव

(9) बजट

(10) प्रस्ताव की मंजूरी

(11) अनुबंध प्रक्रिया

(12) अग्रिम प्राप्ति

(13) यूनिट का गठन

(14) ब्रेक डाऊन आलेख

(15) लोकेशन, विषय चयन

## 4.7 बजट का मॉडल

बजट बनाते समय लागत और मूल्य के अनुपात का ध्यान रखना होता है।

**बजट**

| नम्बर | विवरण | राशि |
|---|---|---|
| | **प्री शूटिंग** | |
| 1. | शोध | |
| 2. | शोध के लिए यात्रा, बोर्डिंग, लॉजिंग यातायात के खर्च | |
| 3. | लेखन-आलेख | |
| 4. | पटकथा | |
| 5. | ब्रेकडाऊन स्क्रिप्ट या आलेख | |
| 6. | आदेश अनुबन्ध के खर्च | |
| 7. | अन्य खर्च | |
| | **शूटिंग** | |
| 8. | उपकरण | |
| 9. | कैमरामैन- सहायक | |
| 10. | रिकार्डिस्ट सहायक | |
| 11. | कला निर्देशक - सहायक | |
| 12. | निर्माण प्रबन्धक - सहायक | |
| 13. | यातायात, बोर्डिंग, लॉजिंग | |
| 14. | शूटिंग की अनुमति पर होने वाला खर्च | |
| 15. | लोकेशन पर होने वाला खर्च | |

| | |
|---|---|
| 16. | शूटिंग के सामान्य खर्च चाय,पानी, नाश्ता |
| 17. | कैमरा, ब्लेक पेपर, जिलेटिन फिल्टर चाक |
| 18. | स्पॉट ब्वॉयज |
| 19. | ट्रेक,ट्राली, डेन आने -जाने का खर्च तथा किराया |
| 20. | अन्य खर्च |
| | **पोस्ट शूटिंग** |
| 21. | सार्टिंग |
| 22. | लागिंग |
| 23. | प्रिव्यू का खर्च |
| 24. | ग्राफिक्स |
| 25. | सम्पादक, सहायक |
| 26. | संगीत निर्देशक |
| 27. | पार्श्व संगीत का अंकन - |
| | स्टूडियो, रिकार्डिंग, कम्पोजर, ऐरेन्जर, |
| | साजिन्दे, संगीत निर्देशक, सहायक |
| 28. | सम्पादन उपकरण |
| 29. | सम्पादन का नियमित खर्च |
| 30. | मिक्सिंग |
| 31. | री रिकार्डिंग |
| 32. | रिलीज प्रिन्ट |
| 33. | प्रचार-प्रसार |
| 34. | अनुबंध के अनुरूप सामान देना |
| 35. | भुगतान का बिल |

## 4.8 प्रस्ताव का प्रारूप

डॉकूमेन्ट्री या दस्तावेजी फिल्म मुख्य रूप से निम्न संगठन द्वारा बनवायी जाती है -

(1) फिल्म प्रभाग

(2) दूरदर्शन

(3) राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा

फिल्म प्रभाग डॉकूमेन्ट्री का निर्माण खुद करता है और स्वतंत्र निर्माताओं से करवाता है। उसी प्रकार दूरदर्शन दस्तावेजी फिल्म अपने स्टाफ में माध्यम से बनाता है और स्वतंत्र निर्माताओं

को बनाने के लिए धन मुहय्या कराता है।

फिल्म कहीं के लिए बनानी हो, किसी के लिए बनानी हो, प्रस्ताव देना पड़ता है। प्रस्ताव के अनुमोदन पर अनुबन्ध होता है, भुगतान की प्रक्रिया तय की जाती है या तयशुदा शर्तों पर काम किया जाता है।

प्रस्ताव के साथ संलग्न किए जाने वाले आवश्यक दस्तावेज इस प्रकार हैं -

(1) कम्पनी का तजुर्बा

(2) प्रस्ताव की रूपरेखा

(3) पटकथा

(4) फिल्म या वीडियो का गेज

(5) तकनीकी युनिट के सदस्य सहमति पत्र के साथ

(6) अवधि

(7) फार्मेट

(8) ट्रीटमेन्ट

(9) निर्देशक का कैरियर ग्राफ

## 4.9 सहमति अनुबन्ध

प्रस्ताव प्राप्त होने के पश्चात क्रय करने वाली एजेन्सी उसका मूल्यांकन करती है। विभिन्न मानदण्डों के आधार पर प्रस्ताव की जांच करने के पश्चात कुछ इस प्रकार की प्रक्रिया अख्तियार की जाती है -

(1) अधिकारियों द्वारा आधारभूत नीति के आधार पर प्रस्ताव का मूल्यांकन ।

(2) प्रथम समिति जिसे स्क्रिप्ट कमेटी कहते हैं पटकथा, आलेख पर विचार करती है।

(3) विषय की उपादेयता पर विचार किया जाता है। तत्पश्चात

(4) केद्रीय क्रय समिति जिसे कास्टिंग कमेटी भी कहते हैं प्रस्ताव पर आद्योपान्त विचार करती है।

(5) फिल्म की लागत का मूल्यांकन किया जाता है।

(6) फिल्म की लागत तय की जाती है।

(7) प्रस्ताव के अनुमोदन का पत्र भेजा जाता है।

(8) निर्माता से अनुबन्ध करने के लिए कहा जाता है।

(9) निर्माता, नियत स्टाम्प पेपर पर अनुबन्ध बनाकर, हस्ताक्षर करके प्रेषित करता है और तब नियत अधिकारी उस पर हस्ताक्षर करने के बाद अनुमोदन की मुहर लगाता है।

## 4.10 महत्वपूर्ण डॉकूमेन्ट्री

सूचना विभाग द्वारा निर्मित 16 एम एम विभागीय वृत्तचित्रों की सूची (वर्तमान में फिल्म लाइब्रेरी में उपलब्ध)

1. हरित क्रान्ति = 2 कापी
2. अंधेरे से उजाले में = 3 कापी
3. हरियाली के रास्ते
4. उपचारिका
5. जय शक्ति
6. अतीत और वर्तमान का संगम = 3 कापी
7. क्षितिज के इस पार = 5 कापी
8. आहार और आरोग्य
9. अभी समय है
10. नया मोड़
11. उ.प्र. में पुल निर्माण = 2 कापी
12. देश के लिए
13. पारस पत्थर
14. ऊँची उठती जीवन रेखा = 2 कापी
15. हमारे सीमान्त वासी
16. हेल्थ फॉर आल
17. सरल विश्वास = 2 कापी
18. हिमालय के आँगन में = 3 कापी
19. कला से कंचन = 2 कापी
20. औली = 2 कापी
21. फिल्म से चूड़ियाँ
22. एक वनस्थली
23. छूत के रोग और उनसे बचाव = 4 कापी
24. एक दिन की बात = 3 कापी
25. मिर्जापुर की देन

26. बिजलीघरों से घरों तक
27. उत्तर प्रदेश प्रगति की ओर
28. लखनऊ में बाढ़
29. फ्लड इन यू.पी.
30. बाढ़ग्रस्त यू.पी.
31. सैलाब
32. बाढ़ सुरक्षा
33. देवा मेला = 2 कापी
34. जब सवेरा हुआ
35. एक रूप दो जीवन
36. सजग उत्तराखण्ड
37. विकास की चमक हर आँख में
38. विरासत
39. सच्चे स्मारक = 3 कापी
40. सूखे का सामना = 2 कापी
41. तुम अकेले क्यूँ = 2 कापी
42 नैन हमारे
43. युगान्तर = 3 कापी
44. रूपकुण्ड
45. हिन्द का जवान
46. प्रेरणा
47. ताज की नगरी में = 2 कापी
48. कुम्भ मेला = 2 कापी
49. ग्राम सेविका
50. जल और ज्योति = 3 कापी
51. वीर सपूत
52. बिजली करे अंधेरा
53. अमर उजाला
54. उड़ान

55. अपनी धरती अपना गाँव = 2 कापी
56. सपने हुये साकार
57. मुसीबत
58. हमारे जवान
59. बुन्देलखण्ड = 2 कापी
60. संचय से सुरक्षा
61. उ.प्र. के किसान = 2 कापी
62. मूल प्रश्न
63. प्रगति के पथ पर
64. महात्मा गाँधी के अनोखे वचन
65. बूँद बनी चिंगारी = 2 कापी
66. सूखे का सामना
67. दुर्गा पूजा
68. अभिनन्दन = 2 कापी
69. जागरण पर्व
70. कल के सैनिक
71. बन्धन मुक्त कैदी
72. श्रमदान
73. नेवर
74. जहाँ चाह वहाँ राह
75. ग्रामीण विद्युतीकरण
76. जहाँ राम रमे थे = 2 कापी
77. अपराजित योद्धा प्रेमचन्द्र = 2 कापी
78. चिकनकारी = 2 कापी
79. उपहार = 9 कापी
80. गंगोत्री यमुनोश्री = 2 कापी
81. गाँधी जी और उ. प्र. = 4 कापी
82. जौनसार बाबर
83. डा. भीम राव अम्बेडकर = 3 कापी
84. फूलों की घाटी

85. अधिकारों के रक्षक

86. उत्तराखण्ड

87. त्रिवेणी

88. महात्मा गाँधी

89. पावन प्रदेश

90. विसर्जन

91. क्रिकेट खेल

## 4.11 सारांश

इस इकाई में प्रलेख या दस्तावेजी फिल्म के विषय में चर्चा की गई। इस संबंध में निम्नलिखित मुद्दों को रेखांकित किया गया।

(1) डॉकूमेन्ट्री फिल्म का अस्तित्व

(2) डॉकूमेन्ट्री का स्वरूप

(3) मूवी क्या है

(4) डॉकूमेन्ट्री फिल्म के तत्वों का विश्लेषण

(5) डॉकूमेन्ट्री निर्माण की प्रक्रिया

(6) बजट का माडल

(7) प्रस्ताव का प्रारूप

(8) सहमति

(9) पटकथा

डॉकूमेन्ट्री फिल्म यानी दस्तावेजी फिल्म आज भी फिल्म निर्माताओं का सपना है । कुछ निर्माता, सिर्फ डॉकूमेन्ट्री बनाते हैं।

भारतीय परिपेक्ष्य में, 35 एम एम गेज में, सुखदेव का नाम सबसे ऊपर आता है। सुखदेव ने दर्जनों डाकूमेन्ट्री का निर्माण किया, बड़ा नाम कमाया, पुरस्कार भी मिले ।

आज पहले के मुकाबले, डॉकूमेन्ट्री का निर्माण कम हो गया है। धारावाहिक प्रदर्शन के कारण डॉकूमेन्ट्री दिखाने का समय चैनल नहीं निकाल पाते हैं।

फिल्म प्रभाग आज भी नियमित रूप से डॉकूमेन्ट्री का निर्माण 35 एम एम गेज में कर रहा है।

## 4.12 शब्दावली

- डाकूमेन्ट्री दस्तावेजी फिल्म

- मूवी इसे मूवी कहते हैं लेकिन इसमें कुछ भी मूव नहीं करता

| | | |
|---|---|---|
| - | फ्रेम | फिल्म पट्टी का एक अंश जिसमें चित्रांकित मैटर होता है |
| - | शॉट्स | फ्रेम शॉट्स से बनता है |
| - | वॉयस ओवर | कमेन्ट्री या पार्श्व स्वर |
| - | ध्वनि इफेक्ट | पार्श्व स्तर से अलग, कुछ खास करने के लिए ध्वनि अंकन का विशेष प्रयोग |
| - | प्री शूटिंग | शूटिंग से पूर्व की तैयारी |
| - | पोस्ट शूटिंग | शूटिंग के बाद सम्पादन, मिश्रण इत्यादि । |

## 4.13 संदर्भ ग्रन्थ


| | | |
|---|---|---|
| - | इलेक्ट्रानिक मीडिया और फिल्म प्रोडक्शन | राज कृष्ण मिश्र |
| - | फन्डामेन्टल्स ऑफ ब्रॉडकास्टिंग | शराफत यार खान |
| - | इंडियन ब्रॉडकास्टिंग | एच आर लूथरा |
| - | ई-जर्नलिज्म | डा. अर्जुन तिवारी |


## 4.14 सम्बन्धित प्रश्न

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

1. डॉकूमेन्ट्री किसे कहते हैं?
2. मूवी का अर्थ बताइये ।
3. डॉकूमेन्ट्री का बजट क्यों बनता है?
4. डॉकूमेन्ट्री कहाँ दिखाई जाती है?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

(1) डॉकूमेन्ट्री के तत्वों का विस्तार से वर्णन कीजिये।

(2) डॉकूमेन्ट्री के निर्माण की प्रक्रिया बताइये।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

क) फिल्म प्रभाग डॉकूमेन्ट्री का प्रदर्शन करता है -

(1) अपने ऑडिटोरियम में (2) सिनेमा घरों में

(3) टेलीविजन पर (4) विशेष आयोजन पर

ख) फ्रेम बनता है -

(1) चित्रांकन से (2) अलग से पेन्ट करके लगाया जाता है

(3) किसी स्रोत से मांगा जाता है। (4) स्टिल चित्र से

ग) डाकूमेन्ट्री में -

(1) नाटक होता है (2) संगीत होता है

(3) विषयगत चित्रण होता है (4) खेलकूद होता है

घ) कैमरा -

(1) वास्तविकता और परिकल्पना में अन्तर नहीं करता

(2) वस्तविकता और परिकल्पना में अन्तर करता है

(3) झूठ नहीं बोलता

(4) सबकुछ खुद कर लेता है।

उत्तर - क) 2 ख) 1 ग) 3 घ) 2

# इकाई - 5 : करेंट अफेयर्स कार्यक्रम

## इकाई की रूपरेखा-


5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 चर्चित मामले

5.3 कार्यक्रम की उपादेयता

5.4 कार्यक्रम निर्माण प्रक्रिया

5.5 यूनिट का गठन

5.6 शूटिंग

5.7 शूटिंग के बाद

5.8 चर्चित कार्यक्रम

5.9 उपभोक्ताओं की मनोवृत्ति में परिवर्तन - पटकथा

5.10 प्रश्नावली

5.11 वक्तव्य आलेख

5.12 सारांश

5.13 शब्दावली

5.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.15 सम्बन्धित प्रश्न


## 5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे -

- प्रचलित, वर्तमान, चालू (करेन्ट) मामलों (अफेयर्स) पर कार्यक्रम कैसे बनते हैं।
- यह कार्यक्रम क्यों बनाये जाते हैं।
- इन कार्यक्रमों को कौन बनाता है।
- यह कार्यक्रम कहाँ दिखाये जाते हैं।
- प्रचलित, वर्तमान मामलों पर कार्यक्रम बनाने का उद्देश्य क्या है।

## 5.1 प्रस्तावना

कार्यक्रम और वृत्तचित्र में अन्तर है। प्रचलित, वर्तमान मामलों पर कार्यक्रम, समाचार के अधिक नजदीक है।

वास्तव में, समाचार, खबर से ही जन्म होता है, प्रचलित या चर्चित मामलों का । जब कोई खबर बार-बार दिखाई जाती है, जिस पर हल्ला होता है और जो खबर सुर्खियों में आती है, उसका प्रस्तुतीकरण बहस के रूप में, चर्चा के रूप में किया जाता है।

वर्तमान में चर्चित मामले, दिन -रात बदलते रहते हैं। उनका महत्व आंका जाता है और जिस खबर से, सनसनी फैल जाए या जो आपको सोचने- समझने के लिए मजबूर कर दे, और जिस किसी विचारधारा का जन्म हो रहा हो उसे वर्तमान मामलों की श्रेणी में डाला जाता है।

एक प्रकार से यह मांग और पूर्ति पर आधारित होता है। प्रत्येक चैनल, यह चाहता है, उसका कार्यक्रम सभी देखें । यह तभी सम्भव है जब दर्शक, श्रोताओं की आवश्यकताओं को चैनल पूरा कर सके। समाचार का आधार है सार्वभौमिक,सदैव से कुनमुनाने वाली एक खास तरह की उत्सुकता जो हमें और कुछ और अधिकतम जानने-समझने के लिए प्रेरित करती है। सदैव ही उत्सुकता बनी रहती है, तभी तो हम समाचार सुनते हैं, अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसी दौर में, कहीं एक विभाजक रेखा है। यह रेखा खबर , साधारण खबर, विशेष खबर, और प्रचलित वर्तमान मामलों को अलग अलग खोखों में अलग- अलग कोष्ठों में उसे डाल देती है। कब कौन सी खबर, वर्तमान में चर्चित होगी यह कोई नहीं जानता ।

फिर भी हम जानते हैं, कार्यक्रम बनाने वाले जानते हैं, चर्चित खबर को कब, कैसे उठाया जाय, चर्चित मामलों के कार्यक्रम के लिए।

## 5.2 चर्चित मामले

चर्चित मामलों पर कार्यक्रम, दूसरी तरह बनाया जाता है। वृत्तचित्र, डॉकूमेन्ट्री यानी दस्तावेजी फिल्म और चर्चित मामलों पर कार्यक्रम अलग प्रकार से बनाया जाता है। दोनों के अन्तर इस प्रकार समेटे जा सकते हैं -

(1) दस्तावेजी फिल्म वास्तविकता पर आधारित होती है।

(2) फिल्म में विषय से कोई छेड़- छाड़ नहीं की जा सकती ।

(3) यह किसी भी विषय पर बनायी जा सकती है।

(4) दस्तावेजी फिल्म में वायस ओवर या पार्श्व कमेन्ट्री होती है।

**जबकि -**

(1) कार्यक्रम में ऐसा नहीं होता ।

(2) कार्यक्रम में पार्श्व स्वर, मात्र विशेष या अत्यावश्यक विशेष के दो रिकार्ड प्रस्तुतीकरण के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

(3) कार्यक्रम में चर्चा होती है। ढीले -ढाले चैनल, सिर्फ कुछ विशेषज्ञों को बुलाकर, स्टूडियो में सेट बनाकर बिठा देते हैं और कुछ ही समय में परिचय के बाद यह विशेषज्ञ चर्चा आरम्भ कर देते हैं।

(4) चर्चा में एक से अधिक व्यक्ति होते हैं। कोई पक्ष में बोलता है, कोई विरोध के स्वर उठाता है और कार्यक्रम का अंत होने तक कई विचार, कई प्रकार की सोच, चर्चित विषय पर निकल कर सामने आती है।

चर्चित विषयों पर कार्यक्रम कई प्रकार से बनते हैं -

**( 1 ) साधारण चर्चा** - इसमें 3, 4, 5 विशेषज्ञ, कुर्सियों पर बैठ जाते हैं और बातचीत आरम्भ कर देते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के कार्यक्रमों में और कुछ नहीं होता ।

**( 2 ) विषय प्रर्वतन -** इस पर आधारित कार्यक्रम में, एक एंकर होता है जो नाटक के सूत्रधार की तरह कार्यक्रम को उठाता है, विषय से परिचित कराता है और विशेषज्ञों को नियंत्रित करता है।

(3) वाह्य वातावरण में अनेकानेक जानकारी रखने वालों से वक्तव्य रिकार्ड किये जाते हैं। इसके अन्तरगत विशेषज्ञों के अलावा सामान्य, साधारण लोगों के वक्तव्य रिकार्ड किये जाते हैं।

इसके अन्तर्गत चर्चित विषय पर आउटडोर शूटिंग करके विषय से परिचय कराया जाता है। और विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न विचारधारा रखने वालों से एंकर प्रश्न पूछता है और उत्तर वक्तव्य के रूप में रिकार्ड किया जाता है। इसमें एंकर का ही समय विजन या दृष्टिगत रहना आवश्यक नही है।

## 5.3 कार्यक्रम की उपादेयता

दस्तावेजी फिल्म और कार्यक्रम में कोई तालमेल नहीं हो सकता। दोनों अलग- अलग विधाएं हैं। डॉकूमेन्ट्री का अर्थ है डॉकूमेन्टेशन, जबकि कार्यक्रम, किसी क्रमबद्ध तारतम्यता से बनता, प्रचलित होता है। वर्तमान में चर्चित कार्यक्रम की रूपरेखा इस प्रकार होती है-ः

(1) कार्यक्रम के निर्माण के लिए विषय का चयन किसी नियोजित प्रक्रिया के तहत किया जाता है।

(2) अखबार में खबर निकलती है या किसी चैनल पर खबर प्रसारित की जाती है उसके बाद उस विषय पर चर्चा होने लगती है। विषय रूचि का होने के कारण, चर्चा बढ़ती है पत्र, पत्रिकाओं में पाक्षिक, मासिक या साप्ताहिक पत्रिकाओं में विषय पर लिखा-पढ़ा जाने लगता है।

(3) कई बार कार्यक्रम का अधिष्ठाता स्वयं ऐसे विषयों की सूची तैयार करता है और कई बार स्वतंत्र फिल्म निर्माता प्रस्ताव डाल देता है।

(4) कार्यक्रम जिसे प्रोग्राम कहते हैं, प्रॉग करता है यानी प्रोग्रेस करता है । आरम्भ से विषय उठाकर उस पर चर्चा को विकसित किया जाता है और तब कहीं जाकर वह विचार बिन्दु निकल कर सामने आता है, जिसकी आवश्यकता होती है।

(5) वर्तमान में चर्चित विषयों पर ही यह कार्यक्रम बनाये जाते हैं।

(6) उदाहरण के लिए कल पंजाब था, आज कश्मीर है।

(7) कार्यक्रम की उपादेयता इस बात से सिद्ध हो जाती है कि चर्चित विषयों पर कार्यक्रम बनाने से टेलीविजन लोग देखते हैं।

(8) कार्यक्रम फार्मेट का आरम्भ दूरदर्शन ने किया था।

(9) दूरदर्शन ने 80 के दशक में, राष्ट्रीय चैनल पर फोकस नामक कार्यक्रम शुरू किया था। यद्यपि यह अंग्रेजी भाषा में था, हिन्दी में भी शीघ्र कार्यक्रम बनने लगे थे।

(10) कार्यक्रम यानी प्रचलित वर्तमान मामलों के सम्बन्धित कार्यक्रम स्वतंत्र निर्माता बनाते हैं। यह दूरदर्शन के स्टाफ में नहीं होते। इनको ठेका दिया जाता है। इनके साथ अनुबन्ध होता है और तब

कहीं जाकर कार्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ की जाती है।

(11) इस कार्यक्रम के माध्यम से विषय-विशेष पर विस्तार से चर्चा की जाती है। एक प्रकार से बाल की खाल निकाली जाती है।

(12) कार्यक्रम के द्वारा विषय-विशेष पर चर्चा होने से अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण और विवेचना की जाती है।

(13) कई बार चर्चा के दौरान, ग्राफिक, नक्शे, चित्र इत्यादि दर्शक को विषय से परिचित करने के लिए दिखाए जाते हैं।

## 5.4 कार्यक्रम निर्माण प्रक्रिया

चर्चित विषयों पर कार्यक्रम इस तरह बनाए जाते हैं -

(1) विषय का चयन

(2) शोध

(3) ऐंकर का चुनाव

(4) आलेख

(5) पटकथा

(6) चर्चा और वक्तव्य रिकार्ड करने के स्थान का चयन

(7) स्थान या तो स्टूडियो होता है या फिर कोई भी स्थान जो भीड़-भाड़, शोर-गुल से अलग रहे और जहाँ सुनियोजित ढंग से रिकार्डिंग की जा सके ।

(8) ऐंकर निर्माता-निर्देशक के साथ बैठकर कार्यक्रम के ट्रीटमेन्ट के विषय में चर्चा करते हैं।

(9) कई बार, सुविधा के लिये, जिन लोगों के वक्तव्य, अंकित करने होते हैं उनको किसी स्थान विशेष पर बुला लिया जाता है। एक ही स्थान पर अलग -अलग शाट की कम्पोजीशन रिकार्डिंग की जाती है।

(10) कई बार विषयवस्तु से परिचित कराने के लिए, सामग्री शूट कर ली जाती है जिसे ऐंकर पेश करता है।

## 5.5 यूनिट का गठन

कार्यक्रम निर्माण की यूनिट का गठन इस प्रकार किया जाता है -

**प्री-शूटिंग**

(1) शोध करने के लिए किसी जानकार को कार्य में लगाया जाता है।

(2) शोधकर्ता, विषय पर शोध करता है और विषय प्रवर्तन की प्रक्रिया स्वयं तय करता है।

(3) कार्यक्रम में एक समय पर, एक वक्तव्य अंकित किया जाता है, यानी एक वक्तव्य समाप्त होने का बाद ही दूसरा वक्तव्य रिकार्ड किया जाता है।

(4) कार्यक्रम में विशेषज्ञ का होना आवश्यक नहीं होता, कोई भी, कभी भी, कुछ भी कह सकता है। यदि उस बात में दम हो।

(5) आलेख शोधकर्ता या लेखक लिखता है।

(6) आलेख में विजुअल का समावेश किया जाता है।

(7) पटकथा की रूपरेखा, ऐंकर परसन या ऐंकर करता है। कौन बात पहले कही जाय और कौन बाद में, यह ऐंकर के ऊपर छोड़ दिया जाता है।

## 5.6 शूटिंग

पटकथा तैयार हो जाने के पश्चात आदेश देने वाली एजेन्सी के पास अनुमोदन के लिए भेजा जाता है। वैसे सामान्य रूप से, प्रचलित वर्तमान चर्चित मामले पर कार्यक्रम की पटकथा शूटिंग के बाद बनती है। फिर भीं ऐंकर परसन पटकथा की रूपरेखा बनाता है।

यह सदैव निर्माता के हक में जाता है, यदि वह पटकथा की रूपरेखा अनुबन्ध करने वाले अधिकारी को दिखा लेता है या उससे अनुमोदित करवा लेता है।

**शूटिंग -** चर्चित मामलों की शूटिंग उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार किसी भी फिल्म की शूटिंग होती है फिर भी हम उसे इस प्रकार अंकित कर सकते हैं -

(1) आदेश और अनुबन्ध में लिखी हुई शर्तों को ठीक प्रकार से देख लेना चाहिये।

(2) सामान्य रूप से 3/4 महीने का समय फिल्म निर्माण के लिए दिया जाता है।

(3) ऐंकर परसन, चर्चित मामलों के कार्यक्रम में, सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है। इसलिए, उसका पहनावा, उसकी चाल-ढाल, उठना-बैठना उचित अनुपात में होना चाहिये।

अत्यधिक कलात्मकता से ऐंकर को बचना चाहिये।

(3) निर्देशिका और ऐंकर परसन मिलकर उन व्यक्तियों की सूची बनाते हैं जिनके वक्तव्य अंकित किये जाने हैं।

(4) कैमरा का इन्डेन्ट भेजना - सदैव, अग्रिम देना उचित होता है । अग्रिम देने से शूटिंग की तिथि पर कैमरा की उपलब्धता सुनिश्चित करायी जा सकती है। अन्यथा बेहतर या लम्बी बुकिंग आने पर, कैमरा मिलन संशयपूर्ण हो जाता है।

(5) कैमरामैन सहायक - से विधियाँ ब्लॉक करा लेनी चाहिये। ऐसा नहीं करने से इस बात की पूरी सम्भावना होती है कि कैमरामैन उपलब्ध नहीं होगा।

(6) चर्चित मामलों के कार्यक्रम में इस बात का ख्याल रक्खा जाना चाहिये कि शूटिंग एक कैमरा से की जाय। कैमरा बदलने से शॉट में बदलाव दिखाई देता है।

(7) जिन व्यक्तियों के वक्तव्य अंकित किए जाने हैं उनसे तिथि समय का पूर्वानुमान ले लेना चाहिये। अन्यथा सब कुछ करने के बाद शूटिंग अधूरी रह जाएगी।

(8) शूटिंग में लाइट परिस्थितियों का ध्यान रखना होगा। अलग-अलग प्रकाशीय स्थिति में परिणाम सुखद नहीं होंगे।

(9) शूटिंग - बाह्य शूटिंग के लिए दोपहर के समय से बचना चाहिये। एक समान प्रकाश प्रातः तथा दोपहर के बाद होता है। शूटिंग ऐसे स्थान पर रखनी चाहिये जहाँ कम से कम ध्वनि को प्रभावित करने वाली आवाज हों जैसे ट्रैफिक की आवाजें, गाड़ियों का शोरगुल चीखना-चिल्लाना ।

(10) शूटिंग के समय एक सहायक को, लगातार प्रत्येक शॉट का विवरण लिखते रहना चाहिये। इस विवरण में निम्नलिखित मुद्दों को अवश्य रेखांकित करना चाहिये।

(क) शूटिंग का स्थान

(ख) शूटिंग का समय

(ग) रॉ स्टाक कौन सा

(घ) शाट का प्रकार यानी

- लांग शाट
- मिड शाट
- क्लोज अप
- जूम

प्रत्येक शाट की अवधि मीटर रीडिंग के साथ अंकित की जानी चाहिये। उपरोक्त विवरण डोप शीट के फार्म में लिखा जाता है। डोपशीट टेप समाप्त होने पर बदल देनी चाहिये। लिखी हुई डोप शीट उसी बक्से में रखनी चाहिये। जिससे, वह सम्बन्धित हो।

प्रत्येक शॉट का मीटर नम्बर, टेप नम्बर, डोप शीट पर अंकित किया जाना चाहिये।

शूटिंग के समय एक ही प्रकार के टेप का प्रयोग किया जाना चाहिये, अन्यथा परिणाम अच्छा नहीं होगा। अलग-अलग प्रकार के वीडियो टेप प्रयोग करने से चित्र की गुणवत्ता पर असर पड़ता है।

टेप को अंत तक प्रयोग में नहीं लाना चाहिये कुछ न कुछ फुटेज छोड़ देनी चाहिये।

## 5.7 शूटिंग के बाद

(1) प्रत्येक वीडियो टेप पर नम्बर डालना और इस बात की पुष्टि करना कि उसमें डोपशीट है।

(2) विषयानुसार टेप को अलग-अलग किया जाना आवश्यक है।

(3) शूटिंग के बाद लॉगिंग एक अत्यावश्यक प्रक्रिया हैं इसमें निम्न सूचनाएं होती हैं।

- टेप नम्बर
- मीटर रीडिंग
- प्रत्येक शॉट का क्यू
- आरम्भ और अंत की रीडिंग, प्रत्येक शॉट के आधार पर

(4) सम्पादन के लिए कार्यक्रम तैयार है। सम्पादन में सबसे बड़ी समस्या होती है कार्यक्रम को

रूचिकर बनाने की। ऐंकर कार्यक्रम का विषय प्रर्वतन करता है। उसके बाद ऐंकर हट जाता है यानी विजन से हट जाता है।

एंकर परसन या व्यक्ति के दृष्टि से बाहर होते ही वक्तव्यों की श्रृंखला आरम्भ हो जाती है। यह वक्तव्य कुछ इस प्रकार लगाए जाते हैं जिससे विवाद गहराता हुआ लगे। एक पक्ष में बोलता है तो दूसरा स्वर विरोध का होना चाहिये। दूसरा वक्तव्य पहले वक्तव्य को अर्थहीन, गलत बताता है, बिना उसका संदर्भ दिये। ऐसा इसलिए होता है प्रत्येक वक्तव्य देने वाले को, यह कहाँ मालूम होता है और वक्तव्य क्या है। कार्यक्रम तभी रूचिकर बन सकता है जब, बात से बात उठे। समर्थन के स्तर से विरोध और विरोध के स्तर से समर्थन की ओर जाने से कार्यक्रम रूचिकर बन सकता है। सम्पादन की प्रक्रिया पूर्ण होने पर इसके अनुबंधित अधिकारी को प्रेषित किया जाता है।

## 5.8 चर्चित कार्यक्रम

कार्यक्रम प्रस्ताव के अनुमोदन के पश्चात एवं अनुबंध क पश्चात, निर्माण प्रक्रिया निम्न प्रकार होती है -

(1) वक्तव्य अंकित कराने वालों की सूची बनायी जाती है।

(2) बिना वक्तव्य के, शॉट्स की आवश्यकताओं को सूचीबद्ध किया जाता है।

(3) इसलिए कई बार वक्तव्य अंकित करने के पश्चात ही पता लगता है किन और अतिरिक्त शॉट्स की आवश्यकता हो सकती है।

(4) वक्तव्य अगर 1 मिनट से अधिक का है और उसमें विषय के अनुरूप किसी महत्वपूर्ण शॉट्स लगाने की जरूरत है तब कार्यक्रम को रूचिकर बनाने के लिए ऐसे शॉट्स लगाए जाते हैं।

(5) एंकर आलेख के आधार पर प्रश्न सूची बनाता है । प्रश्न सूची में दिए गये प्रश्नों के अतिरिक्त भी प्रश्न पूछे जा सकते है। ऐसी एक सूची, आलेख के साथ, संलग्न की जा रही है।

(6) वक्तव्यों का विवरण भी इसी इकाई में आलेख के साथ संलग्न किया जा रहा है।

(7) वक्तव्य या साक्षात्कार अंकित करने के बाद उनकी विवरण पत्रिका बनाई जाती है, जिसमें कहाँ -कहाँ किन वक्तव्य को काटा जाएगा, इसका विचार बनता है।

(8) ऐंकर साक्षात्कार, वक्तव्य, विजुअल का प्रयोग कार्यक्रम को गतिमय बनाने में काम आता है।

(9) सहमति के स्वर एक स्थान पर, विरोध के स्वर दूसरे स्थान पर एकत्रित किए जा सकते हैं। अगर कोई तीसरा स्वर संभावित और विरोध से अलग हटकर विचार बनाता है तो उसका भी सामन्जस्य करना पड़ता है।

(10) विजुअल उचित स्थान पर लगाये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप विजुअल इस प्रकार प्रयोग में लाए जाते हैं।

(क) ऐंकर के विषय प्रवर्तन में,

(ख) वक्तव्य को बीच में काटकर विजुअल लगाये जाते हैं।

(ग) यानी, आवाज चलती रहती है, वक्तव्य का दृश्य या वक्तव्य देने वालों का चेहरा विजन से बाहर चला जाता है और उतनी देर के लिए विजुअल चलते रहते हैं।

इस प्रकार कार्यक्रम में ऐंकर का दृश्य, ऐंकर की आवाज, वक्तव्य देने वालों का चेहरा, उनकी आवाज और विजुअल या दृष्टिगत शॉट्स को निश्चित प्रक्रिया के तहत, अदला-बदला जाता रहता है।

कार्यक्रम की सफलता का आधार ट्रीटमेन्ट होता है इस इकाई में ग्रामीण अंचल में उपभोक्ताओं की मनोवृत्ति में परिवर्तन विषय पर आलेख, प्रश्न सूची और वक्तव्य दिए जा रहे हैं।

## 5.9 भारतवर्ष के ग्रामीण अंचलों में उपभोक्ताओं की मनोवृत्ति में परिवर्तन

1. ऐसा माना जाता है एक पूरी की पूरी व्यवस्था जो सैकड़ों सालों से ग्रामीण क्षेत्रों और शहरी क्षेत्रों के बीच तालमेल बनाये हुए थी, आज टूटने लगी है। शहरी क्षेत्रों में परिवर्तन की प्रक्रिया भिन्न होती है , ग्रामीण क्षेत्रों में बदलाव का दौर बहुत धीरे-धीरे आता है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह बदलाव का दौर बहुत कुछ निर्भर होता है उन मानदंडों पर जो वहाँ पर रहने वाले लोगों की संस्कृति से जुड़े होते हैं। लेकिन इधर कुछ वर्षों से गाँव के निवासियों की मनोवृत्तियों में बड़ी तेजी से बदलाव आया है।

2. विभिन्न योजनाओं के माध्यम से लघु एवं मध्यम क्षेत्रों की औद्योगिक इकाइयों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। उधर उपभोक्ता वस्तुओं के बड़े निर्माताओं की संख्या तथा उत्पादन क्षमता में भी असीम विस्तार हुआ है। मांग और पूर्ति के आधार पर वस्तु विशेष की कीमत की प्रक्रिया का अनुपात अब पहले जैसा नहीं रह गया है। विभिन्न इकाइयाँ अपनी वस्तुओं को अधिक से अधिक मात्रा में बेचने की होड़ में लगी हुई हैं।

3. उपभोक्ता कहाँ है, कौन है और बिक्री कैसे बढ़ाई जाय, इसके अलग-अलग तरीके हैं, जिनका प्रयोग वे इकाइयां अपने-अपने उपलब्ध साधनों के अनुसार ही कर पाते हैं।

4. इस प्रकार से महानगर, मध्यम श्रेणी के आधुनिक शहर तथा कुछ बड़े कस्बे ही अधिकांश उपभोक्ताओं, वस्तु के निर्माताओं के आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। स्वभाविक रूप से इन जगहों पर मांग की वृद्धि उस अनुपात में नहीं हुई है जिस अनुपात में नयी औद्योगिक इकाइयाँ उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन क्षेत्र में आई हैं और जिस अनुपात में वर्तमान उद्योगपतियों ने अपनी -अपनी इकाइयों की क्षमता बढ़ाई है।

5. परिणामस्वरूप एक नई होड़, एक नई दौड़ इन प्रचार माध्यमों पर विज्ञापन के लिए लग गई जिनमें माध्यम से एक साथ अधिक से अधिक उपभोक्ताओं से सम्पर्क किया जा सके।

6. शहरी क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा बढ़ जाने से और माँग और पूर्ति का अनुपात बिगड़ जाने से बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों ने ग्रामीण क्षेत्रों की ओर ध्यान देना शुरू किया।

7. ऐसा नहीं था कि ग्रामीण क्षेत्रों में उपभोक्ता वस्तुओं की मांग पहले नहीं थी या लोगों के अन्दर उन वस्तुओं को क्रय करने की क्षमता या इच्छा नहीं थी। पहले भी लोग बाजार, हाट, मेले या नुमाइश में आने वाली वस्तुओं को उसी प्रकार खरीदते थे जैसे आज खरीदते हैं।

8. सम्भवतः परिवर्तन आया है, उस प्रक्रिया के कारण जिसके तहत वस्तुएँ और बाजार, नये प्रचार माध्यम तथा देश की पूरी व्यवस्था है। आमूल बदलाव के कारण ग्रामीण लोगों के बहुत करीब पहुँच गई हैं इतने करीब जो उनकी मनोवृत्ति को छू सकती है और वह खुद अपने इर्द -गिर्द जिनकी जरूरतें महसूस कर सकते हैं । इस प्रक्रिया में दूरदर्शन ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

9. 1988 में एक अनुमान के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत लोगों की संख्या 25 करोड़ के करीब आंकी गयी थी। इनमें से आधी संख्या यानि करीब बारह करोड़ पचास लाख छोटे काश्तकार और औसत दर्जे के काश्तकार हैं और 6 से 7 करोड़ मजदूर हैं बाकी बचे हुए 6-7 करोड़ लोग दूर-दूर के इलाकों में रोजगार के लिए जाते हैं। यह कोयले की तथा अन्य खानें, उद्योग धन्धे, पशुपालन, कृषि उत्पादन निर्गम के स्रोत तथा अपने -अपने गाँव के करीब बसे हुए अनेक छोटे-बड़े रोजगार धन्धों या व्यापार में काम आते हैं।

खेत में काम करने वाले मजदूरों और बड़े काश्तकारों के यहाँ काम करने वाले मजदूरों और खुद अपनी जीविका चलाने वाले छोटे काश्तकारों की अपनी एक अलग दुनियाँ है, अपना एक अलग वर्ग है। इनकी बचत का अनुपात तथा जीवन-यापन के मानदंड अलग प्रकार के हैं। साधन और उपलब्धि के बीच एक लम्बी दूरी रहने के कारण, इनकी अभिरूचि में परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी होती है, जबकि बड़े काश्तकारों, औसत दर्जे के काश्तकारों तथा गाँव से निकलकर उद्योगधन्धों में लगे हुए मजदूरों की मानसिकता कुछ दूसरे प्रकार की होती है।

10. किसी भी क्षेत्र में माँग और पूर्ति का अनुपात इस बात पर निर्भर होता है कि उस क्षेत्र के लोगों के उत्पादन में बाजार में बेचने वाले अतिरिक्त माल का मूल्य कितना है और इसी बात पर निर्भर होता है - पूँजी का विकास तथा उपभोक्ता वस्तुओं का उपयोग।

11. बड़े काश्तकार तो अपना सम्पूर्ण उत्पादन सीधे बाजार में ले जाकर बेच देते हैं या उसे कोल्ड स्टोरेज में रखकर मूल्य बढ़ने की राह देखते हैं लेकिन छोटे काश्तकार के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं होता क्योंकि उसे अपने कुल उत्पादन से दैनिक जीवन के लिए एक काफी बड़ा हिस्सा रोक लेना पड़ता है। यद्यपि कुछ भारतीय कम्पनियों ने भी इस नये बाजार की तरफ ध्यान दिया है।

12. उपभोक्ता वस्तुओं के निर्माताओं में मुख्य रूप से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ती हुई मांग का सबसे अधिक लाभ पहुँचा है। इसका मुख्य कारण यह है किसी भी नये बाजार तक पहुँचने में समय लगता है और उसके लिए अनेक प्रयास करने पड़ते हैं । शहरी उपभोक्ताओं से सम्पर्क स्थापित करने के अनेक सीधे और सस्ते साधन उपलब्ध हैं लेकिन एक विशाल भू-क्षेत्र में पले हुए ग्रामीण क्षेत्रों के उपभोक्ताओं से सम्पर्क करना आसान नहीं है । बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने असीम साधनों के माध्यम से करोड़ों रूपया विज्ञापन पर खर्च करती हैं और अपने उपभोक्ता बाजार को दिन -प्रतिदिन मजबूत बनाती हैं। सम्भवतः कीमत और गुणों के अनुपात की व्याख्या करने की आवश्यकता इस क्षेत्र के उपभोक्ताओं ने अभी तक महसूस नहीं की है।

13. स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतवर्ष के ग्रामीण अंचलों में परिवारों पर तथा संयुक्त परिवारों पर सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव देखा गया है।

14. प्रसार व संचार सुविधायें रेल या मार्ग यातायात का विस्तार व धन की उपलब्धि से उपभोक्ताओं के स्वभाव में असीम परिवर्तन हुआ है।

15. पूर्व बिहार के पिछड़े क्षेत्र की झोपड़ियों से लेकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश के सम्पन्न शक्कर

उत्पादन के क्षेत्र तक, पंजाब के गेहूँ उत्पादन के क्षेत्रों से लेकर केरल के चावल/धान उत्पादन क्षेत्र तक, सामान्य किसानों से बड़े काश्तकारों तक हर वर्ग, उपभोक्ता सामग्री खरीदने का इच्छुक रहता है।

16. आँकड़े इतिहास बतलाते हैं । 1988 में पैकेज उपभोक्ता वस्तओं की मांग पांच वर्षों के अन्तराल में 1500 करोड़ से अधिक हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त रंगीन टेलीविजन सेट के कुल उत्पादन की 20 प्रतिशत तथा कैसेट प्लेयर तथा मोपेड के उत्पादन की 48 प्रतिशत तक की खपत ग्रामीण क्षेत्रों में होने लगी ।

17. एक अनुमान के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में साबुन की बिक्री 1988 में 342 करोड़ तक पहुँच गई जबकि 1984 में यह केवल 156 करोड़ के आसपास थी। इसमें उच्च स्तर के साबुन जो विशेष रूप से शहरों में प्रयोग किये जाते हैं भी शामिल हैं। ऐसे साबुन की बिक्री भी 12.5 करोड़ से बढ़कर 42 करोड़ तक पहुँच गई ।

18. शैम्पू जिसका प्रयोग कुछ वर्षों पहले तक केवल उच्च मध्यम शहरी क्षेत्रों में सीमित था, की बिक्री ग्रामीण क्षेत्रों में 1984 के 90 लाख से बढ़कर 1988 तक 2.6 करोड़ हो चुकी थी।

19. उपभोक्ता वस्तुओं में साबुन के अतिरिक्त सबसे अधिक ध्यान ग्रामीण क्षेत्रों में जिन चीजों पर गया है, वह हैं प्रसाधन के सामान। 1984 में इनकी बिक्री केवल 22 करोड़ के लगभग थी जो 1988 में तीन गुना बढ़कर 66 करोड़ 50 लाख के करीब हो गई ।

20. सेफ्टीरेजर, टूथपेस्ट तथा शेविंग क्रीम के उपयोग में भी काफी बढ़त हुई है। सेफ्टीरेजर तथा टूथपेस्ट का उपयोग 1984 में केवल 18 करोड़ तथा 15.5 करोड़ रूपये के मूल्य का था। यह 1988 में बढ़कर 42 करोड़ रूपये के मूल्य के आसपास हो गया। इन आँकड़ों से इस बात का ज्ञान होता है कि ग्रामीण इलाकों में शेविंग क्रीम के उपयोग में बहुत अधिक वृद्धि नहीं हुई है।

21. भारतीय कृषकों की विचारधारा को केवल साबुन ने ही प्रभावित नहीं किया वरन् अन्य उपभोक्ता सामग्री जैसे - मंजन, टूथपेस्ट, रंगीन टी वी, स्कूटर,धुलाई की मशीनें, पंखे, रेफरीजरेटर, फ्रिज, सेनेटरी सामग्री व एअर कूलर की तरफ भी आकर्षित हुए हैं।

22. धीरे-धीरे परन्तु एकाएक नहीं एक नया बाजार, एक नई दुनिया भारतवर्ष के उद्योगपतियों के लिए खुल गई है।

23. उत्पादन कम्पनियाँ उपरोक्त नई मार्केट से धन प्राप्ति के लिए और उसकी उपभोक्ता वस्तुओं की माँग-पूर्ति करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों के लिए विशेष प्रभाग खोल रही है।

24. एक मशहूर / प्रतिष्ठित चाकलेट बनाने वाली कम्पनी ने इस प्रकार का चाकलेट बनाना शुरू किया जो देहात में गर्मी के कारण गल न सके। इस प्रकार एक स्कूटर बनाने वाली कम्पनी ने एक अधिक शक्तिशाली इंजन का स्कूटर बनाया जो कि देहात में रहने वाले किसानों के लिए अधिक उपयोगी साबित हो, जिसका प्रयोग वह ऊँचे -नीचे रास्तों पर अपने उत्पादित वस्तुओं को ले जाने हेतु कर सकें।

| **क्रम** | **विवरण कार्यक्रम हेतु** | **आवश्यक वाँछित तत्व** |
|---|---|---|
| 1. | खुशहाली, करमुक्त आय, अनुदान और राहत ने ग्रामीण क्षेत्रों को सम्पन्नता की ओर अग्रसर किया है | चार्टस, ग्राफ्स |

| | | |
|---|---|---|
| | एक अनुमान के अनुसार केवल उरर्वक खाद के ऊपर 4000 करोड़ राशि सालाना राहत में दी जाती हैं। | |
| 2. | भारत सरकार सदैव प्रयत्नशील रहती है कि कृषकों की उपज के मूल्यों में गिरावट आये और कृषि उत्पादन माँग या पूर्ति पर पूर्णतः निर्भर न रहे। सरकार ने इसकी खरीद का प्रबन्ध बड़े स्तर पर सरकारी या अर्द्धसरकारी एजेन्सियों द्वारा कर रक्खा है। | भारतीय खाद्य निगम । |
| 3. | मूल वस्तुयें जैसे- बीज, खाद, सिंचाई, कटाई, भण्डारण निगम, तथा बिक्री तक प्रत्येक स्तर पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषकों को राहत इस उद्देश्य से दी जाती है जिससे कृषकों को पैदावार का उचित लाभ मिलता रहे। | बीज, खाद, सिंचाई, पानी, कोल्ड स्टोरेज । |
| 4. | इसके अतिरिक्त समय-समय पर सरकार कृषि उत्पादन की कीमतें बढ़ाती रहती है। | समाचार पत्र की कटिंग । |
| 5. | वर्ष 1960 की तुलना में यह अनुमानित किया जाता है कि औसत ग्रामीण घरों की आमदनी-व्यय-बचत का अनुपात 30 प्रतिशत पहुँच गया है। | ग्राफ । |
| 6. | भारतवर्ष के अधिकांशतः गांव उपरोक्त उपभोक्ता संस्कृति से प्रभावित होते हैं। यह प्रभाव मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर होता है कि ग्रामीण अंचल की इकाई का उसके आस-पास बसे हुए कस्बे या शहर से क्या सम्बन्ध है। मोटे तौर पर तीन विभिन्न परिस्थितियाँ उपभोक्ताओं के मनोविज्ञान को प्रभावित करती हैं। | शहरी क्षेत्र के गाँव । |
| 7. | प्रथम- वह गाँव जिनके अधिकाँश निवासी दूर-दूर के शहरों में अपनी जीविकोपार्जन हेतु जाते हैं, परन्तु वह अपना परिवार गाँव में ही छोड़ जाते हैं। ऐसे परिवारों के रहन-सहन का स्तर उसी गाँव के दूसरे परिवारों से अलग प्रकार का हो जाता है। | दूर स्थित शहर एवं विशिष्ट रहन-सहन के परिवार वाला गाँव । |

पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोग सिंगापुर, थाईलैण्ड, मलेशिया, दुबई, बहरीन में रहते हैं।

8. एक बड़ी संख्या में देहात के लोग न सिर्फ महानगरों में बल्कि विदेश भी जाते हैं। उदाहरणस्वरूप- अफ्रीका और ब्रिटेन के अनेक शहरों में गुजरात के ग्रामीण अंचलों के लोग बसे हुए हैं। इस लोगों ने अपने मूल निवास क्षेत्र में आधुनिक प्रकार के मकान बनाये हैं और जमीन तथा उद्योग में पूँजी निवेश भी किया है। इसके अतिरिक्त ऐसे प्रवासी भारतीय शिक्षा संस्थाओं तथा ट्रस्ट को दान स्वरूप प्रचुर मात्रा में धन देते हैं। — भारतीय जो विदेश चले गये हैं अथवा विदेश से वापस लौटे हैं।

9. दूसरे प्रकार का प्रभाव उन गाँवों पर पड़ता है जो औद्योगिक शहरों के पास बसे हुए हैं। जब कोई बड़ा औद्योगिक शहर बसाया जाता है तो उसके आस-पास के तमाम गाँव उसमें समा जाते है। इसके पश्चात उस औद्योगिक शहर के आस-पास बसे हुए ग्रामीण क्षेत्रों से तमाम लोग जीवन निर्वाह के लिए वहाँ आते हैं। इसके अतिरिक्त उस औद्योगिक शहर के बसने के कारण एक बड़े क्षेत्र में रहने वाले लोगों की मानसिकता में तथा आचार-विचार में अनेक परिवर्तन होते हैं। — भिलाई टाउनशिप या उसी तरह का अन्य टाउनशिप

10. यद्यपि सामान्य रूप से औद्योगिक शहरीकरण का प्रभाव ग्रामीण अंचलों में अवश्य पड़ता है लेकिन यह प्रभाव इस बात पर निर्भर करते हैं कि वह औद्योगिक इकाई किस प्रकार की है । उदाहरण स्वरूप चीनी उद्योग के शहर का प्रभाव, स्पात उद्योग के शहर के प्रभाव से भिन्न होगा। — औद्योगिक क्षेत्र

11. विशेष महानगरीय सभ्यता के विकास का प्रभाव वह तीसरा प्रभाव है जो उस विशेष महानगर के इर्द-गिर्द बसे हुए गाँव पर पड़ता है। किसी भी महानगर के विस्तार और प्रसार के दौर में उसके आस-पास बसे हुए ग्रामीण अंचलों

में अनेक परिवर्तन आते हैं। यह एक प्रकार से सुदूर बसे हुए गाँव और महानगर से सटे हुए ग्रामीण अंचलों के बीच एक सामान्य कड़ी का काम करते हैं। जहाँ एक तरफ महानगर से लगे हुए गाँव पूरी प्रकार से शहरी सभ्यता के आंचल में सिमट जाते हैं वहाँ दूसरी तरफ वहाँ के रहने वाले लोग सुदूर गांवों के बीच एक कड़ी बन जाते हैं। उदाहरणस्वरूप कोटला, मुबारकपुर, मेहरौली, डेरागाँव, हजरानी, खानपुर, चिराग दिल्ली और चोर गाँव। यह सब आज दिल्ली महानगर का एक हिस्सा बनकर रह गये हैं और एक खुला हुआ उपभोक्ता संसार इनके सामने है।

12. सम्पूर्ण भारत में योजनाबद्ध विकास के कारण अनेक छोटे-छोटे गाँवों के बीच ''ग्रामीण विकास केन्द्र बनाये गये हैं यह केन्द्र वह स्थान हैं जहाँ आधुनिक सुविधाएं, शिक्षा, स्वास्थ्य, संचार ऋण, पुलिस डाक और प्रसार सेवायें जैसे सड़क रेल, बिजली, पानी ग्रामीण उद्योगों के साथ पायी जाती हैं। यह वह स्थान है जहाँ से आधुनिक सभ्यता और संस्कृति की लहर ग्रामीण अंचलों को छूती है।

ग्राम्य विकास केन्द्र

13. शिक्षा सूचना व ज्ञान की किरणें इन्हीं ग्राम्य केन्द्रों के माध्यम से करीब के गाँवों व वहाँ के रहने वालों को प्रभावित करती है, जिससे वे लाभ उठाते हैं । यह केन्द्र स्थाई मेले की तरह हैं जहाँ दूर-दूर से आकर ग्रामीण अंचलों के लोग सुविधायें प्राप्त करते हैं।

सहायता प्रदान कराने वाले कार्यालय

14. ग्रामीण क्षेत्रों में प्रगति के वरदान की किरणें इन ग्राम्य विकास केन्द्रों द्वारा अपना प्रकाश फैला रही है। ऐसी जगहों पर टेलीविजन सेट्स, धुलाई की मशीनें, एअर कूलर, तक उपलब्ध हो जाता है।

15. दूर-दराज के इलाकों में, भले वह केरला के चंगानाचेरी शहर के पास मैरना गांव हो या विकसित पश्चिमी उत्तर प्रदेश का चीनी इलाका हो या तेजी से विकसित होता हुआ पूर्वी उत्तर प्रदेश या बिहार हो यह परिवर्तन की

प्रक्रिया करीब-करीब एक प्रकार की है ।

16. चाहे वह पान की दुकान हो या प्रारम्भिक पंसारी की दुकान हो और कई बार तो आटा चक्कियों तक में दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुयें मिल जाती हैं। पान की दुकान
पंसारी की दुकान

17. दूरदर्शन के माध्यम से उपभोक्ता वस्तुओं का प्रचार देश के हर कोने में इतने सुन्दर ढंग से होता है कि लोग इनको अपना रहे हैं।रोजमर्रा की आवश्यकता की वस्तुयें जैसे - नहाने का साबुन, कपड़ा धोने का साबुन मंजन आदि जिनका विज्ञापन सुन्दर मॉडलों के माध्यम से टेलीविजन पर किया जाता है, आज पुरानी नीम की दातून या उबटन की जगह ले रहे हैं।

18. भले ही नौ वर्ष पूर्व थारू जाति या कोल जाति या उत्तर प्रदेश के जंगलों में बसे गाँवों में, या बम्बई, अहमदाबाद राजपथ पर बसे आदिवासियों में जो कि खेती पर ही निर्भर रहते थे के लिए साबुन या चॉकलेट एक अनजान वस्तु थी लेकिन आज ऐसा नहीं है। यह लोग आज नामवर किस्म के साबुन तथा अन्य प्रसाधन का प्रयोग मुक्त रूप से कर रहे हैं।

19. शहर की मार्केटिंग और ग्रामीण क्षेत्रों की मार्केटिंग में बड़ा फर्क है पर अगर प्रचार करने का तरीका अच्छा है तो ग्रामीण अँचलों में भी उस उपभोक्ता वस्तु का प्रयोग होने लगेगा जो कभी नहीं हुआ।

20. कई अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने उत्पादन की बिक्री के लिए उसका प्रचार अधिकाधिक करती है और कभी-कभी इनामी योजना भी चलाती हैं ताकि उसका अधिक उपयोग हो सके।

21. एक सिलाई मशीन का उत्पादन करने वाली कम्पनी ने दूर-दूर के गाँव में इस प्रकार से सिलाई प्रशिक्षण केन्द्र खोल रखे हैं जिनके माध्यम से उसकी सिलाई मशीन की बिक्री में बढ़त हो सके। समभवतः इन केन्द्रों के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं को इस विशेष सिलाई मशीन के उपयोग की उसी प्रकार आदत डाली जाती है जिस प्रकार

चाय उत्पादन कम्पनी अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए गाँव में मेला इत्यादि के अवसरों पर स्थान-स्थान पर मुफ्त चाय पिलाती है टूथपेस्ट बनाने वाली कम्पनी या बल्ब का उत्पादन वाली संस्था अपने विक्रेताओं के स्वरव बनाकर उपभोक्ताओं के सामने पेश करती है।

22. विगत कई वर्षों से बिक्री के तरीकों में नये ढंग अपनाये जा रहे हैं पुराने जमाने में वस्तुओं के लिए डिस्ट्रीब्यूटर, डीलर, स्टॉकिस्ट की कड़ी हुआ करती थी लेकिन इधर कुछ वर्षों से टी वी के माध्यम से वस्तुओं का प्रचार किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त गाड़ी,जीप तथा तेज रफ्तार के वाहनों का अपनी वस्तुओं को दूर-दूर के स्थानों तक ले जाने में तथा अपने माल की बिक्री बढ़ाने हेतु इस्तेमाल करते हैं।

23. आजकल मुफ्त में उपभोक्ता वस्तुओं का बांटना और विभिन्न वस्तुओं का वीडियो फिल्म के द्वारा प्रचार करना एक आम बात है। — मुफ्त सैम्पुल, वीडियो फिल्म

24. इसका प्रभाव हम उन साइकिल सवार एजेन्टों के रूप में देखते हैं जो साइकिल द्वारा शहर से पिछड़े इलाकों में बीड़ी एवं विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं को पहुँचाकर करते हैं। — साइकिल सवार सेल्समैन

25. ग्रामीण उपभोक्ता सामग्री की गुणवत्ता की ओर विशेष ध्यान देता है। उदाहरणस्वरूप एक टार्च बनाने वाली कम्पनी ने जब स्टील की टार्च की जगह प्लास्टिक की टार्च निकाली तो शहरी क्षेत्र के उपभोक्ताओं ने तो उसे स्वीकार कर लिया, लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में प्लास्टिक की टार्च की बिक्री अधिक संख्या में न हो सकी। — प्लास्टिक टार्च और स्टील टार्च में तुलनात्मक अन्तर

26. कम्पनियाँ अपने उत्पादन वस्तुओं मे देहात क्षेत्र के लोगों की रूचि के अनुसार परिवर्तन/संशोधन ला रही हैं उदाहरण स्वरूप एक विशेष टेलीविजन सेट शहर के क्षेत्र में अपने रंग-रूप में अगर बिकता है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह ग्रामीण क्षेत्रों में भी बिकेगा। इस स्थिति का अध्ययन करने के पश्चात एक टेलिविजन निर्माता को ग्रामीण

अंचलों के लिए विशेष रंग रूप वाले टेलीविजन का निर्माण करना पड़ा ।

27. कुछ कम्पनियों ने टी वी सीरियल के आदर्श चरित्र पात्रों को अपनी उपभोक्ता वस्तुओं के प्रचार हेतु माध्यम बनाया है। उदाहरणस्वरूप - महाभारत के चरित्र ''अर्जुन'' रामायण के चरित्र ''राम'' के नामों का प्रयोग उपभोक्ताओं की बिक्री के लिए किया जाने लगा है।

28. उपभोक्ता वस्तु की विभिन्न कम्पनियाँ उन साधनों का आविष्कार कर रही हैं जिनके द्वारा उपभोक्ता की रूचि और आवश्यकता को प्रभावित किया जा सके।

29. एक साबुन बनाने वाली कम्पनी ने मालूम किया कि 100 ग्राम की टिकिया को लोग छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर बेचते हैं तो उसने 75 ग्राम की टिकिया बनानी शुरू कर दी।

## 5.10 प्रश्नावली

1. ग्रामीण क्षेत्रों में उपभोक्ता संस्कृति के विस्तार के विषय में आपके क्या विचार हैं?
2. रहन-सहन और दैनिक जीवन की वस्तुओं के उपयोग में, पिछले 30-40 वर्षों में क्या परिवर्तन आये हैं?
3. मनोरंजन के साधन पहले क्या था और अब क्या है?
4. वेशभूषा में परिवर्तन।
5. घर के अन्दर किस प्रकार का फर्नीचर उपयोग मे आता रहा है?
6. संयुक्त परिवार ग्रामीण जीवन का अभिन्न अंग हुआ करता था, उपभोक्ता संस्कृति के प्रसार से संयुक्त परिवार की इकाई पर क्या प्रभाव पड़ रहा है?
7. प्रसार एवं संचार की सुविधाओं तथा यातायात के विस्तार से ग्रामीण क्षेत्रों के उपभोक्ताओं की रूचि में क्या परिवर्तन हुए हैं ?
8. आज ग्रामीण क्षेत्र के उपभोक्ता आज उसी तरह उपभोक्ता वस्तुओं को खरीद रहे हैं जिस तरह से शहरों में लोग खरीदते हैं। क्या यह सच है या इसके कारण क्या हैं?
9. दूरदर्शन के विस्तार से टेलीविजन सेट की मांग बढ़ी है किस तरह के लोग, कितनी मात्रा में और किन कारणों से टेलीविजन खरीद रहे हैं ?
10. भारतीय कृषकों की विचारधारा को केवल साबुन ने नहीं प्रभावित किया है अन्य उपभोक्ता सामग्री जैसे मंजन, टूथपेस्ट, रंगीन टीवी, स्कूटर, धुलाई की मशीनें, एसी, रेफ्रीजरेटर सेनेटरी सामग्री तथा एअर कूलर ने भी अत्यधिक प्रभावित किया है।
11. एक अनुमान के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में आमदनी और बचत का अनुपात बढ़ा है, कई

जगह यह 30 प्रतिशत से अधिक है ऐसी अवस्था में इस बचत का उपयोग किस प्रकार किया जाता है?

12. ऐसे भी गाँव हैं जिनके अधिकांश निवासी शहरों में तथा महानगरों में रोजी की तलाश में जाते हैं परन्तु वह अपना परिवार गांवों में ही छोड़ जाते हैं। ऐसा कहा जाता है, यह देहात की परिवार व्यवस्था को प्रभावित करता है।

13. ऐसे भी गाँव हैं जहाँ से लोग विदेश तथा महानगरों में जाते हैं । उदाहरण के रूप में गुजरात से तमाम देहात के रहने वाले लोग अफ्रीका, इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में रह रहे हैं और पूर्वान्चल के - उत्तर प्रदेश के निवासी सिंगापुर, थाईलैण्ड, मलेशिया, दुबई, कुवैत, या बहरीन में रहते हैं। इनकी आय के स्रोत अधिक होते हैं इसलिए वह लोग अपने मूल निवास स्थान में बेहतर मकान बनाते हैं आधुनिक सामानों का उपयोग करते हैं तथा शिक्षा संस्थाओं को दान भी देते है।

14. उपरोक्त परिवारों में रहन-सहन, खान-पान व कृषि उत्पादन अन्य ग्रामीण अंचलों से पूर्णतः भिन्न होता है।

15. सम्पूर्ण देश में अनेक योजनाओं के माध्यम से उत्पादन के साधनों का विकेन्द्रीकरण हुआ है। ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जहाँ विकास केन्द्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, दवा, पुलिस, डाक और संचार की सुविधायें उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त उचित दर पर कर्ज दिलाने की व्यवस्था है। इन सब चीजों से ग्रामीण क्षेत्र की व्यवस्था में उपभोग के वस्तुओं के विस्तार में क्या परिवर्तन देखे गये हैं?

16. देहाती क्षेत्रों मे जो प्रगति की किरणें फैल रही हैं उससे टी वी मशीनें, एअर कूलर, फ्रिज की मांग पर ग्रामीण क्षेत्रों मे क्या प्रभाव पड़ा है?

17. प्रचार माध्यमों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में आधुनिक वस्तुओं की बिक्री के लिए अनेक प्रयास किये जाते हैं अथवा रहे हैं उनका क्या असर दिखाई देता है?

18. दैनिक उपभोग की वस्तुओं की खपत पारम्परिक पंसारी की दुकान तथा पान की दुकान के जरिए क्या वास्तव में बढ़ी है?

19. ग्रामीण क्षेत्रों में एक सिलाई कम्पनी ने तमाम प्रशिक्षण केन्द्र खोले है। इससे क्या ग्रामीण क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा है?

20. अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ तथा बड़े उत्पादक अपनी ईनामी योजना तथा अन्य ऐजेन्टों के द्वारा उपभोक्ताओं को कहाँ तक प्रभावित कर पाते हैं?

21. दूरदर्शन तथा अन्य वीडियो विज्ञापन के जरिये किस प्रकार और कितनी हद तक उपभोक्ता प्रभावित होते हैं?

22. ऐसा कहा जाता है कि ग्रामीण उपभोक्ता सामग्री की गुणवत्ता की ओर विशेष ध्यान देता है, यह कहाँ तक सच है, उदाहरणस्वरूप शहरों में प्लास्टिक की टार्च के स्थान पर गाँव में अभी भी स्टील की टार्चों की अधिक खपत होती है क्या यह सच है?

23. उत्पादन कम्पनियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में बिकने वाली वस्तुओं का रंग तथा परिधान शहरों से अलग रखने की कोशिश करते हैं। क्या इसका उचित प्रभाव ग्रामीण उपभोक्ता पर पड़ता है?

24. एक साबुन कम्पनी ने 100 ग्राम की टिकिया के स्थान पर 75 ग्राम की टिकिया ग्रामीण क्षेत्रों के लिए बनाना शुरू किया इसके क्या कारण हैं?

## 5.11 वक्तव्य आलेख

सारे देश में लगातार योजना के द्वारा उत्थान के साधनों का केन्द्रीकरण हुआ है । जैसे ग्राम्य उत्थान केन्द्र जहाँ पर शिक्षा, स्वास्थ्य, दवाओं, पुलिस सहायता उत्पादक को उसकी वस्तु की सही कीमत दिलाने को सुनिश्चित उचित ब्याजदर पर कर्जा दिलाने की सुविधा की व्यवस्था है । इसके द्वारा गाँव के लोग इससे लाभान्वित होते हैं

शिक्षा, सूचना व ज्ञान की किरणें, इन्ही ग्राम्य उत्थान केन्द्रों के माध्यम से करीब के गाँवों व वहाँ के रहने वालों को प्रभावित करती हैं जिससे वे लाभ उठाते हैं । यह केन्द्र एक मेले की तरह हैं जहाँ गांव के लोग अपनी जरूरत की चीजें पाते हैं।

देहाती क्षेत्रों में प्रगति के वरदान की किरणें इन ग्राम्य सम्पन्न केन्द्रों द्वारा अपना प्रकाश फैला रही है। जिसमें एक धुलाई मशीन कम्पनी बिना किसी परेशानी के देहातों में अपनी वस्तु बेच सकती है। टेलीविजन कम्पनी भी 50 से 60 प्रतिशत तक के सेट उपभोक्ता मेला आदि के समय देहातों में बेच सकती है। प्रचार माध्यमों द्वारा पिछड़े क्षेत्रों में चाहे वह किसी प्रदेश का हो आधुनिक उपभोक्ता वस्तुओं का प्रयोग शुरू हो गया है जैसे थर्मस फ्लास्क, टी वी सेनेटरी वस्तु आदि।

पान की दुकानों, पंसारियों की दुकानों व गल्ला पीसने वाली चक्कियों पर गांव के लोगों की सभी आवश्यकता की चीजें रखते हैं।

दूरदर्शन के माध्यम से उपभोक्ता वस्तुओं का प्रचार देश के हर कोने में इतने सुन्दर ढंग से होता है कि लोग इनको अपना रहे हैं । रोज आवश्यकता की वस्तुयें जैसे नहाने का साबुन कपड़े धोने का साबुन व मंजन आदि। पहले देहातों में लोग नीम की दातुन करते थे और मिट्टी या बेसन से सर धोते थे अब दूरदर्शन द्वारा जानकारी प्राप्त करके देहात के लोग मंजन, साबुन, शैम्पू जैसी वस्तुओं को अपना रहे हैं। भले ही नौ वर्ष पूर्व थारू जाति या कोल जाति या उत्तर प्रदेश के जंगलों में बसे गांवों में या बम्बई, अहमदाबाद राजपथ पर बसे आदिवासियों में जो कि खेती पर ही अपनी जीविका निर्भर रखते थे आज टॉयलेट प्रसाधनों का प्रयोग करते हैं पर आजकल इन वस्तुओं का प्रयोग भारत के पिछड़े व सुदूर ग्रामीण अंचलों में भी हो रहा है यह लोग साबुन और चाकलेट जैसे वस्तुओं का भी प्रयोग करते हैं।

शहर की मार्केटिंग और ग्रामीण क्षेत्रों की मार्केटिंग में बड़ा फर्क है पर अगर प्रचार करने का तरीका अच्छा है तो ग्रामीण अंचलों में भी इस उपभोक्ता वस्तु का प्रयोग होने लगेगा जो कभी नहीं हुआ।

कई अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने उत्पादन की बिक्री के लिए उसका प्रचार अधिकाधिक करती है और कभी-कभी इनामी योजना भी चलाती हैं ताकि उसका अधिक उपभोग हो सके।

एक सिलाई कम्पनी ने देहात में विक्रय केन्द्र खोले जिनमें सिलाई की मुफ्त शिक्षा का भी प्रबन्ध है। चाय कम्पनी देहाती क्षेत्रों में लोगों की आदत डालने के लिए अच्छी व बनी हुई चाय का मुफ्त वितरण करती है। मेलों में इनके स्टॉल लगते हैं जिसमें इनके एजेन्ट विभिन्न प्रकार के आकर्षक वस्त्र पहन कर जाते है। जैसे टूथपेस्ट कम्पनी के एजेन्ट सफेद डाक्टरों जैसे वस्त्र पहनते हैं और बल्ब कम्पनी के एजेन्ट बल्ब के आकार का प्रदर्शन करते हैं जो ग्रामीणों के दिमाग पर अमिट

छाप छोड़ता है।

विगत कई वर्षों से बिक्री के तरीकों में नये ढंग अपनाये गये हैं जैसे बड़े व्यापारियों के द्वारा छोटे व्यापारियों तक माल की पूर्ति आजकल टेलीविजन का प्रचार बड़ी गाड़ियों, जीपों और अन्य द्रुतगामी वाहनों के माध्यम से होता है।

आजकल मुफ्त की चीजों (उपभोक्ता वस्तुओ) को बाँटना और उसका प्रचार वीडियो फिल्मों के द्वारा करना आम बात है।

इसका परिणाम हम उन साइकिल सवार एजेन्टों के रूप में देखते हैं जो साइकिल द्वारा शहर से पिछड़े इलाकों में बीड़ी, डबल रोटी, कपड़ा आदि चीजें पहुँचा कर करते हैं।

ग्रामीण उपभोक्ता सामग्री के गुण की ओर विशेष ध्यान देता है जो बैटरी बनाने वाली कम्पनी के प्लास्टिक बैटरियां देहात क्षेत्र में प्रचलित करने से स्पष्ट है।

कम्पनियाँ अपने उत्पादन वस्तुओं में देहात क्षेत्र के लोगों की रूचि के अनुसार परिवर्तन तथा संशोधन करता है। एक रंगीन टी वी हर देहाती क्षेत्र में नहीं बिक सकता । अतः विशेष रंग की योजना जो देहातों मे चला कर जनता का ध्यान आकर्षित कर सके बनाई जा रही है।

उपभोक्ता वस्तु की विभिन्न कम्पनियाँ उन साधनों का आविष्कार कर रही हैं जिनके द्वारा उपभोक्ता की रूचि और आवश्यकता को प्रभावित किया जा सके।

एक साबुन कम्पनी ने मालूम किया कि 100 ग्राम की टिकिया को लोग (विक्रेता) छोटे व टुकड़ों में काटकर बेचता है तो उसने 75 ग्राम की टिकिया बनानी शुरू कर दी यह सिद्ध करता है कि उपभोक्ता क्या चाहता है।

अनुभवी लोगों का कथन - बाजार के क्षेत्र के विशेषज्ञों का कथन, देहात क्षेत्र के उपभोक्ताओं का कथन । उपरोक्त कथन प्रोग्रामों के द्वारा सर्वव्यापी होगा और इसके द्वारा नवीन क्रम व प्राचीन क्रम के मतभेद की विवेचना होगी ।

## 5.12 सारांश

इस इकाई में चर्चित, प्रचलित, वर्तमान, राष्ट्रीय हित मुद्दों के ऊपर कार्यक्रम बनाया जाता है। यह कार्यक्रम समाचार से सम्बन्धित होते हैं।

समाचार कहीं से आ सकता है। अखबार में छप सकता है, दूरदर्शन पर दिखाया जा सकता है, रेडियो पर सुना जा सकता है। उसके बाद उस पर चर्चा होती है। पत्र, पत्रिकाएं, उस समाचार विशेष पर बहस शुरू करती है या सार्वजनिक स्थानों पर खुलकर या दबी जुबान से चर्चा होती रहती है। प्रत्येक खबर, चर्चित नहीं होती, इसलिए चर्चित मांग पर कार्यक्रम, तभी बनाए जाते है जब खबर महत्वपूर्ण हो । लेकिन प्रत्येक महत्वपूर्ण खबर पर चर्चित चालू मामलों का (करेन्ट अफेयर्स) कार्यक्रम नहीं बनाया जा सकता है।

सामान्य रूप से, चर्चित मामलों (करेन्ट अफेयर्स) पर कार्यक्रम वहीं बनते हैं जो,

(1) राष्ट्रीय महत्व के हों ।

(2) सरकार की नीतियों से सम्बद्ध हों।

(3) किसी नीति विशेष पर प्रतिक्रिया होने पर, तीव्र प्रतिक्रिया होने पर स्पष्टीकरण के लिए भी

कार्यक्रम बनाए जाते हैं।

(4) सामाजिक परिर्वतन की प्रक्रिया पर भी इस तरह के कार्यक्रम बनते हैं।

(5) आर्थिक मुद्दों पर, घटनाओं पर, जैसे स्टॉक मार्केट ब्याज की दर भी कार्यक्रम बनाए जाते हैं।

(6) विदेश नीति पर, सुरक्षा के प्रश्न पर भी काम किया जा सकता है।

## 5.13 शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| करेन्ट अफेयर्स | - | वर्तमान में चर्चित मामलों पर कार्यक्रम |
| पार्श्व स्वर | - | कमेन्ट्री |
| आउटडोर शूटिंग | - | वाह्य छायांकन |
| दस्तावेजी फिल्म | - | डॉकूमेन्ट्री |
| प्रोग करना | - | प्रोग्रेस करना, लगातार आगे बढ़ना (फिल्म में) |
| ऐंकर | - | कार्यक्रम का विषय प्रवर्तन करने वाला तथा कार्यक्रम का समन्वययकर्ता |
| प्री शूटिंग | - | शूटिंग के पूर्व |
| शूटिंग | - | छायांकन के दौर में |
| पोस्ट शूटिंग | - | छायांकन के बाद के कार्य, जैसे - सम्पादन |

## 5.14 संदर्भ ग्रन्थ


| | | |
|---|---|---|
| इलेक्ट्रानिक मीडिया और फिल्म प्रोडक्शन | - | राजकृष्ण मिश्र |
| फन्डामेन्टल्स ऑफ ब्रॉडकास्टिंग | - | शराफत यार खान |
| ई जर्नलिज्म | - | डा. अर्जुन तिवारी |


## 5.15 सम्बन्धित प्रश्न

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

(1) कार्यक्रम और वृत्तचित्र में क्या अन्तर है ? दोनों में से कौन, समाचार के करीब है?

(2) कार्यक्रम और वृत्तचित्र, किसमें, पार्श्व स्वर होता है?

(3) कार्यक्रम में विषय प्रवर्तन कौन करता है?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

(1) कार्यक्रम और संरचना तक प्रक्रिया विस्तार से बताइये।

(2) कार्यक्रम निर्माण के लिए यूनिट का गठन कैसे किया जाता है और शूटिंग की प्रक्रिया क्या है?

(3) चर्चित कार्यक्रम के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिये।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

(क) डॉकूमेन्ट्री और कार्यक्रम में -

(1) कोई अन्तर नहीं है।

(2) दोनों अलग-अलग विधाएं हैं।

(3) दोनों एक ही विषय पर बनाई जाती हैं।

(4) दोनों में आधारभूत तत्व एक है।

(ख) चर्चित मामलों का जन्म अधिकतर -

(1) समाचार से होता है।

(2) समाचार से नहीं होता है।

(3) विदेशी मामलों से होता है।

(4) पत्राचार से होता है।

(ग) दस्तावेजी फिल्म कहते हैं -

(1) डॉकूमेन्ट्री को

(2) कार्यक्रम को

(3) फीचर-फिल्म को

(4) सीरियल को

(घ) कार्यक्रम का निर्माण प्रस्ताव के -

(1) अनुमोदन के बाद किया जाता है।

(2) अनुमोदन की आवश्यकता नहीं होती ।

(3) अनुमोदन का प्रश्न ही नहीं उठता ।

**उत्तर** - क. (2) ख. (1) ग. (1) घ. (1)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद



# खण्ड

# 2

# सिनेमा और समाज

इकाई-1 और इकाई-2 संयुक्त 5
सिनेमा और समाज

इकाई-3 और इकाई-4 संयुक्त 31
सिनेमा और साहित्य

इकाई-5 60
हिन्दी फिल्मों का यथार्थवाद

## परामर्श-समिति

| | |
|---|---|
| **प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव** | **कुलपति - अध्यक्ष** |
| **डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल** | **कार्यक्रम संयोजक** |
| **श्री एम0 एल0 कनौजिया** | **कुलसचिव - सचिव** |

## परिमापन

| | |
|---|---|
| **1- प्रो0 राम मोहन पाठक** | - वाराणसी |
| **2- डॉ0 अर्जुन तिवारी** | - इलाहाबाद |

## सम्पादन

**1- श्री राजकृष्ण मिश्र**

## लेखक मंडल

### PGDEM&FP - 02

| | |
|---|---|
| **1- श्री राजकृष्ण मिश्र** | - लखनऊ |
| **2- डॉ0 के0 के0 मालवीय** | - इलाहाबाद |

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से कुलसचिव, श्री एम0 एल0 कनौजिया, द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, मार्च 2008

मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद, मुद्रित। फोन - 2548837

## इकाई - 1 और 2( संयुक्त ) : सिनेमा और समाज

## इकाई की रूपरेखा-

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाज की परिभाषा

1.3 समाज का स्वरूप

1.4 सिनेमा, समाज और राजनीति

1.5 हिन्दी सिनेमा का समाजशास्त्र

1.6 सिनेमा - समग्र चेतना का सशक्त माध्यम

1.7 सिनेमा और जीवन का सहसम्बन्ध

1.8 सारांश

1.9 शब्दावली

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.11 सम्बन्धित प्रश्न

## 1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप -

- समाज की परिभाषा जान सकेगें।
- समाज के स्वरूप की व्याख्या कर सकेंगे ।
- सिनेमा, समाज और राजनीति के सम्बन्धों की विवेचना कर सकेंगे ।
- हिन्दी सिनेमा के समाजशास्त्र को समझ सकेंगे ।
- समग्र चेतना के सशक्त माध्यम के रूप में सिनेमा की भूमिका स्पष्ट कर सकेंगे।
- सिनेमा और जीवन के सहसम्बन्ध को जान सकेंगे।

## 1.1 प्रस्तावना

किसी भी ललित कला का जन्म समाज में ही होता है और वह अन्ततः

समाज को प्रभावित करती है। सिनेमा जैसी प्राणवन्त ललित कला भी इसका अपवाद नहीं है। सिनेमा के व्यापक पटल पर सामाजिक परिवर्तनों को आरेखित किया जा सकता है। सिनेमा को समाज अंगीकृत करता है। सिनेमा समाज से ही कथानक का चयन करता है। समाज की अच्छाइयों-बुराइयों और उसकी समस्त परम्पराओं को कथावस्तु के तन्तुजाल में पिरोकर सिनेमा, समाज के सम्मुख एक विकल्प लेकर उपस्थित होता है। सिनेमा समाज का है और समाज सिनेमा का। दोनों एक-दूसरे से इस तरह सम्पृक्त हैं, जैसे नीर- क्षीर सम्पृक्त होकर एकाकार हो जाते हैं। सिनेमा की रीढ़ समाज की शारीरिक संरचना पर टिकी हुई है। समाज की परम्पराएँ, धारणाएँ और उसकी प्रत्येक प्रवृत्तियाँ सिनेमा के आंचल में जाकर अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती हैं। समाज और सिनेमा का अन्तः सम्बन्ध सिक्के के दो पहलू की भाँति है। दोनों के सूत्र एक-दूसरे के अन्तः करण से अनुस्यूत हैं।

## 1.2 समाज की परिभाषा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर ही वह उन कार्यों को सम्पादित कर सकता है, जो उसके तथा समाज के अस्तित्व एवं विकास में सहायक होते हैं। मनुष्य सामूहिक तथा सहचारी भावना से प्रेरित होकर जब एक-दूसरे के लिए व्यवहानिरत होता है, तो उसके इन्हीं नानाविध कार्य -कलापों की परिणति अन्ततः सामाजिक चेतना, आस्था,दायित्व प्रभृति की आधारशिला बनती है। एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति के साहचर्य में आता है तो उसे अपनी इच्छा और दूसरों की भावना एवं स्वक्षमता का ध्यान रखते हुए समझौता करना पड़ता है। अपनी सामर्थ्य को दृष्टि में रखकर प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए एक भूमिका चयनित करनी होती है और यही भूमिका समाज के वृहत्तर रंगमंच (थियेटर) पर सामाजिक सम्बन्ध का नियमन करती है। समाज एक ऐसा मानव संगठन है, जो एक विशिष्ट प्रकार की जीवन शैली को स्वीकृत कर उसका अनुगमन करता है। समूहीकरण का भाव समाज का मूलाधार है और समूह में रहकर प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे की इच्छाओं, क्षमताओं और आवश्यकताओं का ध्यान रखना पड़ता है और यहीं से बहुविध सामाजिक सिद्धान्तों का प्रकटन होता है।

वस्तुतः समाज की अवस्थिति मानव द्वारा अपने परिवेश के साथ किये जाने वाले अनुकूलन में सन्निहित है तथा इसी अनुकूलन अथवा समायोजन के पहलुओं के आधार पर मानव समाज में विभिन्न संस्थाओं का उद्भव और विकास होता है। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों का एक पहलू साहचर्य, संगठन, संरचना तथा बहुमुखी समूहीकरण का है तो दूसरा पहलू आदर्शात्मक सिद्धान्तों और उससे उत्पन्न

संस्थाओं का। सिद्धान्तों से ही संस्थाओं की उत्पत्ति होती है। दूसरे शब्दों में एक संस्था सामाजिक सिद्धान्तों का वह समुच्चय है, जिससे मनुष्य की अनेक आधारभूत आवश्यकताओं की सम्पूर्ति होती है। बहुविध आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निर्मित संस्थाओं का संश्लेषण ही समाज है। इसीलिए कहा गया है - 'पारस्परिक आदान - प्रदान पर आधृत सम्बन्धों से उद्भूत समाज उन सभी संस्थागत यन्त्रों से व्यापक है, जो विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों में इकाइयों के रूप में अवस्थित रहकर मनुष्य को संगठनात्मक संश्लेषण से आबद्ध करते हैं।' यथा - Societies, arising from reciprocal human relations are the largest over-all organisational systems that unite man in corporate synthesis acting as units in given geographic areas .(Anderson and Frederick, Society : Page-6) यही कारण है कि समाज की परिकल्पना किसी विशिष्ट या एकांगी प्रक्रिया के रूप में नहीं की जा सकती। वह तो रीतियों या व्यवहार प्रवर्तनों का एक जटिल ढाँचा है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में ये सभी रीतियाँ जीवित और अपने आप में महत्वपूर्ण बनी रहती है। इस प्रकार समाज मनुष्य के व्यवहारों का योग है। सम्बन्धों, रीति- रिवाजों एवं नियमों की स्वीकृत व्यवस्था है। मनुष्य के लिए वह एक जैविक आवश्यकता है, जो मानव के अस्तित्व और विकास के लिए अपरिहार्य है। समाजशास्त्री हैन्कीन्स ने समाज की आधारशिला को परिभाषित करते हुए लिखा है - 'We may for our purposes here define a society as any permanent or continuing grouping of men, women and children, able to carry on independently the process of racial perpetuation and maintenance of their own cultural level.' (Hankins Frank : An Introduction to the Study of Society : page 445) अर्थात् समाज पुरूषों, स्त्रियों एवं बालकों का स्थायी अथवा सतत् वर्तमान रहने वाला समूह है। जो अपने सांस्कृतिक स्तर पर स्वतंत्र रूप से प्रजाति की उत्पत्ति एवं उसके पोषण की प्रक्रियाओं का प्रबन्ध करता है।

समाजशास्त्री रॉक के अनुसार - 'Sociology is one of the group of subjects classed as the social sciences, all of which describe the objective study of social experience as a science, it aims to discover, through empirical research, knowledge about the social life of man and its relations to the factors of culture, natural environment, the functioning of groups culture, changes and the effect of different

patterns of culture on personality.' (J.S. Roucek and others : Sociological Foundations of Education, N.Y. Thomas Y. Crowell Co., p.4).

## 1.3 समाज का स्वरूप

मनुष्य के व्यापक सरोकारों की कार्यशाला का नाम समाज है। समाज का स्वरूप अत्यन्त व्यवस्थित है। समाज का स्वरूप इसके समूहीकरण के द्वारा निर्धारित होता है। समूह में रहते हुए व्यक्ति समाज की सबसे छोटी इकाई सिद्ध होता है। मनुष्य से ही समाज है और समाज से ही मनुष्य की अस्मिता सम्बद्ध है। समाज में अनेक प्रकार के लोगों का निवास है। अनेक वर्गों और संघर्षों की कथावस्तु का उद्‌भव और विकास समाज के स्वरूप पर निर्भर करता है। समाज की व्यापक परिधि में जहाँ एक ओर साहित्य, संगीत और कला की विस्तृत पृष्ठभूमि समाहित है, वहीं दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, राजनीति आदि की आधारशिला भी इसी के सुदृढ़ स्कन्ध पर अवलम्बित है। समाज में रहने वाला प्रत्येक मनुष्य सामाजिक होता है। वह अपनी छोटा-बड़ी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समाज पर आधृत है। समाज व्यक्ति की जरूरतों की पूर्ति का साधन है। इसी की छाया में मनुष्य अपनी सुख-दुःखात्मक जिन्दगी का हिस्सा व्यतीत करता है। सामाजिक और समाज के अन्तः सम्बन्धों पर ही समाज का स्वरूप निर्मित होता है। समाज व्यक्ति सापेक्ष होता है। समाज की व्यक्ति सापेक्षता ही उसका वास्तविक स्वरूप है।

## 1.4 सिनेमा, समाज और राजनीति

सिनेमा अन्य माध्यमों की तुलना में सबसे ताकतवर माध्यम है। हर व्यक्ति समाज और राजनीति से जुड़ा हुआ है। मनुष्य जो कुछ भी करता है उसका समाज और राजनीति से रिश्ता होता है। क्षेत्र चाहे व्यापार हो या सिनेमा। मैने जो कुछ भी सीखा है वह समाज से ही । समाज के साथ सिनेमा का गहरा संबंध है।

मेरी फिल्में समाज से जुड़ी होती है। मेरा विश्लेषण भी समाज से शुरू होता है। मैं अपनी फिल्म के लिए बजाय कहानी चुनने के किसी सामाजिक मुद्दे को अपना विषय बनाता हूँ । वह मुद्दा सम-सामयिक और 'डाक्यूमेन्ट्री' महत्व का होता है। मेरी फिल्म का विषय जितना समाज से संबंधित है उतना ही राजनीति से भी । लेकिन मेरी फिल्म का राजनीतिक टोन डायरेक्ट नहीं होता। डायरेक्ट राजनीतिक टोन भड़काता है। बात राजनीतिक शोषण की भी हो, तो मैं उसका विश्लेषण करके लोगों को दिखाता हूँ। मैं निष्कर्ष नहीं निकालता। यह मैं अपने दर्शकों पर छोड़ देता हूँ। अगर मेरी फिल्म में ऐसा कोई अपराधी है, जिसने हत्या की है तो मैं उसे

अन्तिम दृश्य में सजा नहीं दिलवाता। आज की राजनीति के बारे में निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । अक्सर कोई अपराधी किसी मंत्री से मिलकर अपने को सजा से मुक्त कर लेता है। आवश्यकता इसके विश्लेषण की है और मैं यही करता है।

मेरी फिल्मों में राजनीतिक विचार-विश्लेषण अधिक होता है, मगर वह प्रत्यक्ष नहीं होता। वह विचार विमर्श की प्रक्रिया में दिखता है । मेरा एक मकसद ऐसी बहस को प्रेरित करना भी हैं, हिंदी सिनेमा बहस को रोकता है। यहाँ तक कि गोविंद निहलानी की फिल्में भी। क्योंकि इनके यहाँ 'पोलिटिकल टोन्स' डायरेक्ट है। वे निष्कर्ष भी निकालते हैं। जो जनता को भड़काने का काम तो करता है, मगर किसी विचार-विमर्श के लिए प्रेरित नहीं करता । जो काम मैं दर्शकों से कराता हूँ वह काम गोविन्द स्वयं करते हैं। मैं दर्शकों को शामिल करता हूँ और गोविन्द दर्शकों को माध्यम बनाते है।

सिनेमा का एक राजनीतिक दायित्व भी है। राजनीतिक निर्भर करती है। लोगों के चुनाव और खारिज पर। किसी नेता को समझना मेरा काम नहीं है। नेता ऐसे हैं कि जान-बूझ कर ऐसा या वैसा काम करते हैं। ऐसे नेताओं को समझाया नहीं जा सकता। लेकिन जब जनता ऐसे किसी नेता को चुनती है तो उसमें कहीं धोखा नहीं होता है। जनता की यह मासूमियत है कि वह उसका विश्लेषण नहीं करती। जनता को विश्लेषण करने के लिए तैयार करने की जरूरत है। अगर हम राजनीति पर कुछ कर रहे हैं तो हमें यह प्रयास करना चाहिये। मैं अपनी फिल्मों में यह करता हूँ। सिनेमा राजनीतिक दायित्व ऐसे ही निभा सकता है।

एक गम्भीर फिल्म भी लोगों को स्वस्थ मनोरंजन दे सकती है। मनोरंजन केवल हास्य नहीं है या केवल हास्य से ही मनोरंजन उत्पन्न नहीं होता । यह कहीं भी मिल सकता है, मगर ढूँढना पड़ता है। आम जनता के लिए मनोरंजन बहुत आवश्यक है। मनोरंजन की कई दिशाएं है। ब्ल्यू फिल्में और चार्ली चैपलिन की फिल्में - दोनों मनोंरंजन देती हैं। मगर दोनों में अन्तर है एक कृत्रिम है और दूसरा कलाकार द्वारा सजा हुआ है। यह उस कलाकार की सोच और सृजनशीलता का परिणाम है।

हिन्दी सिनेमा वाले हमेशा यह दलील देते हैं कि वे जनता के मनोरंजन के लिए फिल्म करते हैं या बनाते हैं। अमिताभ बच्चन अभी भी सुपर स्टार है। उसने अपने तरीके से हिन्दी सिनेमा को समृद्ध किया है। वह अच्छा अभिनेता है, उसका अभिनय भी उच्च स्तर का है। वह ऐसा अभिनेता था, जो घटिया से घटिया भूमिका

को भी अच्छा बना देता था। उसकी अभिनय प्रतिभा ऐसी थी। वह सुपर स्टार ऐसे ही नहीं बन गया। उसमें बहुत कुछ था। लेकिन वह सुपर स्टार बनकर ही रह गया। उसने फिल्म के लिए कुछ नहीं किया। उसमें इतनी क्षमता थी कि वह फिल्म उद्योग में परिवर्तन ला सके। लेकिन उसने ऐसा किया नहीं। परन्तु वह सिर्फ अमिताभ की समस्या नहीं है। यह दूसरे फिल्मकार, अभिनेता और अभिनेत्रियों की समस्या भी है। दर्शकों को धोखा नहीं देना चाहिये। अमिताभ तथा दूसरों ने लोगों को धोखा दिया है। एक तरीके से मणिरत्नम भी धोखा दे रहे है। लेकिन उनका तरीका छठे दशक का है। उस काल में स्टारडम और ग्लैमर के साथ विषय भी प्रमुख हुआ करता था। मणिरत्नम की फिल्में देखकर ऐसा लगता है कि ये विषय को बिकने की वस्तु मानते है। उनकी फिल्मों में समाज हैं लेकिन गौण, बाजार ही प्रमुख है। हिन्दी सिनेमा या उद्योग से साफगोई गायब है, क्योंकि वहां सिर्फ बाजार है, समाज लगभग लुप्त है।

समाज और बाजार एक-दूसरे से जुड़े हैं। बाजार समाज का ही एक अंग है। बाजार भी हमें चाहिये। आज का आधुनिक समाज ऐसा है जिसके बाजार में सब कुछ बिक रहा है। अभी समाज में बाजार के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। आधुनिक समाज में मैटेरियलिज्म बढ़ रहा है। लोगों को समझ में नहीं आ रहा है कि क्या करें। यह अच्छा है या बुरा, हमें तय करना है हमारे पास ऐसी कसौटी होनी चाहिये, जिसके आधार पर हम मैटेरियलिज्म का मूल्यांकन कर सकें और उसी के आधार पर उसका विरोध भी। हिन्दी सिनेमा के पास न तो कोई कसौटी है और न ही इस प्रवृत्ति के खिलाफ कोई कुछ कर रहा है। हिन्दुस्तान में अभी जितनी भी फिल्में बन रही हैं उनका पचानबे प्रतिशत समाज के लिए कुछ नहीं कर रही है।

फिल्म बनाने वालों को सोचना चाहिये कि वह सृजनशील व्यक्ति है। वह कलाकार है। कलाकार का काम है कि लोगों की पसंद को बदले और नई पसन्द बनाए। अब फिल्मों में नायिकाएं आक्रामक तेवर से युक्त दीख रही है। नायिकाओं की भूमिका में आया यह आंतरिक बदलाव तो सराहनीय है, लेकिन उनमें आया वाह्य बदलाव जो कपड़े उतारकर अपने शरीर के नग्न प्रदर्शन की हद तक आ गया है- एक शर्मनाक बात है। यह समाज के भले के लिए नहीं है।

सिनेमा समाज को प्रभावित कर उसमें परिवर्तन लाता है, मगर उसकी भी एक सीमा है। कुछ लोगों का यह तर्क एकदम बेबुनियाद है कि समाज में जितनी भी बु राइयाँ हैं वे सब सिनेमा की ही वजह से है। अगर सिनेमा देखकर ही लोग पूरी तरह गलत रास्तों पर चलने लगते हैं तो फिर गांधी जैसी फिल्म को देखकर लोग गाँधी की तरह क्यों नहीं बन जाते हैं? सामाजिक परिवर्तन में सिनेमा की एक भूमिका

अवश्य है, लेकिन इसके साथ ही ऐसे बहुत सारे कारक और भी हैं जिनकी वजह से समाज में परिवर्तन आता है, हमें इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं करना चाहिये।

आजकल सिनेमा में एक तरह का बंटवारा किया जाने लगा है और सिनेमा को दो वर्गों में बांटा जाने लगा है। व्यावसायिक (कमर्शियल) सिनेमा और कला (आर्ट) सिनेमा । साथ ही यह गलत तर्क भी दिया जाने लगा है कि कमर्शियल सिनेमा, जिसे कुछ लोग चालू सिनेमा जैसी संज्ञा देने लगे हैं का समाज से कोई वास्ता नहीं है और दूसरी ओर यह कहा जाने लगा है कि केवल कला फिल्मों का ही समाज से वास्ता है, इस तर्क से सहमत नहीं हुआ जा सकता। कमर्शियल फिल्में अपनी सीमा का अतिक्रमण करने के बावजूद समाज से जुड़ी हुई होती हैं। इन फिल्मों में प्रायः यह दिखाने की कोशिश की जाती है कि अच्छे का अच्छा एवं बुरे का बुरा अंत ही होता है। क्या यह कोशिश समाज से कोई वास्ता नहीं रखने का सूचक है। हाँ, यह जरूर है कि कला फिल्में ज्यादा यथार्थपरक होती है। लेकिन यह इनकी शक्ति है तो यही इनकी सीमा भी बन जाती है। कला फिल्में प्रायः अपने स्वरूप में इतने संकुचित रूप में पेश की जाती हैं कि ये किसी खास भौगोलिक क्षेत्र में ही लोकप्रिय हो पाती हैं, अन्य क्षेत्रों के दर्शक जब इन्हें देखते हैं तो उन्हें लगता है कि इनका हमारे सामाजिक जीवन से कोई सरोकार नहीं है। फलतः कला फिल्में कमर्शियल फिल्मों के सामने पिट जाती हैं। दूसरी ओर कमर्शियल फिल्में अपने को सामान्यीकृत करके प्रस्तुत करने का प्रयास करती है। इन फिल्मों को हर भौगोलिक क्षेत्र का दर्शक देखता है और सबको यह लगता है कि ऐसी स्थितियां तो उसके समाज में भी मौजूद हैं। अतः यह आवश्यक है कि कला फिल्में भी ग्राम्य परिवेश, गरीबी, हरिजन लड़की पर जमीदार का अत्याचार जैसे, कुछ गिने-चुने विषयों पर ही केन्द्रित रहने की अपनी घेरेबंदी को तोड़कर अपने में व्यापकता लाएं। दूसरी ओर कमर्शियल फिल्मों को भी अपने में सुधार लाने की जरूरत है और अभी जो स्थिति है उसमें ज्यादातर दर्शक कमर्शियल फिल्मों के ही है। अतः यदि हम समाज में सिनेमा के जरिए सचमुच बदलाव लाना चाहते हैं तो वह काम कमर्शियल सिनेमा के जरिये ही किया जा सकता है। इसके माध्यम से मिट्टी गीली की जा सकती है, ताकि नए फूल खिल सकें।

ऊपर जो फर्क कला फिल्मों एवं कमर्शियल फिल्मों में बताए गये हैं वैसा ही फर्क क्षेत्रीय भाषाओं की फिल्मों एवं हिन्दी फिल्मों में भी है। क्षेत्रीय भाषाओं की फिल्में प्रायः अपने क्षेत्र-विशेष की सीमा में आबद्ध रहती है और इसीलिए वे ज्यादा लोकप्रिय नहीं हो पाती। दूसरी ओर हिन्दी फिल्मों की यह कोशिश रहती है कि उन्हें कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक मोटे तौर पर समझा जाए। यही वजह है कि हिन्दी

कमर्शियल सिनेमा के नायक -नायिकाओं का नाम मि. अमित या मिस. लक्ष्मी होता है। इनका कोई उपनाम नहीं होता। उपनाम से क्षेत्रीय पृष्ठभूमि का बोध होता है । हिन्दी कमर्शियल सिनेमा इससे बचता है।

भारत में सिनेमा के मार्ग में अनेक बाधाएं हैं, उसके समक्ष अनेक चुनौतियाँ है। अपने यहाँ अच्छी एवं बुरी फिल्मों में भेद करने एवं अच्छी फिल्मों को पहचानने की कोई तमीज नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि अपने यहाँ पाश्चात्य देशों की तरह दर्शकों को फिल्म देखने - समझने की कोइ ट्रेनिंग नहीं दी गयी है। यह आवश्यक है कि अपने देश में भी बच्चों में स्कूली स्तर पर सिनेमा के संबंध में एक मौलिक समझ विकसित कर दी जाए जैसा कि साहित्य आदि के प्रति करने की कोशिश की जाती है। ऐसा करने पर ही अपने यहाँ भी अच्छी फिल्में अधिक जनप्रिय हो पाएंगी।

अन्य कला माध्यमों में सिनेमा में एक अंतर है। वह यह कि जहाँ साहित्य लेखन, चित्रकारी संगीत आदि में कोई प्रत्यक्ष धनराशि खर्च नहीं होती या बहुत थोड़ी सी खर्च होती है। वहीं फिल्म निर्माण में बहुत सारा पैसा खर्च होता है। फिल्म निर्माता कभी-कभी कोई फिल्म बनाते हैं तो उससे लाभ कमा पाना तो दूर वे अपनी लागत राशि तक की उगाही नहीं कर पाते हैं और कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि एक ही फिल्म से उनकी कमर इस तरह टूट जाती है कि वे दोबारा चाहकर भी कोई अन्य फिल्म नहीं बना पाते । अतः फिल्म उद्योग की इस समस्या की ओर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

सिनेमा के सामने एक खतरा एवं चुनौती वीडियो ने भी पैदा कर दी है। अधिकांशतः सम्पन्न परिवार के लोग सिनेमा हालों में आकर सिनेमा देखना पसंद नहीं करते, बल्कि वे अपने घरों में बैठकर वीडियो पर ही सिनेमा देखना पसंद करते है। इसका एक मुख्य कारण हमारे समाज में घटित विपर्यय की स्थिति है। चूँकि हॉलों में अधिकांशतः मजदूर एवं निम्न वर्ग के लोग ही फिल्में देखते हैं अतः तथाकथित उच्च एवं मध्य वर्ग के लोग उनके बीच बैठने में अपनी तौहीन महसूस करते हैं और जो फिल्में वीडियो पर देखी जाती है। उनसे मिलने वाला पैसा न तो फिल्म निर्माताओं के पास जाता है और न फिल्म वितरकों के पास। दूसरी ओर निम्न वर्ग के पास इतना पैसा नहीं रहता कि वह नियमित फिल्में देख पाएं। कुल मिला-जुला कर फिल्मों के इस निम्न वर्ग के दर्शक से ही जो धनराशि प्राप्त होती है वही फिल्म निर्माताओं के पास जाती है। फलतः आजकल अधिकांश फिल्में घाटे का सौदा होती

नजर आती है। साथ ही बहुत सी फिल्में बनकर भी प्रदर्शित नहीं हो पाती तथा डिब्बे में बंद रह जाती है।

## 1.5 हिन्दी सिनेमा का समाजशास्त्र

कलाएं समाज से जन्म लेती हैं और अंततः समाज को प्रभावित भी करती हैं। हिन्दी फिल्में इस बात का अपवाद नहीं हैं। हिन्दी फिल्मों के इतिहास में समाज में होते हुए सांस्कृतिक परिवर्तनों को पकड़ा जा सकता है। यह बात अलग है कि ये परिवर्तन फिल्मों में ज्यों के त्यों नहीं आए हैं और सचाई जानने के समाजशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। आरम्भ से लेकर अब तक फिल्मों के कथ्य, प्रस्तुति ,गीत, नृत्य एवं संगीत में अनेक परिवर्तन आए है। इन परिवर्तनों के कारणों की तलाश सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में आसानी से की जा सकती है।

मूक फिल्मों की कथावस्तु का आधार धार्मिक कथाएँ रहीं। उसका स्पष्ट एवं प्रधान कारण यह रहा कि अवाक् फिल्मों के लिए यह जरूरी था कि वे ऐसी कथावस्तुओं का सहारा लें, जिनकी छवि जनमानस में पहले से ही बनी हुई हो, ताकि वे पात्रों के हाव-भावों के आधार पर ही कथावस्तु को समझ लें। तीसरे दशक के आरंभ से सवाक् फिल्में बननी शुरू हुई। इसके साथ ही फिल्मों के कथानक में भी भिन्नता आई। यह युग राजनीतिक पराधीनता का युग था और इस पराधीनता से मुक्ति पाने के संघर्ष का भी युग था। आजादी की यह लड़ाई दो मोर्चों पर जारी थी। एक मोर्चा राजनीति का था और दूसरा मोर्चा कला और संस्कृति का था। विदेशी नियंत्रण के कारण इस काल की फिल्में राजनीतिक संघर्ष को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नहीं कर सकीं, लेकिन सांस्कृतिक क्रान्ति के क्षेत्र में इन्होंने अपनी भूमिका निभाई। पश्चिम के संपर्क तथा विज्ञान के विकास के फलस्वरूप हमारे समाज की मान्यताओं में जो परिवर्तन आ रहे थे, उन्हें फिल्मों ने अभिव्यक्ति दी।

आजादी के बाद फिल्म निर्माण के क्षेत्र में तेजी आई और परिवर्तन भी आया। सही मायने में आजादी के बाद ही फिल्मों को अपने स्वाभाविक रूप में सामने आने का अवसर मिला। आजादी के बाद से सन 1970 तक की फिल्में मूल रूप सें भावात्मक है। इस समय के कथानक अपनी मूल भारतीय परंपरा का निर्वाह करते हैं। भारतीय कथानक की मूल परंपरा आदर्शवादी, सुखांत एवं भावनामूलक रही है।

रामायण और महाभारत भारत के दो महान ग्रन्थ हैं। लेकिन भारत में महाभारत की परंपरा कथा साहित्य में इतनी लोकप्रिय और प्रचलित नहीं हुई, जितनी रामायण

की। यदि हमारे यहाँ महाभारत की कथा परंपरा विकसित हुई होती तो निश्चित रूप से कथानकों का स्वरूप बिलकुल ही अलग होता और उसमें जीवन के यथार्थ अधिक स्पंदित होते। लेकिन भारतीय जनमानस को कटु यथार्थ के बजाय स्वप्निल आदर्श अधिक पसंद है। जनमानस की इसी रूचि की अभिव्यक्ति हमें सन् 70 तक की फिल्मों में मूल रूप से मिलती है। यह युग राजनीतिक दृष्टि से भी आदर्शप्रिय था। नैतिकता का अपना एक सामाजिक सम्मान था। 'नागर' और 'लोक' संस्कृति के बीच एक संबंध सूत्र बना हुआ था। इस समय नगर में स्थित बुद्धिजीवी एवं कलाकारों के मानस की बनावट 'लोक' की थी। फलस्वरूप इनके मूलभूत संस्कार इनकी कलाओं में अभिव्यक्ति पा ही जाते थे। इसी कारण इस समय की फिल्मों के अनेक कथानक ग्राम्य जीवन पर आधारित हैं और उन्हें भरपूर लोकप्रियता भी मिली है। 'मदर इंडिया' की सफलता इसका प्रमाण है। जहाँ इनके संवादों में 'लोक' के शब्द, मुहावरे और उच्चारण हैं, वहीं इनके गीतों में लोक संस्कार जीवंत हो उठे हैं। गीतों में शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीतों का सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है। भारतीय जन नाट्य मंच ने शास्त्रीय और लोककला के तत्वों को एक मंच पर लाने की जो सराहनीय कोशिश की, उसने फिल्मों को एक नवीन कलात्मक उत्कर्ष और वैचारिक गहराई दी।

लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक स्थायी नहीं रही। भारतीय जीवन पर दो ओर से जबरदस्त प्रभाव पड़ रहा था। एक प्रभाव राजनीति का था। राजनीतिक आपाधापी के कारण नैतिक मूल्य टूट रहे थे। दूसरा प्रभाव पश्चिमी संस्कृति का पड़ रहा था। वैज्ञानिक शोधों के कारण प्राचीन जीवन मूल्य टूट रहे थे, लेकिन दुर्भाग्यवश इस रिक्तता को भरने के लिए नए मूल्यों की सर्जना नहीं हो रही थी। इस तरह एक सांस्कृतिक दिग्भ्रमिता की स्थिति सी थी। इसी दौरान हमारी सामाजिक संरचना के आधार में भी कुछ मूलभूत परिवर्तन हो रहे थे। शहर का धनिक वर्ग 'पंचतारा संस्कृति' की ओर आकर्षित हो रहा था। इनमें अपनी भारतीय संस्कृति के प्रति स्वाभिमान का अभाव है। इस 'इलीट वर्ग' ने क्षयग्रस्त सामंती मूल्यों तथा उपभोक्तावादी संस्कृति से समझौता करके एक अलग संस्कृति को जन्म दिया। वस्तुतः काली अर्थव्यवस्था की तरह ही उस पर आधारित एक समानांतर भूमिगत व्यवस्था का जन्म हुआ। यहाँ सस्ती, अश्लील और घृणित संस्कृति की वस्तुओं का उत्पादन होता है। इन वस्तुओं ने जन रूचि को विद्रूप करने में प्रमुख भूमिका निभाई है।जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था में 'काले धन' का अनुपात बढ़ता गया, वैसे-वैसे असंस्कृति का संस्कृति के नाम पर समर्थन करने वाले बढ़ने लगे। इस वर्ग का जबरदस्त प्रभाव फिल्म संस्कृति पर पड़ा। वह स्वाभाविक भी था। फिल्म निर्माता से लेकर अभिनेता तक स्वयं को एक अलग संसार की संस्कृति का प्रतिनिधित्व मानते

है। इनकी एक अलग दुनिया है, अलग जीवन मूल्य हैं और अलग सामाजिक मापदंड है। सन् 1965 से 1980 तक की फिल्मों में इस 'इलीट' संस्कृति का अनुपात क्रमशः बढ़ता चला गया और सन् 80 के बाद यही अपसंस्कृति फिल्मों की संस्कृति बन गई। यहाँ तक आते-आते फिल्मों में लगी पुरानी पीढ़ी समाप्त प्राय और अप्रभावी भी हो गयी थी। इनका स्थान लेने के लिए जो नई पीढ़ी आई है, उसकी जड़ें अपनी जमीन में नहीं है। उसका लोकमानस से न तो परिचय है और न ही उसके प्रति कोई प्रतिबद्धता ही है। वह लोक मानस को अपनी कला का एक खरीददार मात्र समझता है। यही कारण है कि आठवें दशक की फिल्में (फिल्मों की मुख्य धारा) अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता खोने लगी। उनमें नग्नवाद तेजी से उभरने लगा। फिल्मी कथानक, संवाद, गीत ओर संगीत में से 'लोकजीवन' आज खारिज सा हो गया है। हर जगह एक तेजी है, तीक्ष्णता है, लाउडनेस है। इन सबके केन्द्र में 'क्षणिकता' का जीवन दर्शन है।

विशेषकर छठे दशक के बाद देहातों से युवक बड़ी संख्या में शहरों की ओर आने लगे। इन युवकों को पहली बार पारंपरिक संस्थाओं (परिवार, जाति धर्म, गाँव) के जकड़ने वाले नियंत्रणों से मुक्ति मिली। लेकिन इन शहरों में इनकी उस मुक्ति से उत्पन्न ऊर्जा को कोई सही रास्ता नहीं मिल पाया। बल्कि इसके विपरीत उनके सामने शहरी प्रलोभनों के रास्ते खुले थे। फलस्वरूप उनमें बड़ी तेजी से सांस्कृतिक भटकाव आया और ये ग्रामीण युवा भी एक तरह की खोखली संस्कृति के शिकार हो गये और अप्रत्यक्ष रूप से 'इलीट' संस्कृति का ही संपोषण करने लगे। इस तरह की स्थितियों ने फिल्म विधा को एक नया रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

इन ग्रामीण युवकों के साथ एक बात और हुई । जीवन की जद्दोजहद, शहर का व्यक्तिवादी और आत्मविहीन माहौल तथा रोजगार की तलाश ने उसके मन में कुंठा और तनाव पैदा किया । जीवन की निरंतर असफलताओं तथा आत्मनिर्वासन की स्थिति ने उसे क्रुद्ध बना दिया। जब वह शहरी जीवन की असमानताएं देखने लगा, अपने से अयोग्य लोगों को दौड़ में आगे निकलते देखने लगा तो और भी क्रुद्ध हो उठा। राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता भी हिंसा का आश्रय लेने लगी। सामाजिक असुरक्षा तथा स्वयं के मनुष्य न समझे जाने की भावना ने समाज के अधिकांश लोगों को, विशेषकर युवकों को, गुस्से से भर दिया। इन्हीं की अभिव्यक्ति के रूप में हिंसा और प्रतिशोध पर आधारित फिल्में आईं। जो आज सफल हैं। पहले यह हिंसा स्मगलिंग और डाकू जीवन के कथानकों में होती थी। लेकिन अब हिंसा का केन्द्र राजनीतिक फिल्में हो गयी हैं। यह एक खतरनाक संकेत है। यह इस बात का संकेत है

कि समाज अब हिंसा को न्याय के एक अंग के रूप में स्वीकार करने लगा है। यह इस बात का भी संकेत है कि समाज में कानून और व्यवस्था उखड़ रही है। यह मूलतः व्यक्ति की आस्था प्रशासन, पुलिस और न्याय पर से क्रमशः उठती जा रही है और वह अंत में क्रुद्ध होकर व्यक्तिगत प्रतिशोध का सहारा लेता है। वर्तमान फिल्मों में झलकती इस मनोवैज्ञानिकता को गंभीरता से लिया जाना चाहिये।

जिस समय फिल्मों में अश्लीलता और हिंसा बढ़ती चली जा रही थी।उसी समय समाज का एक ऐसा वर्ग भी था, जिसे साफ-सुथरी ऐसी फिल्मों की जरूरत महसूस हो रही थी, जिसे वह परिवार के साथ बैठकर देख सकें। मध्यम वर्ग के इस व्यक्ति में अभी कुछ नैतिक मूल्य शेष थे। वह अपनी कस्बाई मानसिकता से पूरी तरह उबर नहीं पाया था। इन लोगों की इच्छाओं को गुलजार,ऋषिकेश मुखर्जी, बासु भट्टाचार्य आदि निर्देशकों ने समझा और उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन के प्रसंगों को अपनी फिल्मों का आधार बनाया। ऐसा सातवें दशक में हुआ। ऐसी फिल्मों में पारिवारिक संबंधों से संबंधित कथानकों को प्रमुखता मिली। सातवें दशक में संयुक्त परिवार के टूटने के कथानक मिलते हैं, लेकिन आठवें दशक में उसका स्थान दांपत्य संबंधों की टूटन ने ले लिया। वस्तुतः बढ़ते हुए आर्थिक संकट तथा बदलती हुई सामाजिक मान्यताओं का प्रभाव हमारी संपूर्ण सामाजिक संरचना पर पड़ा है। इससे परंपरागत परिवार का ढाँचा टूटा है तथा पारस्परिक संबंधों में दरारें पैदा हुई हैं। हिन्दी फिल्मों से क्रमशः गायब होता जा रहा परिवार इसी सामाजिक सत्य को व्यक्त करता है। व्यक्ति पारिवारिक संबंधों की दरार से उत्पन्न शून्य को भरने की कोशिश करता है। वह नए सामाजिक संबंधों की तलाश करता है, क्योंकि अंततः वह एक सामाजिक प्राणी है। नए संबंधों की इस तलाश का प्रतिबिंब पिछले कुछ वर्षों में बनने वाली उन फिल्मों में मिलता है जिनका विषय दोस्ती है। दोस्ती का यह स्वरूप फिल्मों में हालाँकि प्रधानतः पुरूष - पुरूष के बीच ही है, लेकिन नगरों में छात्र-छात्राओं तथा नौकरीपेशा महिला-पुरूषों में जिस तरह के दोस्ताना संबंध विकसित होते दिखाई पड़ रहे है। उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी फिल्में भी अब शीघ्र ही एक नया मोड़ लेंगी। उसकी संभावना इसलिए भी अधिक है क्योंकि 'स्त्री-पुरूष मित्रता' संबंधी कथानकों का इस्तेमाल फार्मूला के रूप में करना अधिक सुविधाजनक और बिकाऊ होगा।

सातवें दशक के बाद जनता में व्याप्त असंतोष को अपेक्षाकृत अधिक जनवादी आधार मिला। यह आधार रंगमंच, साहित्य तथा कला के अन्य रूपों में दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार यह आधार फिल्मों को भी मिला। इस समय वैचारिक

प्रतिबद्धता से युक्त कुछ ऐसे फिल्मकार आए, जिन्होंने फिल्म कला माध्यम को गंभीरता से लिया। संयोगवश इस वर्ग को फिल्म वित्त निगम से आर्थिक सहायता भी प्राप्त हो गयी। इन फिल्मकारों ने समकालीन यथार्थ की विद्रूपताओं को उजागर किया। इन फिल्मों ने यद्यपि दर्शकों की रूचि को बदलने मे सहायता की है, लेकिन ये फिल्म की मुख्य धारा नहीं बन सकी।

यह सत्य है कि सिनेमा पर समाज में परिवर्तित होते परिवेश एवं मानवीय मूल्यों के विघटन का प्रभाव पड़ा है, किन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि सिनेमा ने उन ढहते मूल्यों और सांस्कृतिक विद्रूपताओं को भव्य अभिव्यक्ति देकर इस पतन की प्रक्रिया को तेज किया है। अब तक की कतिपय फिल्मों को छोड़कर शेष अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता की भूमिका का निर्वहन करने में सर्वथा असफल सिद्ध हुई हैं।

## 1.6 सिनेमा : समग्र चेतना का सशक्त माध्यम

सिनेमा अर्वाचीन युग का सर्वाधिक सशक्त कला माध्यम है। अपने आविष्कार के साथ ही इसने जिस तेजी से संसार को प्रभावित किया है, वह कल्पनातीत है। यह प्रभाव और परिवर्तन भौतिक संसार तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसने मनुष्य के अन्तर्जगत को भी आश्चर्यजनक तरीके से परिवर्तित किया है।

सिनेमा को सर्वाधिक जन एवं समाजोपयोगी सफल सार्थक माध्यम के रूप में इस्तेमाल करने वाला दुनिया का महानतम कलाकार है- चार्ली चैपलिन । चार्ली की फिल्में, चाहे वे मूक ही क्यों न हों सार्थक सिनेमा की नजीर हैं। चार्ली ने इस माध्यम से जिस खूबसूरती और प्रभावी तरीके से सामाजिक विसंगतियों - विषमताओं तथा पूँजीवादी व्यवस्था को बेनकाब किया है, वह अपने आप में ऐतिहासिक और बेमिसाल कारनामा है। आज दुनिया में सर्वाधिक फिल्में हमारे यहाँ बनती हैं और दुनिया में सर्वाधिक पिछड़े, गरीब, अशिक्षित देशों में भी हमारा नाम प्रमुख है। आखिर इस विसंगति एवं विडंबना के मूल में सिनेमा और टेलीविजन जैसे सशक्त माध्यमों का इन बुनियादी सरोकारों से किनारा कर लेना भी तो है। दूसरी तरफ सिनेमा और टी वी ने जिस तेजी से हमारी संस्कृति, सभ्यता और मानवीय मूल्यों से लेकर जीवन शैली तक को लगभग ध्वस्त तथा विषाक्त बना दिया है। हमारी सामाजिक और व्यक्तिगत जिन्दगी में एक अजीब अजनबीपन, दिखावा, खाली और खोखलापन, नकल की फूहड़ता आदि विकृतियों ने जिंदगी के मायने ही बदल दिये है। आज अधिकतर फिल्में और 'सीरियल' धनपतियों के मुनाफे के उत्पाद बना दिये गये हैं और ऊपर से विज्ञापनों के अंधाधुंध तूफानी झोंके दर्शक की चेतना को खतरनाक ढंग

से गुमराह कर रहे हैं। इस सिलसिले में हबीब तनवीर की टिप्पणी एक चेतावनी है - ''विज्ञापनों के माध्यम से जो गलत मूल्य फैलाये जा रहे हैं और नवयुवकों के मन-मस्तिष्क को धोकर सपाट कर देने में लगे हुए हैं, उनको एक अलग खाने में रख दिया गया है। गोया कि इनका शिक्षा में कोई संबंध नहीं। जितनी गलत शिक्षा विज्ञापन के माध्यम से फैलायी जा रही है उसको शिक्षा व्यवस्था से दुरूस्त करना असंभव होता जा रहा है। हालांकि अगर दुरूस्त पॉलिसी अपनाई जाये तो इन दोनों क्षेत्रों में हिन्दुस्तान जैसे अर्द्धविकसित निरक्षर लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से मालामाल देश में एक प्रगतिशील इंकलाब भी पैदा कर सकते हैं।

पश्चिमी दुनिया में जितने भी विकसित देश है, उनमें सिनेमा और टी वी दोनों ही माध्यमों की शक्ति उपयोगिता और महत्व को वहाँ के अकादमिक जगत और समाज के बुद्धिजीवियों ने पहचाना और उसे साहित्य का दर्जा देकर उस पर गम्भीर एवं सार्थक विमर्श की अनिवार्य परम्परा की शुरूआत की। वहाँ इन्हें अकादमिक संस्थाओं में अध्ययन-अध्यापन का विषय बनाया गया है। अमेरिका में लगभग 500 और इंग्लैंण्ड में 100 से अधिक संस्थाओं में सिनेमा का पाठ्यक्रम है। और वे इसके अध्ययन में डिग्री देती है। हमारे यहाँ अभी भी सिनेमा को लेकर अकादमिक और सामाजिक दोनों स्तर के बुद्धिजीवियों एवं लोगों की सोच तर्कहीन और अवैज्ञानिक है। इस संदर्भ में राही मासूम रजा साहब की ये बेबाक पंक्तियाँ है - 'हमारे कथित बुद्धिजीवियों को फिल्म के संबंध में अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। ये फिल्म का नाम सुनते ही नाक-भौं चढ़ाते हैं जैसे कि फिल्म से संबंधित लोग इस सभ्य समाज में शूद्र हों। मैं ऐसे बुजुर्गों और दोस्तों से यह निवेदन करना चाहता हूँ कि यदि फिल्में इतनी ही खराब और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है तो आप उसके विरोध में आवाज क्यों नहीं उठाते, इसलिये मैं बुद्धिजीवियों से अपील करने आया हूँ कि सिनेमा को हेय दृष्टि से न देखिये। यह समझिये कि जैसे अच्छी या बुरी गजल होती है, अच्छा या बुरा नावेल होता है उसी तरह अच्छी या बुरी फिल्म भी होती है .... आप जब तक विद्यार्थियों को यह न बतायेंगे कि अच्छी-बुरी फिल्मों में फर्क करने का तरीका क्या है तब तक वह ब्लैक में बुरी फिल्मों के टिकट खरीदकर देखता रहेगा और अच्छी फिल्मों की तुलना में बुरी फिल्मों की संख्या बढ़ती जायेगी।''

आज हमारे देश में आयातित और आरोपित भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, बाजारीकरण आदि के दमघोंटू माहौल में हमारी युवा पीढ़ी और सामान्यजन विज्ञापन और ग्लैमर की चकाचौंध में चकराया हुआ दिशा-हीनता एवं भविष्यहीन स्थिति में खड़ा है अवसन्न। आज की फिल्में और टी वी के सनसनीखेज

मिथकीय सीरियल उसे और उसकी मानसिकता को कहाँ ले जा रहे हैं? क्या ये फिल्में और ये सीरियल आज के युवा या सामान्यजन को उसके जीवन की ठोस, खुदरी सच्चाइयों का अहसास कराते हैं? क्या ये एक ऐसी दुनिया नहीं दिखा रहे या ऐसी दुनिया में नहीं ले जा रहे जो महज हवाई, नकली और दिखावटी सम्मोहन की ऐसी दुनिया है जहाँ पहुँचकर उसका अपनी तहजीब, वस्तुगत जीवन की वास्तविकताओं से कोई वास्ता नहीं रह जाता, जिनके बीच उसे जीना है, और जब वह अपने परिवार, समाज और देश को दहला देने वाली खौफनाक स्थितियों को जानता-समझता है और उनके बीच जीने की मजबूरी उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करती है तो वह क्रिकेट के रनों को गिनने वाला, ग्लैमर की चकाचौंध में भटकता युवा खुद को इतना लाचार, बेबस अकेला, फालतू और डरा हुआ पाता है कि उससे किसी रचनात्मक, सार्थक सोच या संघर्षशीलता की उम्मीद ही बेमानी हो जाती है। सब कुछ या बहुत कुछ को पाने के लिए बेचैन तथा इसके लिए सब कुछ को छोड़ने को तैयार तथाकथित युवा लगभग चुक गया, हताश और सोच के स्तर पर दीवालिया यह युवा या तो नशे की दुनिया में जाता है या अपराध की अंधी गलियों में या फिर जरा-जरा सी सुविधाओं सहूलियतों के लिए जाने कैसे -कैसे समझौते करने लगता है। यह तस्वीर है- आज के वैश्वीकृत बाजारू भारतवर्ष की, जिसे सिनेमा और टी वी रात-दिन एक करके बना रहे है।सिनेमा और टी वी की इस सर्वव्यापी शक्ति को पश्चिम ने इनके आविष्कार के समय ही पहचान लिया था और इसको बेलगाम होने से बचाने के लिए शुरूआत से ही वहाँ के बुद्धिजीवियों एवं अन्य सचेत लोगों ने इसमें हस्तक्षेप करने के साथ ही इसका देश और जनहित में सार्थक रचनात्मक इस्तेमाल की संभावनाएं तलाशना शुरू कर दिया था। महान व्यंग्य लेखक और नाटककार बर्नार्ड शॉ ने तो इसके शुरूआती दौर (1908 से 1950) में मृत्यु तक इस पर सक्रिय - रचनात्मक विमर्श करते रहे। इनकी सूक्ष्म दूरदर्शी प्रतिभा ने यह जान लिया था कि ‘‘सिनेमा प्रिंटिंग प्रेस से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण साबित होगा, क्योंकि यह शिक्षित और अशिक्षित दोनों को समान रूप से आकर्षित करेगा। उन्होंने यह भविष्यवाणी की थी कि सिनेमा भविष्य में लोगों के दिलों-दिमाग को गढ़ेगा और उनके आचरण को प्रभावित करेगा। साथ ही उन्होंने यह भी पहचान लिया था कि सिनेमा का विराट विस्तार कला और जीवन को सबसे हल्की नैतिकता के स्तर पर उतारकर मामूलीपन को अनिवार्य बनाता है। शॉ यह भी मानते थे कि ‘सिनेमा द्वारा दीक्षित नैतिकता का प्रश्न असाधारण महत्व का है। सिनेमा देश के दिमाग को आकार देगा। देश की चेतना, देश के आदर्श और आचरण की कसौटी वही होगी, जो सिनेमा की होगी। कुछ लोग जो कभी सिनेमाघर के भीतर नहीं घुसे वे सिनेमा की विकराल

अनैतिकता से चिन्तित है। सेंसर व्यवस्था के पक्षधर हैं और सोलह वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए मनाही की मांग कर रहे हैं।एक ओर इस अज्ञानी किस्म की हस्तक्षेपी मनोवृत्ति तथा दूसरी ओर अहस्तक्षेपी की नीति के मध्य किसी समझदारी की उम्मीद नहीं की जा सकती।''

हमारे यहाँ इन दोनों माध्यमों को लेकर या तो उदासीनता है या हिकारत। एक बात और कि हमारा परम्परावादी, रूढ़िग्रस्त समाज अभी भी अपनी मानसिकता या सोच के धरातल पर आधुनिक गतिशील और वस्तुगत या वैज्ञानिक तार्किक नहीं है। अशिक्षा, सदियों की गुलामी का अभ्यास स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक मूल्यों की समझ की कमी हमारी बहुसंख्यक आबादी को आज भी बौद्धिक एवं सोच के स्तर पर कहीं पीछे किये हुए हैं। इनके खिलाफ आज तक कोई कारगर एवं सार्थक संघर्ष और प्रयास भी तो नहीं हुए। महज रस्मी तथा कागजी खानापुरी की गई। नतीजतन हमारे देश का अपढ़ ही नहीं तथाकथित पढ़ा-लिखा तबका भी जीवन एवं जगत के प्रति चमत्कारवादी, भाग्यवादी, ग्रह और नक्षत्रवादी सोच का शिकार है। मीडिया इनके इस मानसिक दीवालिएपन को अच्छी तरह समझता है। तभी तो विज्ञापनों की भीड़ में चमत्कारी हवाई और उत्तेजक, फूहड़ फिल्मों और सीरियलों की सर्वग्रासी बाढ़ सी आयी हुई है क्योंकि दिखाकर, सुनाकर विश्वास दिलाने में आज कल सरकार से भी आगे निकल गयी है- विज्ञापन विद्या। इसमें 'अप्लाइड' साइंस ही नहीं, 'अप्लाइड लिटरेचर' का भी भरपूर इस्तेमाल हो रहा है। कला का इतना सूक्ष्म-सघन, वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक और इतना प्रभावी इस्तेमाल धर्म के अलावा फिल्मों-विज्ञापनों में ही हो रहा है ... सिनेमा लोगों की वेश-भूषा हेयर स्टाइल, फैशन आदि को तो प्रभावित करता ही है मुहावरों, भाषा, आदतों तक पर सही-गलत प्रभाव डालता है ... सिनेमा आज किसी भी राजनेता, किसी भी विचार-विचारधारा, किसी भी संगठन से अधिक व्यापक प्रभाव डालने वाली, जोड़ने वाली और लोकप्रिय परिघटना है। अभी तो सिनेमा की सारी संभावनाएं इस देश में उजागर भी नहीं हुई हैं। अब तो सिनेमा को गंभीरता से लिया ही जाना चाहिये।''

सिनेमा और टी वी से संबंधित जागरूकता, समझ और चेतना पैदा करके ही इनके जनोपयोगी, सामाजिक और राष्ट्रीय हित में इस्तेमाल की संभावनाएँ अधिक से अधिक पैदा की जा सकती हैं । इसके अतिरिक्त नाटक की तरह सिनेमा को भी पाठ्यक्रम का अनिवार्य हिस्सा बनाया जाना आज के समय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण जरूरत है ताकि युवा पीढ़ी में अच्छे और बुरे सिनेमा में फर्क करने की समझ और सिनेमा की जीवन-व्यापी, परिवर्तनकारी शक्ति और प्रभाव का ज्ञान हो। दरअसल

"सिनेमा का दर्शक सिनेमा से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं; यह और बात है कि स्वीकार और अस्वीकार के अपने व्यक्तिगत मानदंडों की कसौटी पर सिनेमा को स्वीकार एवं अस्वीकार करता रहता है। जबकि हमारा बुद्धिजीवी वर्ग अपना यह कर्तव्य पूरा नहीं करता। धीरे-धीरे इल्म (ज्ञान) 'क्लोजअप' बनता जा रहा है अपने 'लाँग शॉट' से कटा हुआ। सिनेमा साहित्य की एक विधा है इसे भी उन्हीं तकाजों को पूरा करना है जो दूसरी साहित्यिक विधाएं पूरी करती है। यानी वह प्रचार या प्रोपेगेंडा नहीं है वह लोगों को सुख प्रदान करता है तथा इस सुख से वह समाज को स्वस्थ बनाने की लड़ाई लड़ता है। जो फिल्म इस कर्त्तव्य को पूरा नहीं करती वह त्रुटिपूर्ण है। आज तो हालात यह है कि कुछेक अपवादों को छोड़कर पूरा मीडिया मुनाफाखोरों, माफियाओं और बहुराष्ट्रीय निगमों की कभी सन्तुष्ट न हो सकने वाली धन की भूख का माध्यम बन के रह गया है। कर्तव्य, जनचेतना आदि का तो सवाल ही नहीं है उनके सामने। जबकि पश्चिमी दुनिया में इस पर साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों और समाज के सचेत लोगों का सक्रिय हस्तक्षेप होने के कारण स्थिति बिल्कुल विपरीत है। यहाँ पर गोर्की का स्मरण स्वाभाविक है जिनकी समीक्षात्मक टिप्पणियां सिनेमा के इतिहास का महत्वपूर्ण इस्तावेज है। मारखेज जैसे, प्रतिबद्ध साहित्यकार ने समान शिद्दत से सिनेमा विधा को भी स्वीकार किया। पश्चिमी सिनेमा में तो ग्राहम ग्रीन, जार्ज बर्नाड शॉ, हेमिंग्वे, विलियम फॉकनर, आर्सनवेल्स, समरसेट माम जैसे महान लेखकों ने फिल्म लेखन में शामिल होकर रचनात्मक प्रोफेशनल लेखकों की एक संस्कारशील जमात खड़ी कर दी, जिसने पश्चिमी सिनेमा को सांस्कृतिक कथ्य और सार्थक प्रतिवाद का माध्य बना दिया । इतना ही नहीं पश्चिमी रचनाकारों को विश्वस्तर पर शोहरत तथा महत्ता दिलाने में सिनेमा का योगदान ऐतिहासिक है। वे चाहे शेक्सपियर हो, टाल्सटॉय, चेखब, ब्रेष्ट, मोपासा और चार्ल्स डिकेन्स हों, प्रायः सभी महान रचनाकारों की रचनाओं पर फिल्में बनी । हमारे यहाँ भी प्रेमचन्द, रेणु , शैलेन्द्र, पंत, भगवतीचरण वर्मा, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मंटो, राही, ख्वाजा अहमद अब्बास, बेदी के अलावा बांग्ला भाषा में विमल राय, सत्यजित रे, आदि रचनाकारों के अतिरिक्त लगभग सभी भारतीय भाषाओं के लेखकों ने इस माध्यम की शक्ति और प्रभाव को पहचाना तथा यथासंभव इसे रचनात्मक चेतना का वाहक बनाने की कोशिश की। लेकिन, आज स्थिति बहुत भयावह और दहलाने वाली है। सार्थक सिनेमा आज के हालात में निरर्थक हो गया लगता है। पहले संवेदना को कुरेदने वाले लम्बे दृश्य हमारे मानवीय स्वभाव को जीवित रखने में सहायक होते थे। आँसू सिनेमा की सफलता का एक नुस्खा था। वास्तव में परदे के पात्रों के लिए जब हम सुबकियाँ भरते थे, तो यह जितना उनके लिए होता था, उतना ही समान स्थिति

में रह रहे अपने आस- पास के लोगों के लिए भी होता था। सिनेमा हॉल का रोना चाहे-अनचाहे हमारे स्वभाव की तरलता कायम रखने में सहायक होता था। आज अपने दर्शकों को हम अधिक दुःख नहीं पहुँचा सकते। दुःख देखने की उनकी आदत खत्म हो गई है। बस मजा-मजा और मजा। तनाव, आँसू, भूख बिल्कुल नहीं। भरपूर अमीरी, भरपूर रंग, भरपूर तकनीक, भरपूर संगीत ।

अंत में, गत वर्ष शहीदे आजम भगतसिंह पर बनी एक साथ तीन फिल्मों की ऐतिहासिक भूलों पर संक्षिप्त चर्चा । इन तीनों में भगतसिंह की मंगेतर का मामला जिसे प्रेमिका के रूप में पेश किया गया और दूसरी यह कि इनमें गाँधी जी को भगतसिंह के सामने लगभग अपराधी की तरह दिखाया गया, जबकि वस्तुतः ऐसा बिल्कुल नहीं है। यह गलतियाँ बहुत ही खतरनाक किस्म की है। भगतसिंह के व्यक्तित्व और उनके जीनियस का मखौल उड़ाने वाली ये हरकतें आने वाली पीढ़ी को भ्रमित करने के लिए काफी है। दरअसल ये फिल्में ऐसे दौर में निर्मित हुई हैं जब भगतसिंह के बारे में युवा पीढ़ी सिर्फ इतना ही जानती हैं कि इन्होंने फाँसी की सजा हंसते हुए कुबूल की थी। अपने बचाव के लिए उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया था। बेवकूफ था भगतसिंह कि वह हंसते-हंसते फाँसी पर चढ़ गया था। क्या जरूरत थी उसे ऐसा करने की। सरकारी गवाह बन जाता तो ऐश करता, ऐसे वाक्य आज के बाजारवाद की गिरफ्त में फँसे युवाओं के मुँह से यदाकदा निकलने शुरू हो चुके हैं। इसीलिए इन सतही फिल्मों पर गंभीरता से अवश्य बात होनी चाहिये। इनके अतिरिक्त भी इन फिल्मों में बहुत सारी काल्पनिक बातें जिनका भगतसिंह से कोई सरोकार नहीं था और बहुत से महत्वपूर्ण तथ्य लगता है सुनियोजित तरीके से छिपाये गये हैं या बदल दिये गये है। आज जिस तरीके से महज व्यावसायिकता और आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखकर सिनेमा का दुरूपयोग हो रहा है उनके कारण युवा पीढ़ी के सारे मानदंड, आदर्श और उद्देश्य बदल रहे हैं। मात्र भौतिक उद्देश्य और उपभोक्तावादी सोच ने सही गलत के अंतर को इस कदर गडमड कर दिया है कि सही, गलत लगता है और गलत, सही। इसीलिए आज के समाज में हिंसा, भ्रष्टाचार, शोषण, व्यभिचार, अत्याचार आदि के खिलाफ विरोध या विद्रोह तो दूर इन्हें अपनाकार आज का युवा अपने जीवन में सफलता की मंजिलें पाना चाहता हैं और हमारी शिक्षा और विकास का ग्राफ बढ़ता जा रहा है। मेरी समझ से आज शिक्षा की पूर्ण सार्थकता सिनेमा की सही समझ के बिना अधूरी है क्योंकि जीवन के हर मोड़ पर सिनेमा हमारा पीछा कर रहा है। अतः सिनेमा को बाकायदा साहित्य विषय के पाठ्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिये। जैसे साहित्यलोचना के मानदंड

होते हैं। उसी तरह फिल्म समीक्षा के मानदंडों का निर्धारण भी अकादमिक स्तर पर होना चाहिये। सिनेमा की समाज में पहुँच क्योंकि लिखे शब्द से कही अधिक है। अतः साहित्य और समाजशास्त्र विषय, फिल्म जैसी ताकतवर विद्या को अनदेखा नहीं कर सकते। सिनेमा की बेपनाह ताकत के अतिरिक्त साहित्य की शिक्षा और समझ के लिए भी सिनेमा को साहित्य के रूप में स्वीकार कर उसे साहित्य के पाठ्यक्रम में शामिल करना आवश्यक है।

## 1.7 सिनेमा और जीवन का सहसम्बन्ध

सिनेमा और जीवन का गहरा सम्बन्ध है। सिनेमा का व्यवसाय समाज और जीवन पर आधारित है। व्यवसाय का नियम है कि जो माल ज्यादा खपे, उसकी तैयारी में लगें। अगर जनता को ताड़ी, शराब में रूचि है तो वह ताड़ी, शराब की दुकानें खोलेगा और खूब धन कमायेगा। उसे इससे प्रयोजन नहीं कि ताड़ी, शराब से जनता को कितनी दैहिक, आत्मिक, चारित्रिक, आर्थिक और पारिवारिक हानि पहुँचती है। उसके जीवन का उद्देश्य तो धन है और धन कमाने का कोई भी साधन वह नहीं छोड़ सकता। यह काम उपदेशकों और संतों का है कि वे जनता में संयम और निषेध का प्रचार करें। 'बिजनेस इज बिजनेस' यह वाक्य सभी की जबान पर रहता है। इसका अर्थ यही है कि कारोबार में धर्म और अधर्म उचित और अनुचित का विचार नहीं किया जा सकता। बल्कि उसका विचार करना बेवकूफी है।

इसमें विद्वानों में मतभेद हो सकता है कि आदमी का पूर्व पुरूष बंदर है या भालू, लेकिन इससे तो सभी सहमत होंगे कि आदमी में दैविकता भी है और पाश्विकता भी । अगर आदमी एक वक्त में किसी की हत्या कर सकता है तो दूसरे अवसर पर किसी की रक्षा में अपने प्राणों का होम भी कर सकता है। जो पशुत्व है उसका दमन करके उसमें जो देवत्व है उसको जगाया जाए। उसमें जो निम्न भावनाएं हैं उनको दबाकर या मिटाकर कोमल और सुंदर वृत्तियों को सचेत किया जाए। साहित्य और काव्य में भी ऐसे समय आए हैं और आते रहते हैं जब सुंदर का पक्ष निर्बल हो जाता है और वह असुंदर , वीभत्स और दुर्वासन का राग अलापने लगता है। लेकिन जब ऐसा समय आता है तो हम उसे पतन का युग कहते है। इसी उद्देश्य से साहित्य और कला में केवल मानव जीवन की नकल करने को बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया जाता और आदर्शों की रचना करनी पड़ती है । आदर्शवाद का ध्येय यही है कि वह सुंदर और पवित्र की रचना करके मनुष्य में जो कोमल और ऊंची भावनाएं हैं उन्हें पुष्ट करे और जीवन के संस्कारों से मन और हृदय में जो गर्द और मैल जम रहा हो, उसे साफ कर दे। किसी साहित्य की महत्ता की जांच यही है

कि उसमें आदर्श चरित्रों की सृष्टि हो। हम सब निर्बल जीव हैं। छोटे-छोटे प्रलोभनों में पड़कर हम विचलित हो जाते हैं। छोटे- छोटे संकटों के सामने हम सिर झुका देते हैं और जब हमें अपने साहित्य में ऐसे चरित्र मिल जाते हैं जो प्रलोभनों को पैरों - तले रौंदते और कठिनाइयों को धकियाते हुए निकल जाते हैं तो हमें उनसे प्रेम हो जाता है हममें साहस का जागरण होता है और हमें अपने जीवन का मार्ग मिल जाता है।

अगर सिनेमा इसी आदर्श को सामने रखकर अपने चित्रों की सृष्टि करता तो वह आज संसार की सबसे बलवान संचालक शक्ति होता, मगर खेद है कि इसे कोरा व्यवसाय बनाकर हमने उसे कला के ऊँचे आसन से खींचकर ताड़ी या शराब की दुकान की सतह तक पहुँचा दिया है, और यही कारण है कि अब सर्वत्र यह आंदोलन होने लगा है कि सिनेमा पर नियंत्रण रखा जाए और उसे मनुष्य की पशुताओं को उत्तेजना देने की कुप्रवृत्ति से रोका जाए।

जिस जमाने में बंबई में कांग्रेस का जलसा था, सिनेमा हाल अधिकांशतः खाली रहते थे और उन दिनों जो दिखाए गये उन्हें घाटा ही रहा। इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है कि जनता के विषय में जो ख्याल है कि वह मारकाट और सनसनी पैदा करने वाली और शोर-गुल से भरी हुई तस्वीरों को ही पसंद करती है, वह भ्रम है। जनता प्रेम और त्याग अथवा मित्रता और करूणा से भरी हुई तस्वीरों को और भी रूचि से देखना चाहती है। मगर हमारे सिनेमावालों ने पुलिसवालों की मनोवृत्ति से काम लेकर यह समझ लिया है कि केवल भद्दे, मसखरेपन और भड़ैती और बलात्कार और सौ फीट की ऊंचाई से कूदने, झूठ-मूठ टीन की तलवार चलाने में ही जनता को आनंद आता है और कुछ थोड़ा सा आलिंगन और चुंबन तो मानो सिनेमा के लिए उतना ही जरूरी है जितना देह के लिए आँखें। बेशक जनता वीरता देखना चाहती है। प्रेम के दृश्यों में भी जनता को रूचि है, लेकिन यह ख्याल कि आलिंगन और चुंबन के बिना प्रेम का प्रदर्शन हो ही नहीं सकता, और केवल नकली तलवार चलाना ही जवांमर्दी है और बिना जरूरत गीतों का लाना सुरूचि है और मन और कर्म की हिंसा में ही जनता को आनंद आता है, मनोविज्ञान का बिल्कुल गलत अनुमान है। कहा जाता है कि (शेक्सपीयर के शब्दों में) जनता अबोध बालक है और वह जिन बातों पर एकांत में बैठकर घृणा करती है या जिन घटनाओं को अनहोनी समझती है, उन्हीं पर सिनेमा हाल में बैठकर उल्लास से तालियां बजाती है। इस कथन में सत्य है सामूहिक मनोविज्ञान की यह विशेषता अवश्य है लेकिन अबोध बालक को क्या माँ की गोद

पसंद नहीं? जनता नग्नता और फक्कड़ता और भड़ैती ही पसंद करती है। उसे चूमा-चाटी और बलात्कार में ही मजा आता है। तो क्या उसकी इन्हीं आवश्यकताओं को मजबूत बनाना हमारा काम है? व्यवसाय को भी देश और समाज के कल्याण के सामने झुकना पड़ता है। स्वदेशी आंदोलन के समय में किसकी हिम्मत थी जो बिजनेस इज बिजनेस की दुहाई देता? बिजनेस से अगर समाज का हित होता है तो ठीक है वर्ना ऐसे बिजनेस में आग लगा देनी चाहिये। सिनेमा अगर हमारे जीवन को स्वस्थ आनंद दे सके, तो उसे जिंदा रहने का हक है। अगर वह हमारे क्षुद्र मनोवेगों को उकसाता है इममें निर्लज्जता और धुर्तता और कुरूचि को बढ़ाता है और हमें पशुता की ओर ले जाता है तो जितनी जल्द उसका निशान मिट जाए, उतना ही अच्छा।

और अब यह बात धीरे-धीरे समझ में आने लगी है कि अर्धनग्न तस्वीरें दिखाकर और नंगे-नाचों का प्रदर्शन करके जनता को लूटना इतना आसान नहीं रहा । ऐसी तस्वीरें अब आम तौर पर नापसंद की जाती है और यद्यपि अभी कुछ दिनों जनता की बिगड़ी हुई रूचि आदर्श चित्रों को सफल न होने देगी लेकिन प्रतिक्रिया बहुत जल्द होने वाली है और जनमत अब सिनेमा में सच्चे और संस्कृत जीवन का प्रतिबिंब देखना चाहता है, राजाओं के विलासमय जीवन और उनकी ऐयाशियों और लड़ाइयों से किसी को प्रेम नहीं रहा।

अक्सर लोगों का ख्याल है कि जब से सिनेमा 'सवाक्' हो गया है यह साहित्य का अंग हो गया, और साहित्य-सेवियों के लिए कार्य का एक नया क्षेत्र खुल गया है। साहित्य भावों को जगाता है, सिनेमा भी भावों को जगाता है, इसलिए वह भी साहित्य है। लेकिन प्रश्न यह होता है - कैसे भावों को? साहित्य वह है जो ऊंचे और पवित्र भावों को जगाए, जो सुंदरम को हमारे सामने लाए। अगर कोई पुस्तक हमारी पशु भावनाओं को प्रबल करती है, तो हम उसे साहित्य में स्थान न देंगे। पारसी स्टेज के ड्रामों को हमने साहित्य का गौरव नहीं दिया। इसीलिए कि 'सुंदरम' का जो साहित्यिक आदर्श अव्यक्त रूप से हमारे मन में है, उसका वहाँ कहीं पता न था। होली और कजली और बारहमासे की हजारों पुस्तकें आए दिन छपा करती है, हम उन्हें साहित्य नहीं कहते । साहित्य में भावों की जो उच्चता, भाषा की जो प्रौढ़ता और स्पष्टता, सुंदरता की जो साधना होती है वह हमें वहां नहीं मिलती। हमारा ख्याल है कि हमारे चित्र-पटों में भी वह बात नहीं मिलती। उनका उद्देश्य केवल पैसा कमाना है। सुरूचि या सुंदरता से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। यह तो जनता को वही चीज देंगे जो वह मांगती है । व्यापार, व्यापार है। वहाँ अपने नफे के सिवा और किसी बात

का ध्यान करना ही वर्जित है। व्यापार में भावुकता आई और व्यापार नष्ट हुआ। वहाँ तो जनता की रूचि पर निगाह रखनी पड़ती है और चाहे संसार का संचालन देवताओं के ही हाथों में क्यों न हो, मनुष्य पर निम्न मनोवृत्तियों का राज्य होता है। अगर आप एक साथ दो तमाशों की व्यवस्था करें - एक तो किसी महात्मा का व्याख्यान हो, दूसरा किसी वेश्या का नग्न नृत्य, तो आप देखेंगे कि महात्मा जी तो खाली कुरसियों को अपना भाषण सुना रहे हैं और वेश्या के पण्डाल में तिल रखने को जगह नहीं। 'मुंह पर राम-राम बगल में छुरी' वाली कहावत जितनी ही लोकप्रिय है, उतनी ही सत्य भी। वहीं भोला-भाला ईमानदार ग्वाला जो अभी ठाकुरद्वारे से चरणामृत लेकर आया है, बिना किसी झिझक के दूध में पानी मिला देता है। वही बाबूजी जो अभी किसी कवि की एक सूक्ति पर सिर धुन रहे थे, अवसर पाते ही एक विधवा से रिश्वत के दो रूपये बिना किसी झिझक के लेकर जेब में दाखिल कर लेते हैं। उपन्यासों में भी ज्यादा प्रचार डाके और हत्या से भरी हुई पुस्तकों का होता है। अगर पुस्तकों में कोई ऐसा स्थल है जहाँ लेखक ने संयम की लगाम ढीली कर दी हो तो उस स्थल को लोग बड़े शौक से पढ़ेंगे, उस पर लाल निशान बनाएंगे, उस पर मित्रों से बहस - मुबाहसे करेंगे। सिनेमा में भी वही तमाशे खूब चलते है जिनसे निम्न भावनाओं की विशेष तृप्ति हो। वही सज्जन, जो सिनेमा की कुरूचि की शिकायत करते फिरते हैं, ऐसे तमाशों में सबसे पहले बैठे नजर आते हैं। साधु तो गली -गली भीख मांगते हैं, पर वेश्याओं को भीख मांगते किसी ने नहीं देखा होगा। इसका आशय यह नहीं कि ये भिखमंगे साधु वेश्याओं से ऊँचे हैं - लेकिन जनता की दृष्टि में वे श्रद्धा के पात्र हैं। इसलिए हर एक सिनेमा प्रोड्यूसर चाहे वह समाज का कितना बड़ा हितैषी क्यों न हो, तमाशे में नीची मनोवृत्तियों के लिए काफी मसाला रखता है, नहीं तो उसका तमाशा ही न चले। बंबई के एक प्रोड्यूसर ने ऊँचे भावों से भरा हुआ एक खेल तैयार किया, मगर बहुत हाय-हाय करने पर भी जनता उसकी ओर आकर्षित न हुई। 'पास' के अन्धाधुन्ध वितरण से रूपये तो नहीं मिलते । आमंत्रित सज्जनों और देवियों ने तमाशा देखकर मानो प्रोडयूसर पर एहसान किया और बखान करके मानो उसे मोल ले लिया। उसने दूसरा तमाशा जो तैयार किया, वह वही बाजारू ढंग का था और वह खूब चला। पहले तमाशे से जो घाटा हुआ था, वह इस दूसरे तमाशे से पूरा हो गया। जिस शौक से लोग शराब और ताड़ी पीते हैं। उसके आधे शौक से दूध नहीं पीते। 'साहित्य' दूध होने का दावेदार है, सिनेमा ताड़ी या शराब की भूख को शांत करता है। जब तक साहित्य अपने स्थान से उतरकर और अपना चोला बदलकर शराब न बन जाए, उसका वहाँ निर्वाह नहीं। साहित्य के सामने आदर्श है, संयम है, मर्यादा है। सिनेमा के लिए इनमें से

किसी वस्तु की जरूरत नहीं। सेंसर बोर्ड के नियंत्रण के सिवा उस पर कोई नियंत्रण नहीं। जिसे साहित्य की 'सनक' है। वह कभी कुरूचि की ओर जाना स्वीकार न करेगा। मर्यादा की भावना उसका हाथ पकड़े रहती है। अतः हमारे साहित्यकारों के लिए, जो सिनेमा में हैं, वहां केवल इतना ही काम है कि वे डाइरेक्टर साहब के लिखे हुए गुजराती, मराठी या अंग्रेजी कथोपकथन को हिन्दी में लिख दें। डाइरेक्टर जानता है कि सिनेमा के लिए जिस 'रचना कला' की जरूरत है वह लेखकों में मुश्किल से मिलेगी, इसलिए वह लेखकों से केवल उतना ही काम लेता है जितना वह बिना किसी हानि के ले सकता है। अमेरिका और अन्य देशों में भी साहित्य और सिनेमा में सामंजस्य नहीं हो सका और न शायद हो ही सकता है। साहित्य जन-रूचि का पथ- पदर्शक होता है, उसका अनुगामी नहीं। सिनेमा जन-रूचि के पीछे चलता है, जनता जो कुछ मांगे वही देता है। साहित्य हमारी सुन्दर भावना को स्पर्श करके हमें मतावला बनाता है और इसकी दवा प्रोड्यूसर के पास नहीं। जब तक एक चीज की मांग है, वह बाजार में आयेगी। कोई उसे रोक नहीं सकता। अभी वह जमाना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का रूप एक होगा। लोक रूचि जब इतनी परिष्कृत हो जाऐगी कि वह नीचे ले जाने वाली चीजों से घृणा करेंगी, तभी सिनेमा में साहित्य की सुरूचि दिखाई पड़ सकती है।

## 1.8 सारांश

वस्तुतः सिनेमा एक ललित कला है। उसका रूप व्यापक और गम्भीर है। सिनेमा अनेक सोपानों से होकर अपनी यात्रा पूर्ण करता है। उसकी अस्मिता समाज की अस्मिता से तादात्म्य स्थापित करती है। समाज का वर्ग संघर्ष, समाज की राजनीति, वर्तमान सन्दर्भ आदि को कथावस्तु का माध्यम बनाकर सिनेमा अपना सफर पूरा करता है। समाज में रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य को दृष्टि में रखकर अपने लिए एक भूमिका चयनित करनी होती है और यही भूमिका समाज के वृहत्तर रंगमंच (थियेटर) पर प्रत्येक सामाजिक सम्बन्धों का नियमन करती है। समाज एक ऐसा मानव संगठन है, जो एक विशिष्ट प्रकार की जीवन शैली को विकसित कर उसका अनुगमन करता है। समाज की इन्हीं प्रक्रियाओं से होकर सिनेमा की सर्जनात्मक यात्रा का उत्कर्ष होता है। समाज की पृष्ठभूमि और उसका नीति -नियमन सन्दर्भ ही सिनेमा का वास्तविक आधार है। सिनेमा पूर्णतः समाज पर आधृत है। वह कभी भी समाज की भूमिका को अस्वीकृत नहीं कर सकता है। सिनेमा और समाज का सम्बन्ध क्षीर-नीरक तिल-तण्डुलक और कुच-कञ्चुक के समान है। आज सिनेमा समाज से एकाकार हो गया है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि सिनेमा

साम्प्रतिक समाज की एक मूलभूत आवश्यकता बन गया है। कभी-कभी हम समाज की जिन विसंगतियों की बगावत करना चाहते हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से उनका विरोध नहीं कर पाते है, उन्हें सिनेमा एक चुनौती की तरह स्वीकार करता है और उस आवाज को जनता की अदालत में प्रस्तुत करता है। सिनेमा का न्याय सदैव जनता की अदालत में होता है। जनता ही उसके लिए सब कुछ है। इस तरह सिनेमा, समाज और समाज के कारण जनता एक- दूसरे के अभिन्न अंग हैं ।

## 1.9 शब्दावली

1. **ललित कला –** कलाओं को सामान्यतः दो वर्गों में विभक्त किया जाता है - ललित कला तथा उपयोगी कला। ललित कला के अन्तर्गत वास्तुकला अथवा स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, और काव्यकला ये पाँच भेद माने जाते हैं। इनमें से प्रथम तीन, अर्थात वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला को दृश्य माना गया है तथा संगीत कला और काव्यकला को प्रमुखता श्राव्य कहा जाता है। ललित कलाएँ मनुष्य के सौन्दर्य बोध की विकसित अवस्थाओं की परिचायक है। ललित कलाएं गौण रूप से उपयोगी भी हो सकती हैं, परन्तु प्रमुखतः वे अलौकिक आनन्द की सिद्धि में ही सहायक सिद्ध होती हैं। इस दृष्टि से सामान्यतः कला कहने से ललित कला का ही बोध होता है।

## 1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ


1. 'कलावार्ता', हबीब तनवीर, म.प्र. कला परिषद, भोपाल, अंक -103 पृष्ठ - 104
2. 25 नवम्बर 1991 को अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ में डॉ. राही मासूम रजा द्वारा दिया गया अंतिम ऐतिहासिक वक्तव्य जो अभिनव कदम पत्रिका, संपादक- चन्द्रदेव राय, जय प्रकाश धूमकेतु द्वारा 223 प्रकाश निंकुज, जिनामुदीनपुरा, मऊनाथ भंजन, मऊ (उ.प्र.) द्वारा प्रकाशित नवंबर 2001 - अक्टूबर 2002 अंक में प्रकाशित किया गया है । पृष्ठ 182-183
3. वर्तमान साहित्य (मासिक) सदी का सिनेमा संपादक - मृत्युंजय, प्रथम तल, मुकुंदनगर, हापुड़ रोड, गाजियाबाद से प्रकाशित अंक अगस्त-दिसम्बर 02, पृष्ठ -3
4. उपर्युक्त - पृष्ठ 3-4

5. वागर्थ (मासिक) प्रकाशक - भारतीय भाषा परिषद्, 36-ए, शेक्सपियर सारणी, कोलकाता, जनवरी 2004. ले0- डॉ. लाल बहादुर वर्मा, पृष्ठ - 41-42

6. सिनेमा और संस्कृति ले. - डॉ. राही मासूम रजा, पृष्ठ 23

7. कथादेश (मासिक) प्रकाशक - सहयात्रा प्रकाशक प्रा. लि., सी-52/जेड-3 दिलशाद गार्डन, दिल्ली, अंक दिसम्बर - 2003 पृष्ठ - 85 लेखक - विनोद अनुपम

8. उपर्युक्तानुसार अंक नवम्बर- 2003 पृष्ठ (डी-क्लास करता है सिनेमा)

9. पल-प्रतिपल (त्रैमासिक) प्रकाशक - आधार प्रकाशन प्रा. लि., एस.सी.एफ. 267 सेक्टर 16, पंचकूला (हरियाणा) मार्च लून (संयुक्तांक) 2003, लेखक - हरि मृदुल, पृष्ठ -269

10. अभिनव कदम (अनियतकालीन पत्रिका) नवम्बर 2001- अक्टूबर 2002, अंक 6-7 में नमिता सिंह, का लेख पृष्ठ- 298 प्रकाशक 223 प्रकाश निकुंज,पावर हाऊस रोड, निजामुद्दीनपुरा, मऊनाथ भंजन, मऊ (उ.प्र.)

## 1.11 सम्बन्धित प्रश्न

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. समाज का आशय स्पष्ट करें।
2. समाज की परिभाषा लिखें।
3. समाज का स्वरूप क्या है।
4. सिनेमा का समाजशास्त्र क्या है।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. समाज की परिभाषा देते हुये उसके स्वरूप की विवेचना कीजिए।
2. सिनेमा, समाज और राजनीति के सम्बन्ध को व्याख्यायित करें।
3. हिन्दी सिनेमा के समाजशास्त्र की व्याख्या कीजिए।
4. सिनेमा और जीवन का सह-सम्बन्ध क्या है।

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ललितकला का जन्म कहाँ होता है -

(क) समाज में (ख) विश्वविद्यालय में

(ग) सरकारी संस्थान में (घ) औषधालय में

2. मनुष्य कैसा प्राणी है -

(क) असामाजिक प्राणी (ख) सामाजिक प्राणी

(ग) सरकारी प्राणी (घ) सहकारी प्राणी

3. सिनेमा को कितने वर्गों में बाँटा गया है -

(क) 5 (ख) 2

(ग) 3 (घ) 7

4. मूल रूप से भावात्मक फिल्मों का समय कब तक माना जाता है-

(क) 1995 ई. तक (ख) 1980 ई. तक

(ग) 1965 ई. तक (घ) 1970 ई. तक

5. शहर का धनिक वर्ग किस संस्कृति की ओर आकर्षित हुआ -

(क) रामतारा संस्कृति (ख) पंचतारा संस्कृति

(ग) ग्रामीण संस्कृति (घ) आध्यात्मिक संस्कृति

**वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर**

1. (क) 2. (ख) 3. (ख) 4. (घ) 5. (ख)

## इकाई - 3 और 4( संयुक्त ) : सिनेमा और साहित्य

## इकाई की रूपरेखा-


3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 सिनेमा क्या है

3.3 साहित्य का स्वरूप

3.3.1 साहित्य का अर्थ

3.3.2 साहित्य और समाज का अन्तर्सम्बन्ध

3.4 साहित्य का प्रयोजन

3.4.1 पौर्वात्य दृष्टि

3.4.2 पाश्चात्य दृष्टि

3.4.3 साहित्य प्रयोजन का अर्थ

3.5 साहित्य के प्रयोजन में सिनेमा की सार्थकता

3.6 साहित्य और सिनेमा के सम्बन्ध

3.7 सिनेमा में साहित्य

3.8 सारांश

3.9 शब्दावली

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.11 सम्बन्धित प्रश्न


## 3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे कि -

- सिनेमा क्या है?
- साहित्य के स्वरूप को समझ सकेंगे ।
- साहित्य का अर्थ स्पष्ट कर सकेंगे ।

- साहित्य और समाज का अन्तर्सम्बन्ध क्या है?
- साहित्य के प्रयोजन से परिचित हो सकेंगे ।
- भारतीय दृष्टि में साहित्य का प्रयोजन क्या है?
- पाश्चात्य दृष्टि में साहित्य का प्रयोजन क्या है? इसे भी समझ सकेंगे।
- साहित्य के प्रयोजन में सिनेमा की सार्थकता को समझ सकेंगे।
- साहित्य और सिनेमा के सम्बन्ध के विषय में जान सकेंगे।
- सिनेमा में साहित्य के विषय में जान सकेंगे।
- सिनेमा के द्वारा दिखाये जाने वाले यथार्थ का मूल्यांकन कर सकेंगे।

## 3.1 प्रस्तावना

सिनेमा और साहित्य दोनों ही ललित कला के दो धरातल हैं। सिनेमा दृश्य माध्यम है, साहित्य श्रव्य माध्यम है। भारतीय साहित्य में प्रारम्भ से ही दृश्य और श्रव्य नाम्नी दो विधाओं का उद्‌भव और विकास हुआ है। दृश्य माध्यम का प्रतिनिधित्व नाट्य साहित्य करता है और श्रव्य माध्यम के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, स्फुटकाव्य, आख्यानकाव्य, गद्यकाव्य आदि आते हैं। यद्यपि आज काव्य का अर्थ कविता (Poem) और गद्य का अर्थ (Prose) होता है किन्तु प्रारम्भ में काव्य का आशय साहित्य होता था, जिसके अन्तर्गत पद्य, गद्य आदि विधाएँ सम्मिलित थीं। साहित्य का एक विभाग दृश्य काव्य कहलाता है, जिसे नाट्य अथवा नाटक कहते हैं। कालान्तर में नाट्य विधा के साथ एकांकी का योग हुआ। कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात कथा साहित्य का विकास सिनेमा के लिए पटकथा के रूप में हुआ। साहित्यकार के द्वारा सृजित चरित्र रूपहले परदे पर थिरकने लगे।

आज का युग मशीन का युग कहा जाता है। इस युग में व्यक्ति की ललित चेतना शुष्क हुई है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य की कलात्मकता को पंगु बनाकर रख दिया है। बाजारवाद के हाथों की कठपुतली बनकर रह गया है आज का मानव। ऐसे विकट समय में उसे साहित्यानुशीलन के लिए अवसर निकाल पाना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। इस नाजुक मोड़ पर उसका हाथ

सिनेमा ने थामा है। सिनेमा, साहित्य को जीवन्त करने का एक सशक्त माध्यम है। आज इसी के माध्यम से हम रामायण, महाभारत जैसे ग्रन्थों की कथाओं को अक्षिगत कर सके हैं। इतिहास की घटनाओं को परदे पर जीवन्त होते देख चुके हैं। सिनेमा आज एकांगी नहीं है। आज सिनेमा भूमण्डलीकरण का पर्याय बन चुका है। ऐसी स्थिति में सिनेमा और साहित्य की युगलबन्दी की असीम सम्भावनाएं हैं।

## 3.2 सिनेमा क्या है?

भारतीय दृष्टि से देखने पर सिनेमा रंगमंच का आधुनिक संस्करण है। रंगमंच की सुस्पष्ट व्याख्या भारतीय नाट्य शास्त्र में वर्णित है। रंगमंच वह मंच है, जिस पर प्रेक्षकों के सम्मुख नाटक का अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। अब इससे प्रेक्षागृह तथा नाटक, दोनों का ही बोध होता है। आधुनिक रंगमंच के मुख्यतः चार भाग होते हैं - 1. नेपथ्य, 2. पार्श्व, 3. दृश्य सामग्री और 4. मंच का अग्रभाग।

रंगमंच का पाश्चात्य रूप सिनेमा है। सिनेमा का अर्थ है - थियेटर, जहाँ फिल्म प्रदर्शित की जाती है। Oxford Dictionary Thesaurms के अनुसार The production of films as an art of industry अर्थात सिनेमा कला के उद्योग का उत्पादन है। सिनेमा शब्द मूलतः ग्रीक भाषा के शब्द 'Kinema' का English रूपान्तरण है। जिसका अर्थ - Movement (गति, चाल, घड़ी का पुर्जा) होता है।

सम्प्रति सिनेमा वह दृश्य माध्यम है जिसके द्वारा अतीत को वर्तमान में उतारा जा सकता है। जन-जीवन की आवाज को सत्ता तक पहुँचाया जा सकता है। समाज की बुराइयों का पर्दाफाश किया जा सकता है। आजादी की लड़ाई में जिस कार्य को साहित्य ने निभाया उसी कार्य को आज सिनेमा के माध्यम से आगे बढ़ाया जा रहा है। यद्यपि सिनेमा में आज अंग-प्रदर्शन जैसे अश्लील कृत्यों का समावेश हो गया है, जिसके कारण युवा पीढ़ी भटकती सी प्रतीत होती है, किन्तु उसी सिनेमा में बहुत सी यथार्थपरक कलाकृतियाँ भी रची गयी हैं। जिस तरह साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, उसी तरह आज सिनेमा भी समाज का दर्पण बन गया है।

## 3.3 साहित्य का स्वरूप

साहित्य का स्वरूप जानने के पूर्व साहित्य के अर्थ और समाज से उसके अन्तर्सम्बन्ध को जान लेना समीचीन होगा -

### 3.3.1 साहित्य का अर्थ

सामान्यतः साहित्य अंग्रेजी के लिटरेचर शब्द का पर्याय माना जाता है और दोनों भाषाओं में इसके प्रयोग पर नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ विद्यमान हैं। अंग्रेजी में इस शब्द की व्युत्पति लैटिन शब्द Literace से हुई है, जिसका अर्थ है अक्षर समूह । इसके अनुसार समस्त अक्षरबद्ध ज्ञान- विज्ञान, शास्त्र, साहित्य सभी लिटरेचर के अन्तर्गत आएंगे। अब इसमें चाहे वह आयुर्विज्ञान अथवा वनस्पतिशास्त्र अथवा रेलवे की समय-सारिणी हो, सभी साहित्य के अन्तर्गत आएंगे। वास्तव में यह लिटरेचर शब्द हमारे वाङ्मय का पर्याय होना चाहिए। किन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि लिटरेचर शब्द वाङ्मय के सामने बौना है क्योंकि व्युत्पत्ति शास्त्र की दृष्टि से जो इस शब्द का अर्थ है उसके अन्तर्गत उस पुष्कल साहित्य का कहीं स्थान नहीं है जो आज भी ग्रन्थों में बन्द नहीं है अथवा बन्द नहीं हो सका है और मनुष्यों के अधरों पर युगों-युगों से हर्ष और आह्लाद के क्षणों में थिरक उठता है। इस साहित्य को एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी से अनायास ही ग्रहण कर लेती है और इस प्रकार उस लोकधारा को आज भी अक्षुण्ण बनाए हुए है। यह साहित्य अपनी सम्पूर्ण जीवन्त शक्ति को लेकर आज भी उतना ही प्रभावशाली है जितना कि आज से एक सहत्र वर्ष पूर्व अथवा सहस्त्रों वर्ष पूर्व था अतः लिटरेचर शब्द हमारी सम्पूर्ण कलात्मक धरोहर को जो कि मूलतः मौखित ही है अपनी परिधि में नहीं ले सकता।

जहाँ तक इस शब्द की व्याप्ति का प्रश्न है उसे कई आलोचकों ने स्वीकारा भी है तो कई ने इसमें अतिव्याप्ति दोष कहकर उसे चुनौती दी है । हालम् ने इस शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ स्वीकार करके ज्ञान-विज्ञान, शास्त्र, साहित्य सभी को लिटरेचर के अभिधान से अभिहित किया है और ज्योतिषशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, आयुर्विज्ञान आदि को लिटरेचर के अन्तर्गत ही माना है।

किन्तु विलियम हेनरी हडसन ने साहित्य और शास्त्र के मध्य एक पार्थक्य रेखा खींचते हुए साहित्य में अन्तर्निहित आनन्ददायिनी शक्ति और

उसकी सार्वभौमिकता पर विशेष बल दिया है। एक वनस्पतिशास्त्रवेत्ता अथवा उत्कृष्ट कोटि का चिकित्सक जिसका कि विषय साहित्य नहीं है बोट मैन एण्ड ए सी' अथवा 'झूठा सच' खुशी-खुशी पढ़ लेगा किन्तु एक सुशिक्षित व्यक्ति को जिसका विषय वनस्पतिशास्त्र नहीं है। यदि उसे वनस्पतिशास्त्र पर लिखी कोई उत्कृष्ट कोटि की भी पुस्तक देंगे तो वह उसको छूने का भी साहस शायद ही करें। इस तरह शुद्ध साहित्य में आनन्दोन्मेषिणी शक्ति को आवश्यक माना है जोकि उसे एक आत्मिक आनन्द देने में सक्षम बनाती हो। यथा -

A piece of literature differs from a specialized treatise on astronomy, political economy, philosophy or even history in part because it appeals not to a particular class of readers only, but to men and women as men and women while the object of the treatise is simply knowleldlge whether it (literature) also imparts knowledge or not, is to yield aesthetic pleasure. An Introduction to the Study of Literature p.10.

जिस अंग्रेजी शब्द लिटरेचर का साहित्य शब्द पर्याय है। उसकी व्युत्पत्ति अंग्रेजी के लिटरेचर शब्द से सर्वथा भिन्न है । साहित्य शब्द वाङ्मय और काव्य की अपेक्षा कम प्राचीन है। इस शब्द का विकास भारतीय चिन्तना में काव्य विश्लेषण से ही हुआ । काव्य में शब्द और अर्थ की अविच्छेद्य सम्पृक्तता का प्रतिपादन साहित्येतिहास के प्रारम्भ से ही हो रहा है। कालिदास ने अपने इष्ट का स्मरण शब्द और अर्थ के उपमानों के माध्यम से ही किया है।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपतये ।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।। - (रघु0, 1।1)

अर्द्धनारीश्वर भगवान महादेव का सम्बन्ध जैसा पार्वती से नित्य और देश कालातीत है वैसा ही परस्पर सम्बन्ध शब्द और अर्थ का है। कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति जीवितम् में कहा है- ''शब्द और अर्थ का जो शोभाशाली सम्मिलन है वही साहित्य है । शब्द और अर्थ का इस प्रकार का विचित्र विन्यास तभी सम्भव है जबकि कवि प्रतिभा और अभ्यास से अपने कथन में लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न कर सके।'' इसी बात को तुलसीदास जी ने ''गिरा-अरथ, जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न'' कहकर कहा है । शब्द और अर्थ का

ऐसा सहभाव साहित्य में ही होता है, इतर नहीं।

जैसा कि हम पहले निवेदन कर चुके हैं कि साहित्य शब्द काव्य को शब्दार्थौं-सहितौ काव्य आदि द्वारा परिभाषित करने पर ही विकसित हुआ है। यदि इस प्रकार काव्य परिभाषित नहीं होता तो कदाचित् यह भी सम्भावना थी कि साहित्य शब्द प्रकाश में ही नहीं आता। इसीलिए साहित्य शब्द वाङ्मय और काव्य के बहुत बाद प्रकाश में आया।

सबसे प्रथम हमें भामह द्वारा प्रणीत काव्य की परिभाषा मिलती है। जिसमें वे कहते हैं-

शब्दार्थौं सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा

यह 'शब्दार्थौं सहितौ' भामह, रूद्रट दण्डी वामन, प्रतापरूद्र, विद्यानाथ आदि कई आचार्यों द्वारा ही हुई काव्य परिभाषा में मिलता है। श्रृंगारप्रकाश में शब्द और अर्थ के इसी साहित्य को महिमान्वित किया गया है। भोज ने परिच्छेद 11 में स्वयं अपनी कृति को साहित्य प्रकाश कहा है। भोज ने साहित्य की परिभाषा करते हुए लिखा है - साहित्य, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होता हैं और इसके बारह प्रकार होते हैं - इन बारह साहित्यों में बारह तो सामान्य और अन्तिम चार विशेष हैं । यहाँ भोज ने साहित्य को वाङ्मय का ही पर्याय माना है। साहित्य शब्द का सर्वप्रथम स्पष्ट निर्देश तो भर्तृहरि के इस छन्द में - 'संगीत, साहित्य कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः में मिलता है। भर्तृहरि का समय सन् 650 ई. के लगभग माना जाता है। इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि साहित्य शब्द सातवीं शताब्दी से प्रचलित होने लग गया था। इसके पश्चात तो अनेक पण्डितों यथा - राजशेखर, भोजराज, कुन्तक, विश्वनाथ, आदि द्वारा साहित्य शब्द खूब प्रचलित हुआ। विल्हण (1076-1127 ई.) ने अपने विक्रमांकदेवचरित में साहित्य शब्द का प्रयोग बहुत स्पष्ट किया है, यद्यपि इसे यहाँ वाङ्मय के रूप में प्रयुक्त किया गया है। उन्होंने काव्यरूपी अमृत को साहित्य - समुद्र के मन्थन से उत्पन्न होने वाला बताया है -

'साहित्य-पायोनिधि-मन्थनोत्थं ,

काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।

यदस्य दैव्या इव लुण्ठनाम,

काव्यार्थचौराः प्रगुणी भवन्ति ''।।

- विक्रमाङ्कदेवचरित ।।1/11।।

विल्हण के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल तक 'साहित्य' शब्द 'साहित्यशास्त्र' में स्थापित हो चुका था और काव्य उसकी एक विधा के रूप में स्वीकृत था। इस तरह यहाँ काव्य, नाटक आदि साहित्य के अंग के रूप में ही वर्णित है।

साहित्य शब्द की उत्पत्ति भी व्युत्पत्ति शास्त्र की दृष्टि से भिन्न है। आचार्यों ने इसकी व्युत्पत्ति विभिन्न रूप से निरूपित की है। डा. राघवन ने साहित्य की व्युत्पत्ति साहित्य = सहित + यत् प्रत्यय प्रत्यय से की है जिसका अर्थ है - सहभाव समन्विति । समस्त साहित्य का - काव्य का भी निर्माण शब्द और अर्थ के तत्वों की सम्बद्धता के समन्वय से हुआ है।

पं. रामबहिन मिश्र ने अपने काव्य दर्पण में कहा है - साहित्य = स +हित धीयते अर्थात जो धारण किया जाता है वह है हित । हित के साथ जो रहे वह है सहित और उसका भाव है साहित्य। अर्थात संयुक्त या सहयोग से अन्वित का जो भाव हैं वह साहित्य है। साहित्य का तृप्त भी अर्थ है। इसका भाव भी साहित्य है। साहित्य के इस प्रकार के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से एक ओर तो साहित्य के कलापक्ष, उसकी रचना प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है कि साहित्य में शब्द और अर्थ अविछेद्य रूप से एक-दूसरे से अनुस्यूत होते हैं । एक के बिना दूसरे की सत्ता नहीं तथा दूसरी ओर जो हित हैं वह कहीं न कहीं लोकहित से ही सम्बन्धित है। अतः साहित्य के अन्तर्गत शब्द और अर्थ के सहभाव से जो कवि अथवा रचनाकार 'सर्जन' करता है - 'क्रिऐट' करता है वह साहित्य है। 'अपारे काव्यसंसारे कविदेवप्रजापतिः' से ही भाव अभिव्यक्त होता है।

### 3.3.2 साहित्य और समाज का अन्तर्सम्बन्ध

साहित्य का समाज से और समाज का साहित्य से चोली-दामन की भाँति अटूट सम्बन्ध है। साहित्य का सृजन समाज में होता है और समाज साहित्य के मानवीय मूल्यों द्वारा नियंत्रित और परिचालित होता है। साहित्य के सोपान पर चलकर समाज उन्नत होता है। कहा गया है जिस समाज का साहित्य उन्नत होता

है निश्चित रूप से वह समाज श्री श्रेष्ठ और प्रगतिशील होता है। समाज साहित्य का कारखाना है जहाँ साहित्य का सृजन होता है । साहित्य समाज का दर्पण हैं उसी दर्पण में समाज का प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है। समाज और साहित्य दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। बिना समाज के साहित्य का औचित्य नहीं और साहित्य के बिना समाज का कोई अर्थ नहीं हैं कहा गया है-

'अन्धकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं।
मुर्दा है वह देश, जहाँ साहित्य नहीं ।।'

निश्चय ही साहित्य और समाज का अन्तर्सम्बन्ध लयात्मक और रागात्मक है। दोनों एक-दूसरे के लिए हैं। बिना एक के दूसरे का अस्तित्व शून्यवत है।

## 3.4 साहित्य का प्रयोजन

बहुत पुराना प्रश्न है - साहित्य का प्रयोजन क्या है? साहित्य किसके लिए? आदि प्रश्नों पर भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों ने अपने-अपने तरीके से विचार किया है। यहाँ दोनों दृष्टियों पर किञ्चित् दृष्टिक्षेप किया जा रहा है।

### 3.4.1 पौर्वात्य दृष्टि

भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्य प्रयोजन पर विस्तार से चर्चा हुई है। सर्वप्रथम काव्य प्रयोजन (नाटक) का उल्लेख भरत द्वारा विरचित नाट्यशास्त्र में मिलता है -

उत्तमाधममं ध्यानं नराणां कर्म संश्रयम्
हितोपदेश जननं धृति क्रीड़ा सुखादि कृत
दुःखार्तानां क्षमातीनां शोकार्तानां तपस्विनां
विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति
धर्म्य यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्द्धनम्
लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।

- नाट्यशास्त्र ।।1/109-222।।

उपर्युक्त श्लोकों में नाटक का प्रयोजन कर्म में प्रवृत्त करने से लेकर धृति क्रीड़ा, हितोपदेश से लेकर विश्रान्ति , धर्म, यश तथा बुद्धि विवर्धन तक

निरूपित किया गया है। जब हम इन आचार्यों के काव्य प्रयोजन का अध्ययन करते हैं तो ऐसा लगता है कि जहाँ से काव्य में लोकोत्तर आनन्द की बात करते हैं वहीं इनके मस्तिष्क में लोकहित और बुद्धि विवर्धन की बात भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। साहित्यशास्त्र के परवर्ती आचार्यों ने भी भरत द्वारा प्रतिपादित प्रयोजनों की ही न्यूनाधिक रूप से निरूक्ति की है। भरत ने जहाँ नाटक का प्रयोजन प्रेक्षकों के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत किया वहाँ भामह ने रचयिता और उपभोक्ता दोनों के सन्दर्भ में उस पर विचार किया । भामह ने अपने काव्यालंकार में काव्य-प्रयोजन इस रूप में प्रस्तुत किया है -

'धर्मार्थ काम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीति करोति कीर्तिं च साधु काव्य निबन्धनम्।।'

- काव्यालङ्कार ।।1/2।।

अर्थात् सत्काव्य (सत्साहित्य) का निर्माण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं कलाओं में निपुणता, आनन्द तथा यश प्रदान करता है।

भामह के इस श्लोक में आए हुए 'निबन्धनम्' शब्द ने बड़ा भ्रम फैलाया है और सामान्यतः निबन्धनम् का अर्थ रचना या निर्माण होने के कारण व्याख्याकारों ने उपयुर्क्त श्लोक में निरूपित काव्य प्रयोजन को पात्र स्त्रष्टा के लिए ही वर्णित किया हुआ बतलाया है। किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। इसमें निपुणता और आनन्द दोनों तत्व समान रूप से स्त्रष्टा और भोक्ता दोनों के लिए ही समान रूप से आये हुए प्रतीत होते हैं । पं. देवेन्द्र शर्मा ने निबन्धनम् के स्थान पर साहित्यदर्पणकार और लोचनकार के अनुसार निवेषणम् शब्द माना है जो निर्माण और श्रवण दोनों का वाचक है।

भामह द्वारा प्रतिपादित काव्य -प्रयोजन वास्तव में भरत द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन की ही संहिति है जिसमें स्त्रष्टा को यश, अर्थ और आनन्द की प्राप्ति होती है। प्रकारान्तर से वह अपने सत्काव्य द्वारा धर्म की भी संस्थापना कर रहा है और उस काव्य का आस्वादन कर भावक भी निपुणता, आनन्द और धर्म का सहज प्राप्त कर लेता है।

भामह के अतिरिक्त रूद्रट, वामन, कुन्तक विश्वनाथ और मम्मट ने भी

काव्य- प्रयोजनों की चर्चा की है। वामन ने काव्य में मात्र दो प्रयोजन माने हैं कीर्ति और प्रीति। इन दोनों से भी उन्होंने आनन्दानुभूति पर अधिक बल दिया है। किन्तु वामन का 'प्रीति कीर्ति हेतुत्वात' वास्तव में काव्य का हेतु अधिक है, प्रयोजन कम । कुन्तक ने वामन की अपेक्षा काव्य-प्रयोजन को और अधिक स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं -

धर्मादि साधनोपायः सुकुमार क्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ।।
चतुर्वर्गफलास्वाद माप्यतिक्रम्य तद्विदाम ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्वते ।।

काव्य की रचना राजकुमार आदि के लिए सुन्दर एवं सरल ढंग से कहा गया धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग है।

(काव्य से) सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्गफल की प्राप्ति से भी बढ़कर आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न होता है।

आचार्य विश्वनाथ ने भी भामह और कुन्तक का काव्य -प्रयोजन चतुर्वर्ग फल प्राप्ति माना है-

चतुर्वर्गफल प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपम् निरूप्यते ।।

**- साहित्यदर्पण ।।1/1।।**

काव्य प्रयोजन पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचार आचार्य मम्मट के हैं जिन्होंने इस सन्दर्भ में रसस्त्रष्टा और रसभोक्ता दोनों पर ही एक श्लोक में विचार किया है -

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे ।।

**- काव्य प्रकाश ।।1/2।।**

काव्य यश का जनक, अर्थ का उत्पादक, लोक व्यवहार का बोधक, (शिव अर्थात कल्याण, शिवेतर अर्थात उससे भिन्न) अनिष्ट का नाशक, पढ़ने

(या सुनने, देखने आदि) के साथ ही (सद्यः) परम आनन्द का देने वाला और स्त्री के समान (सरस रूप से कर्तव्याकर्तव्य का ) उपदेश प्रदान करने वाला होता है।

उपयुर्क्त कारिका में मम्मट ने काव्य के 6 प्रयोजन बतलाये हैं। कान्तासम्मिततयोपदेश युजे कहकर उन्होंने काव्य की सहज प्रेषणीयता की ओर ही संकेत नहीं किया अपितु उसे विज्ञान, पुराण, इतिहास, शास्त्रादि से भी भिन्न निरूपित कर दिया। यश और अर्थ के साथ-साथ काव्य सामाजिक को कर्त्तव्याकर्तव्य का भी ज्ञान कराता है, और न केवल ज्ञानवर्धन करता है अपितु व्यक्ति को व्यवहारविद् भी बनाता है।

इस भाँति हम देखते हैं कि प्रस्तुत कारिका में आचार्य मम्मट ने कवि और आस्वादक दोनों के लिए ही काव्य की अनन्य उपादेयता सिद्ध की है।

किन्तु हम फिर मम्मट की उक्त कारिका के सन्दर्भ में कुन्तक की इस कारिका को विशेष महत्व देते हैं। कि (काव्य से) चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़कर आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न होता है (वक्रोक्तिजीवितम् ।।1/5।।) ।

वास्तव में मम्मट द्वारा गिनाये हुए प्रयोजन तो इतर ज्ञान-विधाओं के प्रयोजन भी हो सकते हैं किन्तु चर्तुवर्ग फल प्राप्ति से भी बढ़कर आनन्दानुभूति रूप चमत्कार किसी इतर ज्ञान की विधा से प्राप्त होना दुलर्भ है।

### 3.4.2 पाश्चात्य दृष्टि

आधुनिक साहित्य में काव्य प्रयोजन पर्याप्त रूप से विवादस्पद रहा है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में काव्य के प्रयोजन 'टु इन्स्ट्रक्ट' 'टु मूव' और 'टु डिलाइट' रहा है। अफलातून ने तो काव्य की भूमिका को कुत्सित कहा है जोकि सामाजिक के क्षुद्र संवेगों को उभारता है, सिंचित और पोषित करता है - 'पोयट्री वाटर्स एण्ड फीड्स अवर पैशन्स' । किन्तु यह कहकर वे प्रच्छन्न रूप से एक प्रकार के काव्यानन्द को स्वीकार करते हैं जो उन्हें होमर पढ़ने पर प्राप्त हुआ था। अरस्तू ने काव्य का प्रयोजन विरेचन माना है जो हममें अतिरिक्त भय, करूणा आदि के संवेग हैं और वे त्रासदी के प्रेक्षण से और उभार में आते हैं।

एक सीमा पर उभार में आने पर इनका विरेचन हो जाता है और फिर प्रेक्षक मात्र अनुभूति रह जाता है। अरस्तु ने काव्य के द्वारा उपदेश की बात भी कही है।

रोमन आलोचक लोंजायनस ने काव्य का मूल प्रयोजन 'टु मूव' माना है। कवि अपने कथ्य को उसके मौलिक रूप में सामाजिक तक पहुँचा दे यह भी अफलातून वाली प्रकारान्तर से एक आनन्द की स्थिति ही है। वास्तव में पाश्चात्य साहित्य में काव्य के मूलतः दो ही प्रयोजन है - अभिजातवादियों द्वारा नीति और धर्म की प्रतिष्ठा तथा स्वच्छन्दतावादियों द्वारा काव्यानन्द का उपभोग। परवर्ती काव्य में तो कहीं हमें वर्ग संघर्ष को तीव्र करने की बात मिलती है तो कहीं अपने अस्तित्व को अहसास करने की बात कही जाती है।

### 3.4.3 साहित्य प्रयोजन का अर्थ

पौर्वात्य और पाश्चात्य दृष्टि से विचार करने पर साहित्य प्रयोजन का अर्थ स्पष्ट रूप से लोकमंगल की व्यापक परिकल्पना का मूर्त होना ही है। संस्कृत के आचार्यों द्वारा साहित्य प्रयोजन की जो व्याख्या की गयी है, उसका निदर्शन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ हिन्दी के मूर्धन्य आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल 'कविता क्या है' नामक निबन्ध में विस्तार से की गयी साहित्य प्रयोजन की चर्चा द्रष्टव्य है। वे कहते हैं - 'हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। आचार्य शुक्ल का यह दृष्टिकोण अत्यधिक व्यापक और महत्वपूर्ण है। व्यक्ति स्वयं के लिए जीता है । कवि अपने सामाजिक की व्यक्तिवादी चेतना का - उसकी रूचियों का, उसके सौन्दर्य बोध का उत्कर्ष, प्रचार और प्रसार करता है और प्रमाता में इस प्रकार लोकमङ्गल का उन्मेष करना ही काव्य का प्रयोजन है।

पाश्चात्य समीक्षा की भाँति हिन्दी में भी काव्यानन्द ही काव्य का प्रयोजन माना गया है। आचार्य रामदहिन मिश्र तथा डा. नगेन्द्र इसी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं तथा प्रगतिवादी काव्य का प्रयोजन 'टु शार्पन द क्लास स्ट्रगल' बतलाते हैं। आज के लेखक के लिए उसकी रचना का प्रयोजन लिखने की लाचारी, अभिव्यक्ति की विवशता आदि ऐसे अनेक मुहावरों द्वारा अपने

लेखन का प्रयोजन बतलाते है। संस्कृत साहित्यशास्त्रियों द्वारा जो अर्थ प्रयोजन की आत्मस्वीकृति की गयी है उसका आज से साहित्यकारों ने बड़ा उपहास किया है। इन उपहासकर्ताओं को पं. रामदहिन मिश्र ने अच्छा उत्तर दिया है - द्रव्य लाभ फल न होता तो 'नोबुल पुरस्कार' के लिए नहीं तो कम से कम देव पुरस्कार, मंगलाप्रसाद पारिलोषिक आदि के लिए किस कलाकार की लार नहीं टपकती।

अर्थ की भाँति ही हम यश के लिए भी कह सकते हैं कि बड़े-बड़े साहित्यकार कीर्ति के लिए क्या नहीं करते हैं। स्वयं का अभिनन्दन करवाते हैं, अपनी वर्षगांठ मनवाते हैं और आलोचकों से लेख लिखवाते हैं।

हाँ इन स्थूल प्रयोजकों के अतिरिक्त यह कहा जा सकता है कि कवि सृजन के सुख के लिए काव्य रचना करता है। सहृदय एक ऐसे आनन्द, जिसे कि आचार्य विश्वनाथ ने ब्रह्मानन्दसहोदर कहा है, की प्राप्ति के लिए ही काव्य का आस्वादन करता है। ऐसा आनन्द उसे ज्ञान, विज्ञान, वेद पुराण, शास्त्र इतिहास आदि किसी इतर विधा से प्राप्त नहीं हो सकता।

## 3.5 साहित्य के प्रयोजन में सिनेमा की सार्थकता

साहित्य प्रयोजन के सन्दर्भ में ऊपर आचार्य मम्मट के एक श्लोक का उल्लेख किया गया है, जो निम्नांकित है।

'काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परिनिर्वत्रये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे ।।

- काव्यप्रकाश ।।1/2।।

यहाँ इसी श्लोक के आलोक में विवेचन किया जाय तो सिनेमा की सार्थकता स्वयंमेव सिद्ध होती अक्षिगत होगी। काव्य अर्थात साहित्य यश का जनक है। आज यदि साहित्य को सिने माध्यम के द्वारा फिल्मांकित किया जाय तो उससे यश की सद्यः प्राप्ति होती है। महर्षि वाल्मीकि और वेदव्यास के गौरवस्तम्भ 'रामायण' और 'महाभारत' को सिने माध्यम से प्रदर्शित करने वाले स्वर्गीय रामानन्द सागर को आधुनिक वाल्मीकि' या 'आधुनिक तुलसी' और बी. आर. चोपड़ा को 'आधुनिक वेदव्यास' का गौरवाभिधान प्राप्त हुआ। यह यश के

पुष्कल रूप का एक उदाहरण है । आज भी अरूण गोविल को भारतीय जनता 'राम' तथा मुकेश खन्ना को 'भीष्म पितामह' के रूप में स्मरण करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों अभिनेताओं के साथ क्रमशः 'राम' और 'भीष्म' का यश सम्पृक्त हो गया है।

साहित्य 'अर्थ' का उत्पादक है। यह उक्ति भी सिनेमा के साथ अधिक सही सिद्ध होती है। वस्तुतः साहित्य के माध्यम से आज साहित्यकार जितना अर्थलाभ प्राप्त कर सकता है, उससे कहीं अधिक सिनेमा के द्वारा प्राप्त कर सकता है। साहित्य की अर्थकारी विद्या सिनेमा की सहेली बनकर स्वर्ण सुरभि की युति का सार्थक प्रतिभास कराती है।

साहित्य लोकव्यवहार का द्योतक है। मम्मट की यह तृतीय धारणा भी सिनेमा से अधिक सातत्य स्थापित करती है। साहित्य के द्वारा जिस लोकव्यवहार की बात की जाती है, उसका यथार्थ निदर्शन सिनेमा में पदे-पदे मुखरित होता हैं। किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका जीवन्त रूप सिनेमा के द्वारा हम प्राप्त कर सकते हैं।

साहित्य कल्याणकारी है। अर्थात साहित्य लोकोपकारिणी विद्या है। सिनेमा का निष्कर्ष भी लोकोपकार ही है। नायक द्वारा खलनायक की पराजय सत्य द्वारा असत्य की पराजय का द्योतक है।

साहित्य पढ़ने, सुनने, देखने के साथ-साथ सद्यः आनन्द को प्रदान करने वाला और स्त्री के समान सरस रूप से कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश देने वाला होता है। सिनेमा के माध्यम से भी यही आनन्द प्राप्त होता है । साहित्य के आनन्द को प्राप्त करने के लिए जिस बौद्धिक चवर्णक की आवश्यकता होती है उसके बिना भी सिनेमा के माध्यम से उसी साहित्य के वास्तविक आनन्द को सहज में ही प्राप्त किया जा सकता है अर्थात साहित्य सिनेमा के द्वारा अपने प्रयोजन को सही दिशा में अग्रसर कर सकता है।

## 3.6 साहित्य और सिनेमा के सम्बन्ध

सिनेमा के चलताऊपने के कारण साहित्य और सिनेमा के संबंध काफी विवादस्पद रहे हैं। जबकि यदि इन दोनों माध्यमों में उपयुक्त संतुलन स्थापित

किया जा सके, तो इस क्षेत्र में काफी सार्थक परिवर्तन आ सकते है। साहित्य सिनेमा के सामने एक आदर्श प्रस्तुत कर सकता है, उसमें सामाजिक यथार्थ का पुट डाल सकता है तथा उसे उदात्त भावों की संरचना के लिए प्रेरित कर सकता है। किसी भी कथानक के फिल्मीकरण का आयाम इतना विस्तृत होता है कि उसमें न केवल उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध और कविता की कथावस्तु ही समा सकती है बल्कि इन साहित्यिक विधाओं के कलारूप जैसे - भाषा, अलंकार योजना, बिंब और प्रतीक आदि भी बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इसी प्रकार सिनेमा कुछ ही लोगों की आलमारियों में कैद साहित्य को आम लोगों तक पहुँचा सकता है।

आज अकसर हिन्दी फिल्मों पर कथा-विहीनता का आरोप लगाया जाता है हालाँकि यह आरोप पुरानी फिल्मों की अपेक्षा पिछले 20 वर्षों में बनी फिल्मों के लिए ज्यादा सही है। इसलिए सभी पुराने संवेदनशील लेखक, निर्देशक और अभिनेता कथावस्तु की इस सपाटता के प्रति अपनी नाराजगी को पिछले दिनों यत्र-तत्र अभिव्यक्त करते रहे हैं। डा. श्रीराम लागू शिकायत करते हुए कहते हैं, ''सारी बात तो कहानी की है । हमारी फिल्मों में कहानी कहाँ है? बिना किसी तालमेल या तुक के घटनाओं को इकट्ठा कर लिया जाता है।''

व्यावसायिक फिल्मों में अभिनय की प्रतिभा की जरूरत पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है, ''इन फार्मूला फिल्मों में तो बहुत मेहनत करनी पड़ती है क्योंकि न तो निर्देशक के पास कुछ कहने के लिए होता है, न फिल्म कुछ कहती है, सब कुछ खुद ही करना पड़ता है' (हिन्दुस्तान, 8 सितंबर 1990) । यह 'कहने के लिए कुछ भी न होने' की स्थिति इस गंभीर स्थिति की ओर बड़ी तलखी के साथ संकेत करती है कि आज फिल्म की कथावस्तु में कितनी बड़ी शून्यता आ गई है। फिर दुर्भाग्य यह भी है कि इस शून्यता को भरने की कोई अच्छी कोशिश भी दिखाई नहीं पड़ रही।

अगर हम मूक युग की फिल्मों की बात छोड़ दें तो छठे दशक तक की फिल्मों के साथ यह बात उतनी सही नहीं थी, हालाँकि वे भी 'आर्थिक लाभ' को ध्यान में रखकर ही बनाई जाती थी। लेकिन सबसे बड़ा अंतर यह था कि उस समय के लेखक-निर्देशक की तो बात ही अलग है, यहाँ तक कि निर्माता

और अभिनेता के पास भी कहने के लिए अपनी बात होती थी। 'अपनी बात कहने की मजबूरी' एक बहुत बड़ा कारण था कि उस युग में निर्माता, निर्देशक और अभिनेता के बीच की विभाजन रेखा सिमटी ही नहीं, बल्कि मिट भी गई थी। अपनी बात कहने की अकुलाहट ने अभिनेता को निर्देशक और निर्माता तक बना दिया था। इस दृष्टि से विमल राय, गुरूदत्त, राजकपूर आदि के नाम लिए जा सकते हैं ।

यह युग वैचारिक दृष्टि से सामाजिक प्रतिबद्धता का युग था। साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंदजी के नेतृत्व में प्रगतिशील आंदोलन की शुरूआत हो चुकी थी, जिसने साहित्य को समाज से जोड़ दिया था। इसी के स्वरूप पर रंगमंच के क्षेत्र में 'इप्टा' (इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन) की स्थापना हो चुकी थी। जहाँ साहित्य की प्रगतिशीलता ने फिल्म लेखकों को प्रभावित किया था, वहीं 'इप्टा' से जुड़े अनेक कलाकार फिल्मों में आए। स्वयं प्रेमचंद फिल्मों के क्षेत्र में गए। उनकी कहानी मिल मजदूर पर 'गरीब मजदूर' शीर्षक से फिल्म बनी। यह बात अलग है कि इस फिल्म को देखने के बाद बौखलाकर उन्होंने उसे 'प्रेमचन्द की हत्या' करार दिया था। उस समय के प्रमुख हिन्दी लेखकों में भगवतीचरण वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, उपेन्द्रनाथ अश्क तथा के.ए.अब्बास आदि कई हिन्दी लेखक वहाँ गये। फिल्म जगत ने इनके कथा साहित्य पर फिल्में बनाई और उनसे संवाद भी लिखाए। यह बात अवश्य है कि फिल्म जगत के 'सस्तेपन' की दुनिया में ये लेखक अधिक दिन तक नहीं टिक सके। लेकिन यह इस बात का प्रमाण तो है ही कि इस दौरान फिल्म-निर्माता और साहित्य-लेखक दोनों आपसी मधुर संबंधों के लिए प्रयासरत थे।

के.ए.अब्बास और राजकपूर की जोड़ी तो प्रसिद्ध ही है। के.ए.अब्बास के प्रगतिशील विचारों को राजकपूर ने फिल्मी रूप दिया। अब्बास के लेखन पर बनी 'नई रोशनी', 'रोटी', 'नया जमाना', 'नीचा नगर' आदि फिल्मों में पूँजीवादी शोषण के विरूद्ध एक सशक्त स्वर मिलता है। यह स्वर राजकपूर की अन्य फिल्मों में भी व्यक्त हुआ। यह एक ऐसा दौर था जबकि स्टूडियो के नाम से फिल्मों के कथानक का पता चल जाता था। बांबे टाकीज की फिल्में सामाजिक पृष्ठभूमि पर रूमानीपन लिए होती थी। न्यू थियेटर की फिल्मों में चरित्र केन्द्रित तनाव की ओर बढ़ती नाट्य कथा होती थी। रणजीत स्टूडियो जहाँ

केवल मनोरंजन पर जोर देता था, वहीं प्रभात स्टूडियो सामाजिक यथार्थ के किसी गहरे पहलू को व्यक्त करता था। इससे पता चलता है कि स्टूडियो (फिल्म निर्माता) का अपना एक व्यक्तित्व होता था जो उसकी प्रतिबद्धता की ओर संकेत करता है। इसी तरह का व्यक्तित्व अभिनेताओं का भी था। ए.के.हंगल, डा. श्रीराम लागू, बलराज साहनी आदि कलाकार 'इप्टा' से आए हुए थे। इनके पास कला के लिए एक सामाजिक दृष्टि थी। बलराज साहनी तो कवि और कथाकार भी थे। स्वाभाविक रूप से इसका प्रभाव फिल्म जगत पर पड़ा था और फिल्मों में सामाजिकता और साहित्यिकता के संस्कार आए।

पटकथा ही नहीं बल्कि गीतों की रचना के क्षेत्रों में तो साहित्य का अवदान ऐतिहासिक महत्व  का रहा है। इस दौरान फिल्म जगत से अनेक प्रसिद्ध शायर और गीतकार जुड़े हुए थे। इनमें शाहिर लुधियानवी और कैफी आजमी जैसे प्रगतिशील शायर थे तो शैलेन्द्र, प्रदीप, नरेन्द्र शर्मा और नीरज जैसे हिन्दी के गीतकार भी थे। इनकी चेतना पर प्रगतिशील लेखक संघ और छायावादी साहित्य दोनों का मिला-जुला प्रभाव था। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ एक ओर फिल्मी गीतों में सामाजिक भाव व्यक्त हुए वहीं दूसरी ओर प्रेम और सौन्दर्य के उच्च मापदंड भी स्थापित हुए। ये मापदंड भाव और भाषा दोनों स्तरों पर किसी भी साहित्यिक गीत अथवा कविता से निम्न कोटि के नहीं हैं। बल्कि शायर और गीतकारों के मिले-जुले रूप का प्रभाव यह हुआ कि हिन्दी और उर्दू के मिश्रण से गीतों की एक नई भाषा  ने जन्म लिया। इसी कारण ये गीत आम लोगों के बीच लोकप्रिय भी हो सके। इन गीतों की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि इस दौर की अनेक फिल्में केवल अपने गीत- संगीत  के कारण हिट हुई और यदि किसी साहित्यिक रचना पर आधारित फिल्म को साहित्यिक गीतों का साथ मिल गया, तो उस फिल्म ने कीर्तिमान स्थापित किए। फिल्म 'गाइड' की सफलता और लोकप्रियता इसका प्रमाण है। जो के.आर.नारयण के इसी नाम के उपन्यास पर बनी थी।

लेकिन साहित्य और सिनेमा का यह रिश्ता न तो बहुत मधुर रहा और न ही अधिक समय तक चला। प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्र नाथ अश्क आदि रचनाकारों को वहाँ से निराश होकर लौटना पड़ा। साहित्यकारों के लौटने की यह प्रक्रिया गीतकारों के साथ उतनी अधिक नहीं रही। इसका मूल कारण

यही था कि साहित्यिक कथानकों की संवेदना में जिस सीमा तक परिवर्तन किया जाता था, उस सीमा तक परिवर्तन की गुंजाइश गीतों में नहीं थी। हालाँकि उस समय भी गीत कथानक की माँग को ही ध्यान में रखकर लिखने पड़ते थे, लेकिन उस समय के कथानकों में अच्छे गीतों के समायोजन की संभावना रहती थी। फिर चूँकि इन साहित्यिक स्वरूपवाले गीतों को दर्शक और श्रोता पसंद भी करते थे, इसलिए फिल्मों के आर्थिक पक्ष पर ये गीत विपरीत प्रभाव नहीं डालते थे। लेकिन कथानक के क्षेत्र में साहित्य के साथ सही तालमेल न बैठने के कारण यह आम धारणा सी अवश्य बन गई कि फिल्मी गीतों में रचनात्मकता का कोई स्थान नहीं है। डा. शिवमंगल सिंह सुमन बताते हैं कि बंबई के एक सिनेमाघर में प्रदीप का गीत सुनकर निरालाजी ने ऐसा अट्टहास किया था कि सारा हॉल उनकी इस अशिष्टता पर झल्ला उठा था। फिर निरालाजी यह भुनभुनाते हुए हाल से बाहर निकल आये थे, ''लड़का हाथ से निकल गया'' (नवभारत टाइम्स, 9 सितम्बर 1990)।

इस सोच का परिणाम कम से कम फिल्म जगत के लिए तो अच्छा नहीं ही हुआ। इस बात का एहसास साहित्यकार और फिल्मकार दोनों को था। फलस्वरूप छठे दशक के मध्य के आसपास कुछ युवा साहित्यकार और फिल्मकारों ने इस रिश्ते में सुधार लाने की कोशिशें शुरू कीं। कमलेश्वर ने अपने संस्मरण 'आधार-शिलाएं' में इस कोशिश के बारे में लिखा है। कमलेश्वर के अनुसार, ''अरविंद कुमार ने 'माधुरी' के माध्यम से फिल्मी पत्रकारिता को नया और सुसंस्कृत स्तर देने की पहल की थी, और वह लगातार इसी चिंता में रहता था कि हिंदी कामर्शियल सिनेमा का संबंध हिन्दी साहित्य और अन्य कलाओं के साथ कैसे जोड़ा जाए।'' ('संडे मेल' 2 सितम्बर, 1990) ।

फलस्वरूप एक छोटी सी समिति बनी और उसने इस दिशा की ओर प्रयास शुरू किए। इसमें कमलेश्वर भी थे। यहीं से 'समानांतर कहानी' की तर्ज पर 'समानांतर सिनेमा' की शुरूआत हुई। मृणाल सेन की फिल्म 'भुवनसोम' को पहली ऐसी फिल्म का गौरव प्राप्त हुआ। बाद में इसी क्रम में 'अंकुर', 'निशांत', जैसी सामाजिक प्रतिबद्धता वाली फिल्में आई। लेकिन अपनी बौद्धिकता, प्रतीकात्मकता एवं धीमी गति के कारण ये फिल्में लोकप्रिय नहीं हो सकी और ये राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त करने तक ही सिमटी रहीं। बाद में इस धारा की फिल्में

राजनीतिक फिल्मों में तब्दील होने लगीं। इसकी शुरूआत 'अर्धसत्य' से हुई और इसकी परिणति 'प्रतिघात' में । यानी समानांतर फिल्मों की यह धारा भटक गई।

सातवें दशक में ही मध्यम वर्ग की जिन्दगी से जुड़ी सामान्य घटनाओं पर आधारित हलकी-फुलकी फिल्में आई। इन फिल्मों पर साहित्यिक संस्कारों की छाप थी। इनके कथानक, संवाद और गीत बहुत कुछ मध्यमवर्गीय जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यास और कहानियों से मेल खाते थे। 'छोटी सी बात', 'रजनीगंधा', 'कोरा-कागज', 'चित-चोर' आदि इसी तरह की फिल्में थी। ये फिल्में अपनी अभिव्यक्ति की यथार्थता और साफ-सुथरेपन के कारण काफी सराही भी गईं, लेकिन हिन्दी सिनेमा की मुख्य धारा नहीं बन सकीं।

इसी दौरान कमलेश्वर और गुलजार जैसे कुछ संवेदनशील रचनाकार फिल्म जगत् में उपस्थित थे । इसमें कोई दो राय नहीं कि इनकी उपस्थिति ने फिल्म और साहित्य के रिश्ते को जोड़े रखा है। थोड़ सा ही क्यों न सही कमलेश्वर की लिखी पटकथाएँ और गुलजार के लिखे संवाद और गीतों में साहित्यिकता की झलक साफ-साफ मिलती है। गुलजार के निर्देशन में भी एक प्रकार की काव्यात्मकता का एहसास किया जा सकता है। गुलजार ने स्वयं कहा भी है, ''मैं मूलतः लेखक हूँ, इसलिए मुझे लेखन में अधिक संतुष्टि मिलती है और तो और, निर्देशन पर भी मेरा काव्यात्मक सृजन हावी रहा है'' (नवभारत टाइम्स, 6 जनवरी, 1990)।

'तेरे मेरे सपने', 'मीरा', 'इजाजत' जैसी फिल्मों की संवेदनशीलता और शालीनता प्रशंसनीय है। हालाँकि राही मासूम रजा भी लम्बे समय से फिल्म जगत् से जुड़े हुए थे, लेकिन एक साहित्यिक व्यक्तित्व के रूप में फिल्म के प्रति उनके योगदान को अलग से रेखांकित करना जरा मुश्किल काम है।

आठवें दशक के उत्तरार्द्ध में कुछ युवा निर्देशकों ने युवा कथाकारों की कथावस्तुओं पर फिल्म बनाने का साहसिक और प्रायोगिक उपक्रम किया। युवा कथाकार उदय प्रकाश की कहानी 'हीरालाल का भूत' पर मोहन हरि ने 'उपरांत' फिल्म बनाई । योगेश गुप्त के उपन्यास 'उनका फैसला' पर दिनेश लखनपाल ने 'अंतहीन' फिल्म बनाई । हिमांशु जोशी के 'सु-राज' उपन्यास पर

तनवीर अहमद ने फिल्म बनाई । कुसुम अंसल के उपन्यास 'उसकी पंचवटी' पर बासु भट्टाचार्य ने 'पंचवटी' फिल्म बनाई। राजेन्द्र सिंह बेदी के उपन्यास 'एक चादर मैली सी' पर इसी नाम से फिल्म बनी। इनमें से कुछ रचनाकार जहाँ अपनी रचना के फिल्मीकरण से संतुष्ट हैं,वहीं कुछ बेहद नाराज हैं। उदय प्रकाश अपनी नाराजगी व्यक्त करते हुए कहते हैं, ''ऐसे लोगों को साहित्यिक कृतियों को नष्ट करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। मैने गलती की, और मैं अपनी भूल स्वीकार करता हूँ'' (जनसत्ता, 1 मई 1988) ।

इसी तरह शिकायत करते हुए योगेश गुप्त कहते हैं, ''मुझे लगता था कि वे पूरी शिद्दत से इस माध्यम (फिल्म) में काम करना चाहते हैं, इसलिए मैने अपने उपन्यास की अनुमति दे दी। मुझे यह बहुत बाद में पता लगा कि फिल्म माध्यम के प्रति उनकी समझ अधूरी है।'' (जनसत्ता, 1 मई 1988)।

जिसे योगेश गुप्त 'अधूरी समझ' का नाम देते हैं, उसे हिमांशु जोशी निर्देशक का अधिकार समझकर संतोष कर लेते है। उनका कहना है, ''निर्देशक को इतना हक तो देना ही चाहिए कि वह रचना को सशक्त बनाने के लिए कुछ प्रयोग करे तो उसे क्षम्य माना जाए।''

इसी प्रकार कुसुम अंचल 'पंचवटी' फिल्म से संतुष्ट हैं। उनका मानना है कि 'फिल्म और उपन्यास में संतुलन बना रहा । उपन्यास की आत्मा मरी नहीं '' (नवभारत टाइम्स, 3 मार्च 1990)।

वस्तुस्थिति चाहे जैसी भी हो, इस सचाई को अस्वीकार करना जरा मुश्किल होगा कि अधिकांश हिन्दी फिल्में साहित्य की मूल संवेदना को पकड़ने और उसे व्यक्त करने में असफल रही हैं और यहीं लेखक फिल्म से नाराज होता है। वैसे यह बात सच भी है कि यदि फिल्मकार कथा की मूल संवेदना को ही नहीं पकड़ पा रहा है या पकड़ने के बाद भी उससे सहमत नहीं है तो फिर उस लेखक की कथा को चित्रित करने की जरूरत ही क्या है? निर्देशकों में यह भटकाव आज ही नहीं बल्कि शुरू से रहा है। प्रेमचंद की चर्चा शुरू में की ही गई हैं।

उदाहरण के रूप में हिन्दी की श्रेष्ठ कहानी 'उसने कहा था' पर इसी नाम से बनी फिल्म को भी देखा जा सकता है। ''त्याग पर आधारित सात्विक प्रेम''

के इस कथानक को ऐसा फिल्मी मोड़ दिया गया है कि इन दोनों (प्रेम और त्याग) की गहराई ही समाप्त हो गई है और कथानक ने एक आम प्रेम कहानी का रूप ले लिया है। फिल्म में न जाने क्यों सरदार लहनासिंह को मुंडा नंदू बना दिया गया है। इस कहानी की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि लहनासिंह का जो उत्सर्ग है, वह एक 'अनकहे प्रेम' के प्रति है । फिल्मकार इस मोटी सी बात को भी समझने में असफल रहा है।फिल्मकार ने दिखाया है कि दोनों में (सूबेदारनी और लहनासिंह में) काफी समय से प्यार होता रहता है। चूँकि प्यार लम्बे समय से चल रहा है, इसलिए नन्दू (लहनासिंह) की माँ कमली (सूबेदारनी) के चाचा से अपने बेटे नन्दू के लिए कमली का हाथ माँगने जाती है और कमली का चाचा नंदू को आवारा तथा बदचलन समझकर इस प्रस्ताव को ठुकरा देता है। 'उसने कहा था' कहानी को पढ़कर यदि इस फिल्म को देखा जाए तो फिल्म से किशोरावस्था का स्वाभाविक, अनजाना और निश्छल प्रेम तथा जीवन उत्सर्ग की भावना, सब कुछ गायब मिलेगी। वस्तुतः कहानी की मूल संवेदना ही फिल्म से गायब है।

फिल्मकारों की इस नासमझी के बारे में लेखक ब्रेडबरी ने आपबीती एक रोचक घटना की चर्चा की है। वे कहते हैं ''प्रस्तुतीकरण के बीच में मुझे बुला कर कहा गया कि रचना लंबी है और वे उसे काटना चाहते हैं। मेरा दिल डूबने लगा और उसी हालत में मैने पूछा कि कौन सा पृष्ठ काटना चाहते हैं। उन्होंने बताया, अमुक पृष्ठ और सच जानिए, उन्होंने बिलकुल वही पृष्ठ बताया, जिनमें पूरी की पूरी रचना की व्याख्या निहित थी। मैने कहा, आप यहाँ-वहाँ से कहीं से भी काटिए, परन्तु 'सत्य के क्षण' को यथावत छोड़ दीजिए। उन्होंने वादा किया और उसी वायदे के बलबूते पर मैने कुछ मित्रों को अपने घर बुला लिया कि वे मेरे ही घर पर रहकर उसका प्रस्तुतीकरण देखें। परन्तु उन्होंने तो वही हिस्सा काट डाला था। पूरी रचना निरर्थक और बेमानी हो गयी थी। ''

यदि कुसुम अंसल ईमानदारी से अपनी बात कहें तो उनकी प्रतिक्रिया भिन्न होगी। वस्तुतः उपन्यास की मूल संवेदना प्रेम को, पति-पत्नी के संबंधों को तथा स्त्री-पुरूष के संबंधों को नए अर्थों में तलाशना है। इसी तलाश के अंदर कथा का तनाव और द्वंद निहित है। जिसे फिल्मकार नहीं पकड़ सका है। उपन्यास के उलझे कथानक (नायिका अपने जेठ के बच्चे को जन्म देती है)

के सुलझे अंत के सबंध में जैनेन्द्रजी ने लिखा है, 'लेखिका ने इस विषम द्वंद का समाधान जिस कुशलता से किया है वह अभिनंदनीय है । पुस्तक जितनी मार्मिक है उतनी ही रोचक है। सस्पेंश कहीं नहीं टूटता । जबकि फिल्म मे न तो विषम द्वंद है और न ही संस्पेंश । इसलिए समाधान की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

वस्तुतः फिल्मों का अर्थशास्त्र निर्माता-निर्देशक और लेखकों को एक स्तर नीचे उतरकर समझौता करने को बाध्य करता है। साहित्यकार को यहाँ पहुँचकर एक पेशेवर लेखक का रूप धारण करना पड़ता है, जो निर्माता, निर्देशक और आम जनता की माँग पर लेखन की आपूर्ति करता है। मनोहर श्याम जोशी इस तरह के लेखन को 'अपनी कला का वेश्यायीकरण' करना कहते है। उनका मानना है कि वहाँ 'रचनात्मक संतोष' की गुंजाइश नहीं है। लेखन के इस 'वेश्यायीकरण' के बारे में कमलेश्वर ने संडे मेल' (5 मार्च 1990) में एक रोचक जिक्र किया है। वे लिखते हैं ''इसी उपन्यास (एक सड़क सत्तावन गलियाँ) पर प्रेम कपूर ने फिल्म बनायी। फिल्म के लिए बड़ा शीर्षक ठीक नहीं था । अतः फिल्म का नाम उन्होंने बदनाम बस्ती रख दिया और पंजाबी पुस्तक भंडार ने उर्दू अनुवाद बेचने के लिए उसे चटपटा बना दिया। उन्होंने नाम रख दिया, 'बदनाम गली'। बिकी हुई औरतों की जो दुर्दशा होती है, लगभग वही मेरे इस प्रथम उपन्यास के साथ हुई।''

इस कथन से लगता है कि कथानकों को 'चटपटा' बनाकर बेचने की प्रवृत्ति उसे कहाँ से कहाँ पहुँचा देती है। आर्थिक प्रतिबद्धता के इस मायावी संसार में वैचारिक प्रतिबद्धता से जुड़े रहना एक कठिन साधना करने जैसा है। इसलिए बाजार के निर्देशक एवं प्रतिबद्ध लेखक 'सागर सरहदी' कहते हैं, ''एक ऐसा समय आया कि मुझे लगा कि मैं एक अजीब सिस्टम में फँस गया हूँ। जो मैं सोचता था, और जो लिखता था, उसमें बड़ा अंतर था। मेरा लेखन मार्क्सवाद से काफी दूर हो गया। तब मैने सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि मैं कामर्शियल फिल्मों के लिए नहीं लिखूँगा'' (जनसत्ता, 18 मई, 1990)।

ऐसी स्थिति में 'रचनात्मक संतोष' की बात सचमुच समाप्त ही हो जाती है। फिल्म लेखन के इस सस्तेपन की ओर श्रीलाल शुक्ल ने बड़ी अच्छी और रोचक बात कही है। उन्होंनें एक बात-चीत में बताया, ''रागदरबारी को वे इसलिए फिल्म के लायक नहीं समझते, क्योंकि उसमें नारी की उपस्थिति नहीं है''। (अमृत संदेश, 2 अगस्त, 1987) । श्रीलाल शुक्ल का यह कथन केवल फिल्मी लेखन के एक महत्वपूर्ण चरित्र की ओर संकेत नहीं करता, बल्कि हिन्दी फिल्मों में नायिका की स्थिति की ओर भी संकेत करता है।

साहित्य और सिनेमा का यह तनाव जितना हिन्दी भाषा में है, उतना अन्य भाषाओं में नहीं है। बंगला और मराठी फिल्में अपने यहाँ की साहित्यिक रचनाओं को मुखरित करने में काफी आगे और सफल रही हैं। यही बात मलयालम की भी है। इन भाषाओं के साहित्य और सिनेमा में कोई टकराव नहीं है। बल्कि साहित्य सिनेमा को स्वस्थ कच्ची सामग्री देता है यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आखिर ऐसा क्यों है? इसके उत्तर में डॉ. राम विलास शर्मा का 'हिन्दी क्षेत्र की जातीय पहचान' शब्द को रखा जा सकता है। वस्तुतः मूल बात यह है कि क्षेत्रीय भाषाओं के सिनेमा अपने क्षेत्र की संस्कृति से बहुत गहरे रूप से जुड़े हुए हैं। यह रचनाकारों की प्रतिबद्धता का भी परिणाम है और उनकी अनिवार्यता भी है। अनिवार्यता इसलिए, क्योंकि बिना क्षेत्रीय संस्कृति को अभिव्यक्त किए इन्हें दर्शक नहीं मिल सकेंगे। जबकि हिन्दी फिल्मों के साथ ऐसा नहीं है। हिन्दी फिल्मों की संस्कृति की जड़ें अपनी मिट्टी में नहीं है। वह अपनी अखिल भारतीय और अंतरराष्ट्रीय पहचान बनाने के व्यामोह में कुछ इस तरह उलझता गया है कि वह खुद का चेहरा भी भूल रहा है। केन्द्रीय पहचान का यह अभाव ही हिन्दी साहित्य और सिनेमा के टकराव का मूल कारण है। क्योंकि साहित्य में तो यह पहचान काफी सीमा तक उपस्थित है। लेकिन जब इस पहचान को फिल्मीकृत किया जाता है, तो वहाँ पर यह पहचान बिलगाने लगती है । इसी का नतीजा होता है कि कहानी 'उसने कहा था' का लहनासिंह 'फिल्म' उसने कहा था' में नंदू बन जाता है।

मुख्य टकराव प्रस्तुतीकरण की शुद्धता का नहीं बल्कि प्रस्तुत संवेदना का है। यदि कोई निर्माता या निर्देशक किसी साहित्यकार के कथानक पर फिल्म बनाने के लिए तैयार होता है तो उससे इस बात की अपेक्षा की जानी स्वाभाविक

है कि उसने कथानक की आत्मा का साक्षात्कार किया होगा, और वह उसी आत्मा को अपनी फिल्म में पुनर्सृजित करेगा। सत्यजीत राय ने अधिकांश फिल्में बंगला कथाकारों की रचनाओं पर बनाई हैं और वे उनमें सफल भी रहे। ऐसा इसलिए क्योंकि वे स्वयं में संवेदनशील रचनाकार थे और उनके पात्रों तथा उनके दर्शकों के पास एक सांस्कृतिक जीवन और एक सांस्कृतिक दृष्टि थी। यह सांस्कृतिक जीवन और सांस्कृतिक दृष्टि उन्हें मूल संवेदना से भटकने नहीं देती। सत्यजीत राय ने अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में लिखा भी है ''जब मैं किसी लेखक की कहानी चुनता हूँ तो इसलिए कि उस कहानी के कुछ हिस्से मुझे अच्छे लगे हैं यही भाग फिल्म में भी उभर कर आते हैं। ''

कुछ इसी तरह की बात अडूर गोपालकृष्णन ने अपनी फिल्म 'मत्तिलुकल' (बशीर खाँ की कहानी पर निर्मित फिल्म) के बारे में कही थी। उन्होंने कहा था - 'मैंने दर्शकों को वहीं आनन्द देने का प्रयास किया है, जो आनन्द मुझे कहानी पढ़ते हुए मिला था।' (हिन्दुस्तान टाइम्स, 6 मई 1990)।

## 3.7 सिनेमा में साहित्य

साहित्य और सिनेमा एक-दूसरे को समृद्ध करने वाले कला माध्यम है।साहित्य, सिनेमा को आधार प्रदान करता है तथा सिनेमा, साहित्य को आम लोगों तक पहुँचाता है। यह दोनों का एक ऐसा उपयुक्त अंर्तसंबंध है कि यदि इनके संबंधों के संतुलन को अच्छी तरह निभाया जाए तो इन दोनों क्षेत्रों में अत्यंत महत्वपूर्ण सार्थक बदलाव आ सकते हैं। साहित्य, सिनेमा के सामने एक आदर्श प्रस्तुत कर सकता है। उसमें सामाजिक यथार्थ का पुट डाल सकता है तथा उसे उदात्त भावों की संरचना के लिए प्रेरित कर सकता है। किसी भी कथानक के फिल्मीकरण का आयाम इतना विस्तृत होता है कि उसमें न केवल उपन्यास,कहानी, नाटक, निबन्ध और कविता की कथावस्तु ही समाहित हो सकती है। बल्कि इन साहित्यिक विधाओं के कला रूप, जैसे - भाषा, अलंकार योजना, बिंब एवं प्रतीक आदि को भी बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार फिल्म चंद लोगों की ही आलमारियों में कैद साहित्य की पहुँच को बढ़ा सकती है।

लेकिन यह हिन्दी साहित्य और सिनेमा, दोनों का दुर्भाग्य रहा है कि

यद्यपि दोनों के बीच संबंध स्थापित करने की कई कोशिशें हुई, पर संबंध सौहार्द्रपूर्ण नहीं रहे। बल्कि जितने भी लेखक या कवि फिल्मों में गये, उनमें से अधिकांश या तो अत्यंत कटु अनुभव के साथ लौट आए या फिर साहित्य जगत ने उन्हें समझौतावादी समझकर अपनी बिरादरी से अलग मान लिया। इस दृष्टि से मुंशी प्रेमचंद की व्यथा किसी से छिपी नहीं है। प्रेमचंद के अनेक उपन्यासों और कहानियों पर फिल्में बनीं। लेकिन किसी भी फिल्म में उनके कथा-संसार की संवेदना नहीं उभर सकी।

यही बात कमोबेश कवियों के साथ भी रही। कवियों की विडंबना यह रही कि उन्हें शव के अनुरूप ताबूत का निर्माण करना पड़ता था। साफ है कि इस तरह की रचना प्रक्रिया में स्वाभाविक संवेदना की अभिव्यक्ति की संभावना ही समाप्त हो जाती है। लेकिन इसके बावजूद प्रदीप, शैलेन्द्र, साहिर लुधियानवी तथा नरेन्द्र शर्मा जैसे अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने फिल्मी गीतों में अपनी संवेदना और कलात्मकता को उड़ेला है। वर्तमान में गुलजार इस क्रम में आते हैं। इन कवियों ने निश्चित रूप से फिल्मी गीतों को साहित्यिक ऊँचाई प्रदान की है।यह सोचना अलग बात है कि यदि ये लोग फिल्म जगत में नहीं गये होते तो उनकी काव्य रचना को एक नई गहराई मिली होती ।

आज इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि हमारे कथाकार और कवि फिल्म जगत से जुड़े रह सकते तो वर्तमान हिन्दी फिल्मों का स्वरूप क्या होता? लेकिन फिल्मी अर्थशास्त्र के गणित के समीकरण में सच्चा रचनाकार हमेशा ऋणात्मक रहा । अपनी इस नियति से क्षुब्ध होकर साहित्यकारों ने उसे संरचनात्मकता का कब्रगाह ही करार दिया। रचनाकार अपने रचना संसार का अकेला बादशाह होता है। लेकिन फिल्म के जंगल में उसका मुकाबला कई शेरों से हुआ। एक शेर फिल्म निर्माता था, दूसर शेर निर्देशक था तथा बाद में अभिनेता के रूप में तीसरा शेर भी तैयार हो गया। आज तो फिल्म के जंगल राज में इतना घालमेल हो गया है कि दावे के साथ यह कहना मुश्किल हो गया है कि आखिर फिल्म किसकी विधा है - निर्माता की, लेखक की, निर्देशक की अथवा अभिनेता - अभिनेत्री की । लेकिन इसमें इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आज की फिल्म कम से कम लेखक की तो विधा नहीं ही है और यदि लेखक कहीं है भी तो या तो वह तब है जबकि यह सलीम -जावेद

की तरह प्रायोजित लेखक है या फिर उसकी उपस्थिति एक संवाद लेखक की है - राही मासूम रजा की तरह।

कभी कभी निर्माता- निर्देशक फिल्म बनाते समय रचना के साथ वह न्याय नहीं कर पाते हैं, जिसकी हकदार वह रचना होती है। बिना सामंजस्य स्थापित किये सिनेमा में साहित्य की पहचान असम्भव है।

ज्योति नन्दा ने फिल्मों में साहित्य की चर्चा की है। जिसे आई 'नेक्स्ट' ने 29जनवरी 08 को प्रकाशित किया ।

**कायम है फिल्मों में कविता**

इन दिनों सारा देश, देशभक्ति के रंग में रंगा हुआ है । इस माहौल में कवि प्रदीप का लिखा 'ऐ मेरे वतन के लोगों गीत' जहाँ आज भी आँखों की कोरों को गीला कर जाता है वहीं पूरे साल 'मोहे रंग दे बसंती' (गीतकार प्रसून जोशी) और 'चक दे इंडिया' (गीतकार जयदीप साहनी) भी जबान पर चढ़े रहने में कामयाब रहे हैं। इन गीतों में न सिर्फ मस्तानी धुन है बल्कि गहरे अर्थ भी हैं। बार्डर से सिपाहियों के संदेशे आते हैं, तो धरती को धूल और बौराई पवन , जुनून से भरी लाल लहू की बूंदें भी हैं।

कवि प्रदीप, साहिर लुधियानवी, जांनिसार अख्तर और कैफी आजमी जैसे शायरों का जमाना देख और सुन चुके बुजुर्गों के मुँह से 'माँ तू कितनी अच्छी है, तू कितनी भोली है। (राजा और रंक) की जगह 'मैं कभी बतलाता नहीं तेरी परवाह करता हूँ मै माँ --- तुझे सब है पता है मेरी माँ' (प्रसून जोशी) सुनकर इक्कीसवीं सदी के गीतकारों पर गर्व होने लगा है । अब हमें फिल्मी गानों में अर्थपूर्ण गुनगुनाने लायक शब्दों के लिए जावेद अख्तर और गुलजार का मुँह ताकने की जरूरत कम महसूस हो रही है। क्योंकि हमें अब जयदीप साहनी (चक दे, आजा नच ले) स्वानंद किरकिरे (परिणीता, हजारों ख्वाहिशें ऐसी, लगे रहो मुन्ना भाई) और प्रसून जोशी (रंग दे बसंती, फना, तारे जमीन पर) जैसे गीतकार मिल गये हैं। इनके साथ ही भट्ट कैंप के लिए गीत लिखने वाले भी कई गीतकार हैं। जिन्होंने 'भीगे होंठ तेरे' (सईद कादरी ) तू ही मेरी शब है' (मयूर पुरी) 'लम्हा-लम्हा दूरी यूँ पिघलती है' (नीलेश मिश्रा) जैसे रोमैंटिक गीत लिखे।

पचास-साठ के दशक में फिल्मी गानों में एक अदा हुआ करती थी। बहुत कुछ कहकर भी कुछ अनकहा रह जाने की अदा, उस अदा की दुहाई हमारे बुजुर्ग आज तक देते हैं। अभी तक हमारे पास इसका कोई जवाब नहीं था, होता भी कैसे, 'मोरा गोरा रंग लइ ले, मोहे श्याम रंग दई दे' या फिर 'अभी न जाओ छोड़कर' जैसे श्रृंगार रस के गीतों की जगह 'मैं तुझको भगा लाया, तेरे बाप के -घर से' और 'एक्सीडेन्ट हो गया रब्बा-रब्बा' जैसे बेढंगे, बेतुके गानों के साथ हम उन्हें क्या जवाब देते? उस दौर का उदाहरण देने बैठें तो कई किताबें भर जायेंगी रोंमांस , फिलॉसफी, दर्द, खुशी हर भाव उस समय के गीतकारों ने कलम से ऐसे उकेरा कि हम आज तक उसे गुनगुना रहे हैं। 'चलो दिलदार चलो, चांद के पार चलो,' 'अजीब दास्तां है ये, कहाँ शुरू कहाँ खत्म' या फिर 'कहीं दूर जब दिन ढल जाये' कुछ ऐसी लाइनें है, जो हमारी लाइफ स्टाइल में रच -बस गई हैं। हम इन्हें शायद कभी भूल नहीं पायेंगे।

सत्तर से लेकर नब्बे के दशक तक फिल्मी गानों की दुर्दशा का दौर कहा जा सकता है क्योंकि वह समय सुपर स्टारों का था । राजेश खन्ना, अमिताभ बच्चन के नाम पर फिल्म में कुछ भी हो सब चल जाता था, हालांकि सत्तर के दशक में अच्छे गीत भी आये और जिम्मेदारी उठायी गुलजार, जावेद अख्तर ने बल्कि गुलजार ही अधिक छाये रहे । जावेद अख्तर उन दिनों स्क्रिप्ट और कहानी लिखने में मसरूफ थे, गीतकार के रूप में उनका भी कमबैक नब्बे के दशक में 'एक लड़की को देखा तो ऐसा लगा' (1942 ए लव स्टोरी) से हुआ उससे पहले गुलजार साहब ने गानों में कविता को बचाये रखने का काम किया। इस दौरान ही उन्हें इजाजत के लिए (मेरा कुछ सामाना तुम्हारे पास पड़ा है) राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला। गुलजार और जावेद अख्तर आज भी लिख रहे हैं और उतनी ही खूबसूरती से युवा पीढ़ी के दिल को धड़काने के साथ-साथ पाँव भी थिरका रहे हैं। फिर वो चाहे बीड़ी जलइले हो' या 'कजरारे-कजरारे'

अब इन मील का पत्थर बन चुके गीतकारों को भी कुछ सुकून मिला होगा कि उनके बाद फिल्मी गीतों से कविता गायब नहीं होगी। गुलजार साहब को फख्र होगा कि चांद से बातें सिर्फ वे ही नहीं कर सकते प्रसून जोशी भी अपनी महबूबा को इम्प्रेस करने के लिए चाँद से सिफारिश करा सकते है।

फिलॉसफिकल गीतों की कमी भी इन दिनों नहीं है स्वानंद किरकिरे का 'बावरा मन ' (हजारों ख्वाहिशें ऐसी) काफी अच्छा है । फिल्म जिस्म में नीलेश मिश्रा का लिखा ' आवारापन बंजारापन एक खला है सीने में' एक खूबसूरत गीत है। अच्छी बात ये हैं कि जब भी कहीं कुछ अच्छा रचा गया युवा समेत पूरे समाज ने उसे दिल से स्वीकार किया । उम्मीद है आगे भी गीतकार खूंटे से बंधी हवा छुड़ाते हुए, आसमां का शामियाना सजाते रहेंगे और फिल्मी गीतों में कविता यूं ही मुस्कुराती रहेगी।

## 3.8 सारांश

साहित्य 'सर्वेहिता' की लोकमंगलात्मक प्रवृत्ति का पोषक होता है। उसकी जड़ें अतीत की छाती में बहुत गहरे तक धँसी हुई है। साहित्य अपना रिक्थ अतीत, वर्तमान और अपने परिवेश तथा समाज में ग्रहण करता है। साहित्य का उद्देश्य जनता के सम्मुख जनता की बात को रखना होता है। सिनेमा भी बहुत कुछ इसी उद्देश्य को लेकर अग्रसर हुआ है। सिनेमा के द्वारा अतीत का फिल्मांकन जहाँ सम्भव है, वहीं भविष्य में होने वाली घटनाओं की ओर भी संकेत दृष्टि उन्मेष दृग्गत होता है। पहले कहा जा चुका है कि साहित्य और सिनेमा दोनों ही ललित कला के दो ध्रुव हैं यदि दोनों का समाहार हो जाय तो चन्द लोगों तक की पहुँच वाला साहित्य, सिनेमा के जरिये जन-जन तक पहुँच सकता है। साहित्य सिनेमा को एक सशक्त पटकथा, प्रभावी संवाद और दिलों पर राज करने वाले कालजयी गीत दे सकता है तो सिनेमा साहित्य की पैठ अभिजात्य वर्ग से इतर जन-जन तक बना सकता है। सिनेमा शरीर और साहित्य आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। यदि दोनों की युगलबन्दी हो जाय। इससे दोनों ही विधाओं का बाजारवादी संस्कृति के आलोक में विकास होगा। एक-दूसरे की प्रगति का पथ प्रशस्त करने की क्षमता दोनों ही विधाओं में है । इनका समन्वय एक नूतन युग का संकेतक होगा, इसमें सन्देह नहीं।

## 3.9 शब्दावली

पंगु - लंगड़ा

प्रेक्षक - दर्शक

प्रेक्षागृह - थियेटर

वाङ्मय - साहित्य

सम्पृक्त - जुड़ा हुआ

पौर्वात्य - पूरब का अर्थात् भारतीय

पाश्चात्य - पश्चिमी अर्थात पश्चिमदेशीय

चतुर्वर्गफल - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष

मूक - गूँगा ।

## 3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

डॉ. कृष्णवल्लभ जोशी - हिन्दी साहित्यशास्त्र की भूमिका

डॉ. कृष्णवल्लभ जोशी - हिन्दी साहित्यशास्त्र

डॉ. विजय अग्रवाल - सिनेमा और समाज

## 3.11 सम्बन्धित प्रश्न

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

1. सिनेमा क्या है?
2. सिनेमा और साहित्य का क्या सम्बन्ध है?
3. सिनेमा में साहित्य की क्या उपयोगिता है?
4. क्या सिनेमा साहित्य के साथ न्याय कर सकता है?
5. सिनेमा और साहित्य में क्या अन्तर है?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. साहित्य का अर्थ क्या है?सविस्तार उत्तर दें।
2. पौर्वात्य और पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार साहित्य का प्रयोजन स्पष्ट करें।
3. साहित्य के प्रयोजन में सिनेमा की सार्थकता क्या है?
4. साहित्य और सिनेमा की विवेचना कीजिए।
5. 'सिनेमा में साहित्य' विषय पर एक निबन्ध लिखिए।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

1. सिनेमा शब्द मूलतः किस भाषा का है-

   (क) अंग्रेजी (ख) फ्रेंच (ग) हिन्दी (घ) ग्रीक

2. लिटरेचर शब्द का विकास हुआ है -

   (क) लैटिन से(ख) रोमन से(ग) अंग्रेजी से (घ) हिन्दी से

3. शब्दार्थौं सहित काव्यं गद्यं पद्यं च तदद्विधा के प्रणेता हैं -

   (क) कालिदास(ख) भामह (ग) मम्मट (घ) कुन्तक

4. सहित + यत् प्रत्यय के योग से किस शब्द की व्युत्पत्ति हुई है -

   (क) साहित्य (ख) साहित (ग) सहित्य (घ) सहितार्थ

5. ए. के. हंगल कहाँ से सिनेमा में गये -

   (क) इप्टा (ख) थियेटर (ग) अध्यापन(घ) संगीत

6. 'उसने कहा था' कहानी के लेखक हैं-

   (क) प्रेमचन्द (ख) प्रसाद (ग) चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (घ) कमलेश्वर

**वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर**

1. घ
2. क
3. ख
4. क
5. क
6. ग

# इकाई - 5 : हिन्दी फिल्मों का यथार्थवाद

## इकाई की रूपरेखा-


5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 यथार्थवाद

5.3 हिन्दी सिनेमा में यथार्थवाद का प्रवेश

5.4 हिन्दी फिल्मों में कथानक की माँग और अश्लीलता

5.5 हिन्दी फिल्मों का यथार्थवाद

5.6 हिन्दी फिल्मों में वर्गहित की अवधारणा

5.6.1 आजादी के पूर्व की हिन्दी फिल्में

5.6.2 आजादी के बाद की हिन्दी फिल्में

5.7 यथार्थवादी फिल्मों में इतिहास का हस्तक्षेप

5.8 अभिजात्य संस्कृति और यथार्थवादी फिल्में

5.9 हिन्दी फिल्मों में आदर्शवाद और यथार्थवाद

5.10 सारांश

5.11 शब्दावली

5.12 सम्बन्धित प्रश्न


## 5.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- यथार्थवाद के सम्बन्ध में जान सकेंगे ।
- हिन्दी सिनेमा में यथार्थवाद का प्रवेश कब हुआ,यह जान सकेंगे ।
- कथानक की माँग पर होने वाले हिंसा, प्रतिशोध, अंग प्रदर्शन और अश्लील दृश्यों की विवेचना कर सकेंगे ।

- हिन्दी फिल्मों के यथार्थवाद को व्याख्यायित कर सकेंगे ।
- हिन्दी फिल्मों में वर्गहित की अवधारणा को समझ सकेंगे ।
- यथार्थवादी फिल्मों में इतिहास कहाँ तक स्पन्दित होता है, यह जान सकेंगे।
- अभिजात्य संस्कृति और यथार्थवादी फिल्म का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- हिन्दी फिल्मों में आदर्शवाद और यथार्थवाद की व्याख्या कर सकेंगे।

## 5.1 प्रस्तावना

भारतीय दृष्टि से विचार करने पर यथार्थवादी चिन्तन का आधार ऋग्वैदिक परम्पराओं पर आधृत है। ऋग्वेद की ऋचाएँ प्रत्येक दृष्टि यथार्थवादी चिन्तन की प्रसविनी है। जीवन के प्रत्येक पक्ष के यथार्थवादी, ज्वलन्त और मौलिक प्रतिबिम्ब ऋग्वेद की ऋचाओं में मुखरित हुए हैं । पश्चिमी विचार धारा में यथार्थवादी चिन्तन का उन्मेष कार्ल मार्क्स और फ्रायड से होता है। इन दोनों ने पूरे विश्व को आपादमस्तक परिवर्तित करने में एक अहम भूमिका का निर्वाह किया है। युगानुरूप परिस्थितियों से समाज का प्रत्येक वर्ग प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। साहित्य, संगीत, कला, नाटक, सिनेमा आदि में युग बोध का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है। सिनेमा दृश्य माध्यम का सर्वाधिक सशक्त रूप है। इसकी उपयोगिता और सार्थकता इतनी है कि इसने समाज को परिवर्तित करने में अपने प्रभावी रूप को प्रदर्शित किया है। समाज का दृष्टिकोण जब-जब परिवर्तित होता है, तब-तब उसका प्रभाव सीधा ललित कलाओं पर पड़ता है। चूँकि सिनेमा सर्वाधिक सशक्त माध्यम है इसलिए उस पर यह प्रभाव कुछ अधिक ही पड़ता है। यथार्थवादी चिन्तन का प्रभाव सिनेमा जगत् पर भी उतना ही पड़ा है जितना अन्य क्षेत्रों पर पड़ा है। किन्तु सिनेमा ने यथार्थवादी चिन्तन को ग्रहण भी अपने तरीके से किया है। और उसकी व्याख्या भी अपने तरीके से ही की है। फिल्मों का यथार्थवाद थोड़ा सा पृथक है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि फिल्मों के यथार्थवाद को कुछ और कहेंगे। वह भी यथार्थवाद का एक अंग है। सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करना सिनेमा की नैतिक जिम्मेदारी है, किन्तु उस यथार्थ को एक सार्थक स्वरूप देना भी आवश्यक है। यहाँ आगे के शीर्षकों के अन्तर्गत इस तथ्य को व्याख्यायित किया जायेगा।

## 5.2 यथार्थवाद

यथार्थवाद साहित्य की एक विशिष्ट चिन्तन पद्धति है, जिसके अनुसार कलाकारों को अपनी कृति में जीवन के यथार्थ रूप का अंकन करना चाहिए। यह दृष्टिकोण वस्तुतः आदर्शवाद का विरोधी माना जाता है। पर वस्तुतः तो आदर्श उतना ही यथार्थ है जितनी कि कोई भी यथार्थवादी परिस्थिति। जीवन में अयथार्थ की कल्पना दुष्कर हैं , किन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ में यथार्थवाद जीवन की समग्र परिस्थितियों के प्रति ईमानदारी का दावा करते हुए भी प्रायः सदैव मनुष्य की हीनताओं तथा कुरूपताओं का चित्रण करता है। यथार्थवादी कलाकार जीवन के सुन्दर अंश को छोड़कर असुन्दर अंश का अंकन करता है। यह एक प्रकार से उसका पूर्वाग्रह है।

यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ सब देशों के साहित्य में विभिन्न कालों में मिलती है। वस्तुतः यथार्थवाद सुधारक साहित्य का प्रथमास्त्र है । किसी भी सामाजिक स्थिति के प्रति विद्रोह करते समय साहित्यकार उसका यथार्थवादी चित्र उपस्थित करना चाहता है। इस प्रकार वह अपने पाठक के मन में उस आक्रोश को जन्म देना चाहता है जिसके बिना किसी भी सुधार परिवर्तन अथवा क्रान्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ मध्यकाल में ही दृग्गत होने लगती हैं। कबीर एक प्रकार से हिन्दी के प्रथम यथार्थवादी कवि हैं। उनके समाज में जो खोखलापन घर कर गया था, उसका अत्यन्त सशक्त चित्रण उन्होंने अपने काव्य में किया है।

आधुनिक अर्थ में यथार्थवाद का हिन्दी साहित्य में प्रथम विकास प्रगतिवाद के माध्यम से हुआ। द्विवेदीयुगीन आदर्शप्रियता तथा छायावादी काल्पनिक जगत् के विरूद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने साहित्य सर्जन में यथार्थवाद को एक अपरिहार्य अंग बना दिया। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, सिनेमा, आदि सभी ललित कलाओं में आधुनिक जीवन के गहरे संघर्षों , विद्रूपों, अन्तर्द्वन्द्वों तथा कुरूपताओं का अंकन हुआ है। इस युग के दो मनीषी मार्क्स और फ्रायड ने अपने-अपने तरीके से यथार्थवाद के विकास में सहयोग किया है। मार्क्स ने सामाजिक जीवन के कटु यथार्थ की ओर संकेत किया है। फ्रायड ने वैयक्तिक जीवन की गर्हित कुण्ठाओं की ओर ध्यान दिलाया। कुछ तो समय की आवश्यकता ने और कुछ इन दो चिन्तकों की

विचारधारा ने यथार्थवाद को युग की अनिवार्य प्रवृत्ति बना दिया। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद की मौलिक शक्ति-सम्भावना यथार्थवाद को ही लेकर विकसित हुई थी।

प्रगतिवाद के उपरान्त प्रयोगवाद को भी यथार्थवाद का दाम मिला। एक प्रकार से प्रयोगवाद में यथार्थवाद की प्रवृत्ति कुछ और गहरी हुई । जीवन की तुच्छ से तुच्छ परिस्थिति को भी साहित्य में चित्रित करने योग्य समझा जाने लगा। द्वितीय महायुद्ध ने यथार्थवाद को ललित कलाओं में और अधिक ग्राह्य बनाया और इस प्रकार प्रयोगवाद ने इस मौलिक प्रवृत्ति को अपनी आधारशिला के रूप में स्वीकार किया।

## 5.3 हिन्दी सिनेमा में यथार्थवाद का प्रवेश

जिस प्रकार हिन्दी साहित्य में छायावाद के बाद समाज के कटु यथार्थ को अभिव्यक्ति मिली, उस प्रकार की प्रवृत्ति हिन्दी फिल्मों में विशेषकर सातवें दशक में आ सकी। हालांकि इससे पूर्व राजकपूर, गुरूदत्त आदि की फिल्मों में समाज का यथार्थ व्यक्त हुआ है लेकिन इसे सामाजिक यथार्थ के बजाय 'सामाजिक सरोकार' कहना अधिक उपयुक्त होगा। इनकी फिल्मों में सामाजिक सरोकार अपनी कलात्मकता और रागात्मकता के साथ आया है। इनका अंत भी आदर्शवादी है। कथानक का आदर्शवादी सुखांत फिल्म की यथार्थता को ढककर उसकी तीक्ष्णता को मंद कर देता है। इसलिए यहाँ 'सामाजिक यथार्थ' और 'सामाजिक सरोकार' को अलग-अलग मानकर चला गया है।

सातवें दशक के आरम्भ तक साहित्य तथा कला में यथार्थता अपने उत्कर्ष रूप तक पहुँच चुकी थी। बल्कि यों कहें कि यह यथार्थता प्रकृतवाद की सीमा तक पहुँच गयी थी, विशेषकर कथा साहित्य और चित्रांकन में। इन कला माध्यमों का स्वरूप निजी होने के कारण इस बात की सुविधा इन्हें फिल्मों की अपेक्षा अधिक थी कि वे अपनी अनुभूतियों , कुंठाओं और यथार्थ जीवन दृष्टि (चाहे वह जैसी भी थी) को अपनी इच्छानुसार शब्द या चित्र रूप दे सकें। चूँकि इन कला रूपों की पहुँच का क्षेत्र काफी सीमित था और इस क्षेत्र का दायरा भी शैक्षणिक, आर्थिक, सामाजिक और संस्कृति की एक विशेष सीमा रेखा के ऊपर था, इसलिए भी कलाकारों के पास इस बात की काफी गुंजाइश थी कि वे अपनी भावनाओं को कैसे व्यक्त करते हैं। लेकिन फिल्म के साथ यह स्थिति ज्यों की त्यों नहीं थी। एक तो यह

एक सामूहिक माध्यम है। दूसरे इसका विस्तार क्षेत्र अत्यंत व्यापक है जिसमें शिक्षा, भाषा, धर्म तथा क्षेत्र की दृष्टि से देश का हर वर्ग शामिल है।

हिन्दी फिल्मों के इस यथार्थवाद को आरेखित करते हुए प्रसिद्ध पत्रकार आर. एस. पाण्डेय 'विकल' द्वारा की गयी टिप्पणी सार्थक प्रतीत होती है-

Realism in Hindi films is the representation of obscenity and nudity. The film having a wide scope includes every section of the society with a view to the education, language, religion and region.But the role of a Brahmin as a fraudulent, kshatriya as a feudatory prince, a policeman as a receiver of bribe and a judge as a transgressor is displayed. This causes a grudge among the particular community and offers an open invitation to the division of National unity and integrity. (R.S. Pandey, 'Vikal' : Realism in Hindi Film: The Hindu, Coimbatore Edition : Feb. 5,19).

अर्थात् हिन्दी फिल्मों, में यथार्थवाद फूहड़पन एवं नग्नता का प्रदर्शक है। यद्यपि फिल्म का दृष्टिकोण व्यापक है और इसमें क्षेत्र, धर्म, शिक्षा, भाषा के अनुसार समाज का प्रत्येक वर्ग सम्मिलित है, तथापि ढोंगी के रूप में एक ब्राह्मण, सामन्त के रूप में एक क्षत्रिय, रिश्वतखोर के रूप में एक पुलिसकर्मी तथा कानून तोड़ने वाले के रूप में एक न्यायाधीश का अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। यह समुदाय विशेष से विद्वेष का कारण है । साथ ही राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के विभाजन का मुक्त आमन्त्रण भी।

इन सारी स्थितियों ने फिल्म जगत में एक नए यथार्थवाद को जन्म दिया। इनका यह यथार्थवाद साहित्य जगत का यथार्थवाद नहीं था। बल्कि यह मनोहर कहानियों का यथार्थवाद था। 'मनोहर कहानियाँ' और 'सत्य कथा' के कुछ लेखक बड़े गर्व से यह दावा करते हैं कि उन्होंने समाज की एक सच्ची घटना को प्रस्तुत किया है। लेकिन वे दो मुख्य बातें भूल जाते हैं। पहली यह कि क्या हत्या, डकैती, बलात्कार और अवैध संबंधों के अतिरिक्त समाज में कोई घटना सच्चे रूप में घटती ही नहीं। दूसरे यह कि रचनाकार फोटोग्राफर (हालाँकि इसमें भी रचनात्मकता की

जरूरत होती है) नहीं होता । घटनाएँ उसके लिए कच्ची सामग्री का काम करती है। जिन्हें वह अपने कलात्मक स्पर्श द्वारा कला का रूप देता है। साहित्य में यथार्थवाद सन 1935 के आस-पास आ गया था। इस यथार्थवाद में सामाजिक सरोकार और उसके प्रति संवेदना का मिश्रण था। इसलिए इसे सामाजिक स्नेह मिल सका। लेकिन जो फिल्मों का यथार्थवाद है, उसे व्यावसायिक सफलता (लोकप्रियता) तो अवश्य मिली, लेकिन सामाजिक मान्यता नहीं मिल सकी। यहाँ यह बात स्पष्ट करना जरूरी है कि 'सामाजिक प्रभाव' को 'सामाजिक मान्यता' का प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए।

ये तत्व फिल्मों की उच्छृंखलता को काफी कुछ सीमा तक नियंत्रित करते रहे। फिर सेंसर बोर्ड भी इनके सामने एक बाड़ का काम करता है। यह बात अलग है कि जैसे-जैसे भारतीय राजनीति पर धन शक्ति और बाहु शक्ति का प्रभाव बढ़ता जा रहा है वैसे-वैसे बोर्ड की कैंची की धार भी इन बोझों के कारण भोथरी होती चली जा रही है। लेकिन फिर भी फिल्म व्यवसाय के क्षेत्र में इसका एक अप्रत्यक्ष भय तो है ही। इन्हीं सब कारणों का मिला-जुला प्रभाव यह हुआ कि फिल्में यथार्थ के प्रकृतवादी चित्रण करने में कुछ संयम और हिचक बरतती रहीं, लेकिन पूरी तरह बाज कभी नहीं आई।

## 5.4 हिन्दी फिल्मों में कथानक की माँग और अश्लीलता

फिल्म सेंसर बोर्ड ने जहाँ अश्लील और वीभत्स प्रसंगा-दृश्यों को नियंत्रित करने (जितना भी वह कर सका ) का काम किया, वहीं इसने इन दृश्यों का प्रमाणीकरण करके उन्हें सरकारी (सामाजिक) मान्यता प्रदान करने का प्रमाणीकरण करके उन्हें सरकारी (सामाजिक) मान्यता प्रदान करने का भी काम किया है। यदि किसी एक दृश्य को सेंसर बोर्ड ने पास कर दिया, तो वह दृश्य न्यायालय के निर्णय की तरह आने वाले दिनों में एक उदाहरण का काम करने लगता है। सातवें दशक तक पहुँचते-पहुँचते फिल्म व्यवसायियों के पास ऐसे ढेर सारे उदाहरण इकट्ठे हो गये, जिनको उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके वे अपने दृश्यों के पक्ष में दलीलें दे सकते थे। दृश्यों के इस एलबम ने फिल्म निर्माताओं को इस ओर आगे कदम बढ़ाने के लिए हिम्मत और आधार दिया।

इस बीच एक बात और हुई। पिछले कुछ वर्षों में जो फिल्में आई हैं, उनमें

देह-प्रदर्शन, अश्लीलता एवं हिंसात्मक दृश्यों की संख्या बढ़ती चली गई है । जब इन अश्लील दृश्यों और देह-प्रदर्शन के बारे में किसी नायिका और निर्देशक से पूछा जाता है तो वे इसे 'कहानी की माँग' का नाम देकर सामने वाले को चुप कर देते हैं। हाल की करीब-करीब सभी नायिकाओं ने पूरी दबंगयी के साथ यह कहा है कि यदि कथानक की माँग हुई तो उन्हें शरीर-प्रदर्शन में कोई एतराज नहीं होगा । निर्माता, निर्देशक और नायिकाओं के इस कथन ने फिल्मों की कथावस्तु के निर्धारण में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्वाभाविक है कि फिल्मों की कहानी ही ऐसी रखी जाए कि किसी नायिका को (नायक को इसकी जरूरत नहीं पड़ती) कोई भी दृश्य देने में आपत्ति ही न हो। फिर इसी 'कहानी की माँग'के हथियार का सहारा लेकर सेंसर बोर्ड से भी निपटा जा सकता था। सेंसर बोर्ड भी कम उदार नहीं है । वैसे भी बोर्ड का ध्यान केवल दृश्यों तक (कभी-कभी संवादों तक भी) ही सीमित रहता है। संपूर्ण कथानक से उसका कुछ लेना-देना नहीं रहता। इसमें कोई दो मत नहीं कि 'कथानक की माँग' के इस बड़े चालाकी भरे तर्क ने सेंसर बोर्ड को और भी अधिक कमजोर किया है।

## 5.5 हिन्दी फिल्मों का यथार्थवाद

हिन्दी फिल्मों का यथार्थवाद एक नूतन धरातल पर अवलम्बित है । वास्तविक यथार्थवाद और हिन्दी फिल्मों के यथार्थवाद में जमीन-आसमान का पार्थक्य है। हिन्दी फिल्मों का यथार्थवाद बहुत कुछ मनगढ़न्त होता है।

फिल्म 'बॉबी' , शोले' और 'जय संतोषी माँ' का प्रदर्शन और इनकी रिकार्ड-तोड़ सफलता ने फिल्म जगत में इस तथाकथित यथार्थवाद को जन्म दिया और भविष्य में इसकी सफलता के समीकरण सूत्रों की ओर संकेत भी किया। ये तीनों फिल्में सातवें दशक के आरंभ की हैं और मजेदार बात यह कि ये तीनों विपरीत स्थायी भावों पर आधारित हैं । 'बॉबी' का स्थायी भाव श्रृंगार है - कृष्ण और राधा के बाल प्रेम के मिथक का आधुनिक संस्करण। 'शोले' का स्थायी भाव 'क्रोध' और 'घृणा' है। - राम और रावण के संबंधों के मिथक का आधुनिक संस्करण तथा 'जय संतोषी माँ' का स्थायी भाव 'शाँत' है - भक्ति परम्परा के दास्य भाव पर आधारित । इन तीनों फिल्मों की सफलता इसलिए नहीं रही कि इन तीनों के पास अपना-अपना अलग वर्ग था, बल्कि इसलिए रही कि इन तीनों फिल्मों को सभी वर्ग के लोगों ने

एक-एक बार नहीं बल्कि कई-कई बार देखा।

इन तीनों फिल्मों में यद्यपि फिल्मी यथार्थवाद सीधे-सीधे वैसे नहीं आया है, जैसे आठवें दशक में आया, बल्कि वह अप्रत्यक्ष रूप से आया है। इसके बाद के फिल्म निर्माताओं ने इस अप्रत्यक्ष यथार्थ को पकड़ा तथा उसे भविष्य की फिल्मों का आधार बनाया। फिल्म 'बॉबी' में यह यथार्थवाद डिंपल के देह प्रदर्शन में व्यक्त हुआ है। जान-बूझकर 'बॉबी' को ईसाई परिवार का सदस्य बनाया गया ताकि पहनावे के रूप में मिड्डी, विचारों के रूप में उदारता तथा स्विमिंग पूल के मनचाहे दृश्य फिल्माए जा सकें। अन्यथा यदि फिल्म के संपूर्ण कथानक को देखा जाए और फिल्म के ''मैं मैके चली जाऊँगी' जैसे गीत, लोकसंगीत और नृत्य को देखा जाए तो उसका तालमेल ईसाई परंपरा से नहीं बैठता । यह सब दृश्य विशेषों के लिए, 'कथानक की माँग' का तर्क प्रस्तुत करने के लिए किया गया। मै समझता हूँ कि यदि 'बॉबी' से कुछ दृश्य निकाल दिए जाएँ, और डिंपल को साड़ी या सलवार पहना दी जाए तो फिल्म की अपार लोकप्रियता निश्चित रूप से संदिग्ध हो जाएगी। लेकिन राजकपूर ऐसा कोई रिस्क नहीं लेना चाहते थे। इसलिए उन्होंने एक ऐसी नई लड़की को एक नए रूप में प्रस्तुत किया, जो फिल्मांकन के मामले में ज्यादा ना-नुकुर न करे।

फिल्म 'शोले' और 'जय संतोषी माँ' की सफलता का काल देश का आपातकाल रहा है। पहले लोगों के मन में वर्तमान व्यवस्था के प्रति आक्रोश था, जिसको दबाने के लिए आपातकाल लगाया गया।आपातकाल लगने के बाद लोगों के मन में आपातकाल के प्रति आक्रोश का भाव बना। लेकिन उस आक्रोश की अभिव्यक्ति के सभी लोकतांत्रिक माध्यम बंद किए जा चुके थे। मुझे लगता है कि 'शोले' फिल्म ने लोगों के अंदर की इस घुटती हुई भाप को निकालने के लिए 'सेफ्टी वॉल्व' का काम किया। अरस्तू के 'विरेचन के सिद्धान्त' की तर्ज पर कहा जा सकता है कि दर्शक का आक्रोश इस फिल्म को देखने के बाद कुछ कम हो जाता था।

मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि 'शोले' की सफलता का एकमात्र कारण यही था, बल्कि यह है कि उस समय के सामाजिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण में व्याप्त आक्रोश और तनाव के भाव ने इस फिल्म की कथावस्तु को

अत्यंत लोकप्रिय बना दिया। इस फिल्म के प्रदर्शन के साथ कुछ ऐसा ही हुआ मानो वातावरण में ऋणात्मक विद्युत आवेश पहले से ही मौजूद हो और उसे अचानक ही धनात्मक विद्युत आवेश मिल जाए और दोनों एक-दूसरे के प्रति बड़ी तेजी से आकर्षित हो जाएँ। इस प्रकार 'शोले' फिल्म ने भविष्य के लिए एक ऐसे यथार्थवाद की ओर इंगित किया, जो दर्शकों के मन में पहले से ही उपस्थित हिंसा, घृणा, क्षोभ आदि भावों के आधार पर सामाजिक यथार्थ की तलाश करता है। यह परंपरा हिंदी फिल्मों में बड़ी प्रमुखता के साथ आगे बढ़ी, जो आज भी अपने राजनीतिक, काला बाजारी और हिंसा प्रधान कथानकों के माध्यम से मौजूद है।

'जय संतोषी माँ' की अतिरिक्त सफलता में दो तत्वों की प्रमुख भूमिका मालूम पड़ती हैं। पहलाा है कुछ भी न कर पाने की स्थिति से उपजी हताश मानसिकता के कारण किसी चमत्कारिक शक्ति का आश्रय ग्रहण करना। यह बहुत कुछ भक्तिकालीन युग की सामूहिक चेतना से मेल खाता है। आपातकालीन आक्रोश की अभिव्यक्ति जहाँ 'शोले' जैसी फिल्मों को देखने में हुई, वहीं 'जय संतोषी माँ' जैसी फिल्मों में भी हुई । दूसरे यह कि 'संतोषी माँ' का नाम और उसका प्रसाद (गुड़ और चना) भारत की सबसे बड़ी आबादी की आर्थिक स्थिति के सबसे अधिक अनुकूल था। इस फिल्म का कथानक हमारे तत्कालीन समाज की जर्जर आर्थिक स्थिति की यथार्थता में बिलकुल फिट बैठा। हालाँकि जब निर्माता ने फिल्म बनाई होगी, उस समय भले ही यह बात उसके मन में न रही हो, लेकिन बाद में तो उसे इस आर्थिक यथार्थ का खूब लाभ मिला। यथार्थ की यह परंपरा विकसित नहीं हो सकी। क्योंकि सन 1977 के बाद की स्थितियों ने व्यक्ति को निराशावादी के स्थान पर आक्रोशवादी बनाया है। इसलिए 'शोले' तपता रहा और उसके प्रकाश में फिल्में बनने लगीं।

आठवें दशक की शुरूआत में सामाजिक यथार्थ के नाम पर बनने वाली फिल्मों की तीन धाराएँ दिखाई पड़ती हैं । पहली धारा डाक्यूमेटरी फिल्मों की है। इनमें तत्कालीन छोटी-छोटी समस्याओं को दृश्य-श्रव्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह एक प्रकार की ऐसी फिल्म है जो पत्रकारिता (रिपोर्टिंग) के करीब है। यह धारा अत्यन्त प्रभावशाली है और मुख्यतः जनवादी चेतना पर आधारित है। इसके अंतर्गत आनंद पटवर्धन, रमेश शर्मा जैसे प्रतिबद्ध फिल्मकार आते है।

दूसरी धारा उन फिल्मकारों की है जिन्होंने सामाजिक यथार्थ के नाम पर हिंसा,

बलात्कार और अपराध जैसे कथानकों को चुना। इन्होंने 'सत्यकथा' और 'मनोहर कहानियाँ' की तर्ज पर अपनी विषय-वस्तु का निर्धारण किया। इनके यथार्थ में बुराई ही बुराई है। इन फिल्म निर्माताओं, निर्देशकों और अभिनेताओं का अपने पक्ष में तर्क है कि जब समाज में ही हिंसा और अपराध व्याप्त है तो हम क्या करें?

यथार्थ फिल्मों की तीसरी धारा इन दोनों के बीच की धारा है। इनमें सामाजिक यथार्थ न तो रिपोर्टिंग के अनुसार फोटोग्राफिक रूप में प्रस्तुत हुआ है और न ही शुद्ध व्यावसायिक रूप में। इसके अंतर्गत जहाँ आधुनिक जीवन की विडंबनाएं तीखे रूप में व्यक्त हुई है। वहीं वर्तमान व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक (कहीं-कहीं विद्रोहात्मक भी) दृष्टि मिलती है, जो एक प्रश्नवाचक चिन्ह पर समाप्त होती है। गोविंद निहलानी, सई परांजपे, गुलजार, रमेश शर्मा, केतन मेहता आदि की फिल्में इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। 'मोहन जोशी हाजिर हो, 'पार', 'अर्धसत्य' यह वो मंजिल तो नहीं' , 'सुराज', 'आक्रोश', चक्र', 'बाजार' आदि फिल्में इसी श्रेणी की हैं। इन फिल्मों की भी मूल दृष्टि जनवादी है।

आज हमारे समाज में द्वितीय धारा की फिल्मों की प्रमुखता है। इन्हें मूलतः न तो सामाजिक यथार्थ से कोई मतलब है और न ही इनके पास कोई सामाजिक दृष्टि है। इनके पास मुख्यतः एक ही दृष्टि है, वह है आर्थिक लाभ। इसके लिए समाज से जुड़ी और समाज में घटी ऐसी बहुचर्चित घटनाओं को उठाया जाता है, जो आसानी से बिक सके। कुछ समय पूर्व एक फिल्म प्रदर्शित हुई थी- 'कॉलेज गर्ल' । यह फिल्म बंबई के एक महाविद्यालय में घटी बलात्कार की घटना पर आधारित है। इस फिल्म को लेकर काफी विवाद रहा। अंततः यह फिल्म प्रदर्शित हुई । इससे पूर्व एक फिल्म आई थी 'कमला' । यह भी सत्य घटना पर आधारित थी।

पिछले कुछ वर्षों से 'पत्रकारों' से जुड़े कथानकों पर काफी फिल्में आई और वे चर्चित भी हुई। इन फिल्मों में भी पत्रकार के रचनात्मक पक्ष को सामने न लाकर उसके विद्रोह की क्षमता तथा सत्ता द्वारा उसको टार्चर किए जाने के पक्ष को मुखरित किया गया। निःसन्देह रूप से विशेषकर आपातकाल के बाद भारतीय समाज में पत्रकारों की गतिविधियाँ बढ़ी हैं तथा सत्ता के साथ उनके संबंधों के नए समीकरण भी स्थापित हुए हैं। अभी तक की फिल्मों में पत्रकार केवल एक पत्रकार की भूमिका में आता था, जो कथानक को थोड़ी सी गति देने या जोड़ने का काम करता था।

आठवें दशक में वह नायक की भूमिका के रूप में प्रस्तुत हुआ। निश्चित रूप से यह कथानक दर्शकों के लिए नया और रोचक भी था। लेकिन फिल्म जगत ने इस सामूहिक नई अभिरूचि का उपयोग उनकी सृजनात्मकता को उभारने के बजाय अपने व्यावसायिक लाभ को बढ़ाने के लिए किया। ऐसी फिल्मों में हिंसा के (प्रताड़ना के भी) दृश्यों की भरमार इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं। विरोध हिंसा से नहीं है बल्कि उससे है जब हिंसा केवल हिंसा के लिए ही होती है। टेलीफिल्म 'तमस' में कम हिंसा नहीं थी, लेकिन वह हिंसा कहीं पर भी अलग से दिखाई नहीं पड़ी, बल्कि कथानक का हिस्सा ही मालूम हुई।

'पामेला बोर्डोस' पर फिल्म बन रही थी, लेकिन नायिका के असामयिक निधन के कारण वह स्थगित हो गई । अब फिर से फिल्म बनाने की घोषणा हुई है। निश्चित रूप से पामेला पर बनी फिल्म को निर्माता एक यथार्थ फिल्म का ही नाम देगा। लेकिन इस यथार्थ के पीछे उसकी व्यावसायिक नीयत को आसानी से भाँपा जा सकता है।

सन 1985 में राजकपूर की फिल्म आई थी, 'राम तेरी गंगा मैली' । हालाँकि फिल्म का कथानक प्रेम पर आधारित था, लेकिन उसका शीर्षक शुद्धतः व्यवसायिक था। सन 1985 में प्रधान मंत्री श्री राजीव गाँधी के नेतृत्ववाली नई सरकार ने 'गंगा सफाई अभियान' बड़े पैमाने पर शुरू किया था और इस अभियान का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार भी हुआ था। राजकपूर ने इसी अभियान के प्रचार का लाभ लिया। उन्होंने अपनी फिल्म की नायिका को गंगा बना दिया और फिल्म का शीर्षक रख दिया- 'राम तेरी गंगा मैली' । इस प्रकार उन्होंने बड़ी चालाकी से तत्कालीन समाज में प्रचलित एक कार्यक्रम को अपनी फिल्म का शीर्षक देकर उसका आर्थिक लाभ उठा लिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि फिल्मों का यथार्थवाद अपनी तरह का अलग ही यथार्थवाद है, जिसका आधार व्यावसायिक हित होता है न कि सामाजिक हित। यदि उसमें सामाजिक हित भी निकल आए तो यह या तो एक संयोग की बात है, या फिर कथानक और दृश्यों की मजबूरी। इनके यथार्थ के पीछे कोई निश्चित और सुनिश्चित धारणा नहीं होती।

## 5.6 हिन्दी फिल्मों में वर्गहित की अवधारणा

हिन्दी फिल्मों में वर्गहित की अवधारणा को दो भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है- (1) आजादी के पूर्व की हिन्दी फिल्में (2) आजादी के बाद की हिन्दी फिल्में।

### 5.6.1 आजादी के पूर्व की हिन्दी फिल्में

हमारे यहाँ फिल्मों का इतिहास करीब तीन चौथाई शताब्दी पुराना है। आजादी से पूर्व जो मूक और बाद में बोलती हुई फिल्में बनीं, उनमें और आजादी के बाद बनी फिल्मों में एक मूलभूत अंतर है। फिल्मों में वर्गीय हितों की जाँच-पड़ताल के लिए इस अंतर को समझना जरूरी है। उस समय सारा देश उपनिवेशवाद से मुक्त होने की कोशिश में था। आजादी के संघर्ष के समानांतर एक सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष भी जारी था। उस समय अंग्रेज हमारा शासक था, लेकिन फिल्म भारतीयों के हाथ में थी। उस समय शासक और शासितों की विभाजन रेखा भी स्पष्ट थी। दोनों वर्गों के हित सर्वथा विरोधी थे और इसके लिए संघर्ष जारी भी था। इसलिए उस समय की फिल्मों में हमें वर्गीय हित उतने स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ते। उस समय का शासक वर्ग फिल्मों के प्रभाव से अपरिचित नहीं था। उसने फिल्मों पर बराबर अपना नियंत्रण बनाए रखा। इसी कारण 'महात्मा ' जैसी फिल्मों को अपना नाम बदलकर 'धर्मात्मा' करना पड़ा, क्योंकि अंग्रेजों को यह भय हो गया था कि 'महात्मा' शब्द से महात्मा गाँधी का प्रचार होगा और उनकी लोकप्रियता बढ़ेगी । जहाँ इस तरह का दबाव हो वहाँ स्पष्ट राजनीतिक फिल्मों के बनाए जाने की संभावना न्यून हो जाती है। इसलिए उस समय की फिल्मों ने स्वयं को समाज में हो रही सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति से जोड़ा और उसे पर्याप्त सहयोग दिया।

आजादी से पूर्व सत्ता पर अंग्रेजों तथा अंग्रेजी पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग का अधिकार था। अंग्रेजों ने अपनी विरासत ज्यों की त्यों उच्च वर्ग के लोगों के हाथों सौंप दी। आजादी के समय सत्ता का संक्रमण कुछ इस तरह हुआ कि राजनीति पर सम्पन्न वर्ग का अधिकार हो गया तथा नौकरशाही तंत्र अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के कब्जे में आ गई । आज भी अंग्रेजी पढ़ा लिखा, पश्चिमीकृत शहरी मध्य वर्ग ही शासक वर्ग है। जो अंग्रेजों के समय में भी शासक (नौकरशाह) रहा है। जबकि बहुसंख्यक किसान, गाँव तथा शहरों के मजदूर शासित वर्ग में है। देश की मूल

धारा के करीब 90 प्रतिशत लोग सत्ता के घेरे से बाहर हैं।

## 5.6.2 आजादी के बाद की हिन्दी फिल्में

आजादी के बाद हिन्दी फिल्मों ने धीरे-धीरे वर्गहितो के अनुरूप आकार ग्रहण करना प्रारम्भ किया। हालाँकि इसकी स्पष्ट झलक आजादी के तुरंत बाद उतने स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं पड़ती, जितनी सन् 1960 के बाद से तथा फिर 1980 के बाद से दिखाई पड़ती है। मेरे इस काल- विभाजन के कुछ स्पष्ट कारण हैं, हालाँकि इन कारणों का उल्लेख अलग से एक लेख का विषय हो सकता है, लेकिन यहाँ संक्षेप में चर्चा करना इस दृष्टि से उपयोगी होगा ताकि फिल्मों में प्रतिबिंबित मूल्यों की यथार्थ जीवन में तलाश की जा सके। आजादी के कुछ समय बाद तक स्वतंत्रता-संघर्ष की तासीर बनी हुई थी। लेकिन सन् 1960 के बाद, खासकर नेहरू युग के बाद हमारी सामाजिक संरचना पर पश्चिमी मूल्यों का दबाव बढ़ने लगा। आजादी के बाद ऐसे सांस्कृतिक प्रयास शून्य से रहे, जो भारतीय जनमानस को इन बाहरी दबावों से उबार सके। सन् 1980 तक पहुँचते-पहुँचते ये दबाव अत्यंत प्रभावशाली हो गये। आधुनिकता के जो नग्न रूप पूर्वी एशिया के बैंकाक, सियोल, सिंगापुर आदि नगरों में दिखाई दिए थे, उनकी झलक अब तक दिल्ली, कलकत्ता, बंबई आदि शहरों में भी 'पंचतारा' होटलों की सभ्यता के रूप में दिखाई देने लगी। इस प्रकार इस सभ्यता ने फिल्मों को फिर एक नया मोड़ दिया। इन तीनों कालों की फिल्मों में प्रतिबिंबित होते वर्गीय हितों की सामूहिक रूप से चर्चा करना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि किसी काल-विशेष के वर्गहित, किसी दूसरे काल- विशेष से बहुत अधिक अलग नहीं होते, उनके आधार में थोड़ा बहुत बदलाव भले ही हो जाए।

वर्ग पर आधारित समाज में अधिकार प्राप्त वर्ग स्वयं के लिए कला का उपयोग मनोरंजन के रूप में करता है तथा सामान्य जनता को फुसलाने के रूप में, ताकि आम जनता वर्तमान वस्तुस्थिति से अपरिचित रहे और भविष्य की आशा से काल्पनिक संसार में भटकती रहे। इस दृष्टि के अनेक रूप हिन्दी फिल्मों में देखे जा सकते हैं। अधिकांश फिल्मों ने प्रेम को बड़े ही रोमांटिक रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रेम की बनावट में भावनाओं के धागे इस तरह पिरोए जाते हैं कि दर्शक वर्ग फिल्म के आस -पास के यथार्थ वातारण में अलग-थलग पड़ जाता है। प्रेम का भी रूप इस तरह होता है कि नायक और नायिका में वर्गगत भेद बहुत गहरा होता है।

स्थिति चाहे गरीब नायक की धनिक नायिका से मिलने की हो अथवा गरीब नायिका की धनिक नायक से मिलने की, यथार्थ जीवन में ऐसे मिलन अपवादस्वरूप ही होते हैं। ऐसे मिलन की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि गरीब से गरीब दर्शक भी किसी शुभ भविष्य की प्रतीक्षा में खो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि इससे शोषित वर्ग में इस वर्ग के प्रति सहानुभूति की भावना भी बनती है। इस तरह एक काल्पनिक रोमांस के कुहरे में यथार्थ का जीवन धुंधलाने लगता है और गरीबी का एक तरह से रोमानीकरण हो जाता है। उनकी दमित भावनाओं का काल्पनिक शमन हो जाता है। व्यावसायिक सफलता के लिए यह सबसे आसान फार्मूला भी है। इसलिए हमारे फिल्म -निर्माताओं ने इस कथावस्तु का जमकर इस्तेमाल किया है।

फिल्मों की दूसरी मुख्य धारा मार-धाड़ वाली फिल्मों की है। ये फिल्में शोषित वर्ग के लिए उच्च वर्ग के पक्ष में 'सेफ्टीवॉल्व' का काम करती है। इन फिल्मों का आक्रोश या विद्रोह सामूहिक नहीं होता, बल्कि वह निहायत ही व्यक्तिगत होता है। जब दर्शक फिल्म में व्यक्तिगत आक्रोश को अभिवयक्त होते देखता है, तो उसके अंदर की भाषा धीरे-धीरे निकलने लगती है। यदि ऐसा नहीं भी होता तो ये फिल्में सामाजिक समस्याओं का जो निजी समाधान करने का रास्ता दिखाती है वह व्यवहार में निरर्थक सिद्ध होता है। वर्तमान समाज में लोगों के मन में आक्रोश है और वे उसकी अभिव्यक्ति चाहते हैं। अमिताभ बच्चन की सफलता और लोकप्रियता का मूल आधार ही यह है कि वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों, लंबी टांगों तथा भारी आवाज द्वारा आज के व्यक्तिगत आक्रोश को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने में सक्षम है। यदि इस आक्रोश को एक सही रचनात्मक दिशा मिल जाए तो वह सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का कारण बन सकता है।

लेकिन ऐसा होना कुछ लोगों के हितों के विरूद्ध होगा। इसी वर्ग में तस्करी से जुड़ी हुई फिल्में आती है, जिनका हिंदी में अभाव नहीं है । ये फिल्में एक गरीब व्यक्ति को उठाकर अचानक करोड़पति बना देती है। ऐसे कथानक भी युवा वर्ग को यथार्थवादी नहीं बल्कि स्वप्नदर्शी बनाते हैं।

## 5.7 यथार्थवादी फिल्मों में इतिहास का हस्तक्षेप

यथार्थवादी धरातल पर बनी फिल्मों में भी इतिहास का हस्तक्षेप दृग्गत होता है। इतिहास से कथानक को लेकर यथार्थवादी साँचे में ढाला गया है। इतिहास पर

आधारित अनेक फिल्में बनायी गयी हैं। लेकिन उनमें उस युग का समाज नहीं, बल्कि शासकों का प्रेमी हृदय धड़कता है। इतिहास की सचाई भविष्य के लिए मार्गदर्शन का काम करती है। लेकिन ऐतिहासिक फिल्में ऐसा नहीं करती। हमारे यहाँ जो धार्मिक फिल्में आई, उनका केन्द्र बिन्दु अलौकिकता, चमत्कार और भाग्यवाद रहा। ये फिल्में धर्म के उन मूलभूत तत्वों का संदेश देने से दूर रहीं, जो समाज को उदार तथा सर्व धर्मसमभाव वाला बनाता तथा जिससे सांप्रदायिक सौहार्द की स्थिति बनती। ये धार्मिक फिल्में अंततः भाग्यवाद का समर्थन करती, है जो यथास्थिति को कायम रखने में सहायक होता है। धार्मिक चमत्कार और भाग्यवाद के ये तत्व केवल धार्मिक फिल्मों में ही नहीं, बल्कि अन्य सभी फिल्मों में किसी न किसी रूप में थोड़े-बहुत मिल ही जाएँगे। हताश और निराश मानसिकता को यह भाग्यवाद बहुत अपील करता है। कुछ फिल्में तो पूर्णरूप से उच्च वर्ग के हितों का प्रोपेगंडा करती है। यह बात अलग है कि दर्शक उन्हें इस रूप में नहीं देख पाता, क्योंकि मुख्य कथानक के आसपास घटनाओं, चेष्टा, दृश्य तथा गीत-संगीत का ऐसा सम्मोहक जाल बुना जाता है कि वर्गीय हित के ये तंतु अस्पष्ट हो जाते हैं, जैसे - फिल्म 'नमक हलाल' को लिया जा सकता है।

## 5.8 अभिजात्य संस्कृति और यथार्थवादी फिल्में

अभिजात्य वर्ग की अपनी एक अभिजात्य संस्कृति होती है, जो लोक-संस्कृति से भिन्न होती है। वर्तमान में यह अभिजात्य संस्कृति पश्चिमी देशों से प्रभावित है। इस वर्ग का हित इसी में होता है कि वे लोक-जन पर अपनी संस्कृति थोपकर अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता प्रमाणित करें तथा उन्हें मानसिक रूप से गुलाम बना लें । हिन्दी फिल्में धीरे-धीरे इसी दिशा की ओर बढ़ रहा हैं। फिल्मों में ग्राम्य जीवन के स्थान पर नगरीय जीवन तथा किसान और मजदूर वर्ग के स्थान पर मध्यम, उच्च-मध्यम तथा उच्च वर्ग का चित्रण मिलता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि फिल्मों में भव्य मकान, गाड़ियाँ, होटल, पार्टी, कैबरे आदि को स्थान मिल जाता है । फिर इसका परिणाम होता है- अश्लीलता और नग्नता । ये उपभोगवादी संस्कृति की ओर बढ़ते हुए कदम हैं। उपभोग की यह भावना उद्योगों के विस्तार और लाभ का आधार होती है। इससे उद्योगपतियों को ही लाभ होता है। यदि कहा जाए कि अधिकांश हिन्दी फिल्में एक सामूहिक विज्ञापन है, तो शायद गलत नहीं होगा।

यह विज्ञापन सभ्यता का भी है और संस्कृति का भी। यह विज्ञापन हमारे आचार-व्यवहार तथा विचारों का भी है तथा खान-पान और पहनावे का भी।

एक निर्देशक के लिए, एक फोटोग्राफर के लिए फिल्म भले ही कला का माध्यम हो, लेकिन फिल्म-निर्माता के लिए यह एक उद्योग ही है। इस सचाई से इनकार नहीं किया जा सकता कि फिल्म- निर्देशक और फिल्म लेखक पर निर्माता का दबाव पड़ेगा ही । यह दबाव आर्थिक लाभ के लिए होगा। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में फिल्मों का मूल उद्देश्य 'कला, कला के लिए' होगा, न कि 'कला, जीवन के लिए' । कुछ निर्देशक चालाकी से मनोरंजन में भी जीवन के स्पंदन ढूँढ निकालते हैं, लेकिन उसे पकड़ पाना बहुसंख्यक दर्शक वर्ग के लिए संभव नहीं है।

## 5.9 हिन्दी फिल्मों में आदर्शवाद और यथार्थवाद

हिन्दी फिल्मों का आदर्शीकृत रूप कई मायनों में वर्गीय हित की अवधारणा को पुष्ट करता है । हमारा नायक अकेले ही बड़ी से बड़ी समस्याओं से निपटकर विजय पाने में सक्षम होता है। इससे आम दर्शक के अवचेतन में यह भ्रम पलने लगता है कि कभी नायक जैसा ही कोई चमत्कारी पुरूष आएगा और वह उसे समस्त दुखों से उबार लेगा या फिर यह कि कभी ऐसा चमत्कार होगा कि वह स्वयं शक्तिसम्पन्न हो जाएगा। पुलिस की कर्तव्यपरायणता का जो रूप फिल्मों में प्रस्तुत किया जाता है, वह भी कड़वे यथार्थ का आदर्शीकृत रूप है, जो दर्शकों के मन में एक सद्भाव जाग्रत करता है।

कुछ फिल्में ऐसी भी हैं जो परंपरागत सामंतीय मूल्यों का समर्थन करती हैं। अनेक फिल्में नायक-नायिका की कुलीनता और रक्त की श्रेष्ठता को बड़े प्रबल ढंग से प्रस्तुत करती हैं और चूँकि कुलीनतावाद का यह रहस्य फिल्म के क्लाइमेक्स पर खुलता है, इसलिए यह अधिक प्रभावशाली हो जाता है । जैसे - फिल्म धरम-करम में नायक यदि नीच लोगों के बीच रहकर भी अपना धर्म बचाए हुए है तो उसका कारण यह है कि वह उच्च कुल में पैदा हुआ व्यक्ति है। इसी तरह यदि फिल्म में किसी नायिका को तवायफ बताया जायेगा तो उसके चरित्र की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए उसे किसी 'रायबहादुर' 'ठाकुर'या 'सेठ' के रक्त से संबंधित बताया जाएगा।

इस प्रकार ये फिल्में भले ही सीधे-सीधे जातिगत आधारों का उपयोग नहीं करती, लेकिन वे वंशानुगत श्रेष्ठता स्थापित करके भारतीय जनता की जातिगत धारणाओं को मजबूत करने में सहायता अवश्य करती है।

हिन्दी में जो भावना प्रधान साफ-सुथरी फिल्में आईं उनमें मध्यमवर्गीय जीवन के हल्के- फुल्के प्रसंगों को उठाया गया। इनमें उनके बाह्य संघर्ष के स्थान पर भावनात्मक टकराहट को व्यक्त किया जाता है। इनमें भी दर्शकों के व्यक्तिगत जीवन के प्रति भावनाओं को उभारा जाता है। ऐसी फिल्मों में भी सामान्यतः सामाजिक रूढ़ियों पर तीखे व्यंग्य से बचा जाता है। इन फिल्मों में यद्यपि फिल्मकार की मुद्रा यथार्थवादी होती है लेकिन यथार्थ के वर्गीय अंतर्विरोध को ये फिल्में नहीं उभारती।

## 5.10 सारांश

सारांशतः कहा जा सकता है कि यथार्थवादी चिन्तन का आधार कार्ल मार्क्स और फ्रायड की विचारधारा है । इन दोनों चिन्तनों ने समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया है। इनकी विचारशक्ति से ललित कलाएँ भी प्रभावित हुई हैं। फिल्मों पर यह प्रभाव कुछ अधिक ही पड़ा है। वस्तुतः हिन्दी फिल्मों में यथार्थवादी चिन्तन का उन्मेष राजकपूर की कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का परिणाम है। राजकपूर ने अनेक ऐसी फिल्मों का निर्माण किया, जिसके द्वारा यथार्थवादी चिन्तन की आधारभूमि पल्लवित हुई । संगम, मेरा नाम जोकर, राम तेरी गंगा मैली आदि फिल्में इसी कोटि में आती है। फिल्मों में यथार्थवाद ने अपना पाँव स्थापित कर लिया है, किन्तु कहीं- कहीं इस यथार्थवादी चिन्तन की आड़ में कतिपय विकृत चित्रों को प्रदर्शित किया जाता है, जिसमें विकृत कुण्ठाओं की मानसिक यौन सन्तुष्टि का कुपोषण होता है। इससे बच्चों में भी विकृत यौन कुण्ठा का जन्म होता है और भारत का नौनिहाल उल्टे कदम चलने लगता है। एम.एफ. हुसैन के यथार्थवादी चित्र किस काम के, जिसको देखकर भारतीय संस्कृति का सिर लज्जा से झुक जाय। वस्तुतः इन परिस्थितियों को युग धर्म कहा जा सकता है। इसके लिए अकेले अभिनेता या निर्माता जिम्मेदार नहीं है साथ ही दर्शक भी कम दोषी नहीं है। यदि दर्शक देखना नहीं चाहेगा तो क्या निर्माता-निर्देशक किसी को पकड़कर घर से लायेंगे। इस परिस्थिति से छुटकारा तभी मिल सकता है , जब निर्माता, अभिनेता, पटकथा- लेखक और दर्शक सभी में समन्वय हो सके।

## 5.11 शब्दावली

1. ऋचाएं - ऋचा का बहुवचन । केवल ऋग्वेद के पद्यों को ऋचा कहा जाता है।
2. आपादमस्तक - सिर से पाँव तक या पाँव से सिर तक ।
3. सुखान्त - जिसका अन्त सुखमय हो। पश्चिमी नाटक प्रायः दुःखान्त होते हैं।
4. पंचतारा - फाइव स्टार
5. अभिजात्य - उच्च वर्ग ।
6. गुलाम - पराधीन ।

## 5.12 सम्बन्धित प्रश्न

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

1. यथार्थवाद क्या है?
2. हिन्दी सिनेमा में यथार्थवाद का प्रवेश कब हुआ?
3. हिन्दी फिल्मों का यथार्थवाद क्या है?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. हिन्दी फिल्मों के यथार्थवाद की व्याख्या कीजिए।
2. हिन्दी फिल्मों में वर्गहित की अवधारणा को प्रतिपादित कीजिए।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

1. अश्लील दृश्यों के पीछे क्या दलील दी जाती है-

   (क) कहानी की माँग (ख) नायिका की व्यक्तिगत इच्छा

   (ग) निर्देशक की तानाशाही (घ) दर्शक की यौन कुण्ठा

2. 'शोले' फिल्म का स्थायी भाव क्या है-

   (क) भक्ति और श्रृंगार (ख) क्रोध और घृणा

   (ग) शान्त (घ) उपर्युक्त सब

3. 'जय संतोषी माँ' का स्थायी भाव क्या है-

(क) शान्त (ख) उत्साह

(ग) घृणा (घ) क्रोध

4. आपातकाल के आक्रोश के बाद 'शोले' ने क्या काम किया-

(क) वॉलीबॉल का (ख) प्रोत्साहन का

(ग) सेफ्टी वॉल्व का (घ) उपयुर्क्त सभी का

5. मुम्बई के एक महाविद्यालय में घटी बलात्कार घटना पर आधारित फिल्म है -

(क) काल गर्ल (ख) स्वीट गर्ल

(ग) क्यूट गर्ल (घ) कॉलेज गर्ल

6. 'राम तेरी गंगा मैली' फिल्म की नायिका का नाम क्या है?

(क) यमुना (ख) रोमा

(ग) गंगा (घ) चित्रयामिनी

**वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर**

1. क
2. ख
3. ग
4. ग
5. घ
6. ग

# NOTES

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद



# खण्ड

# 03

## फिल्म और तत्कालीन संदर्भ

इकाई-1 5
सिनेमा और इतिहास

इकाई-2 25
सिनेमा की व्यावसायिकता

इकाई-3 38
सिनेमा की विविधता

इकाई-4 एवं 5 संयुक्त 63
फिल्म फोटोग्राफी

## परामर्श-समिति

| | |
|---|---|
| **प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव** | **कुलपति - अध्यक्ष** |
| **डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल** | **कार्यक्रम संयोजक** |
| **श्री एम0 एल0 कनौजिया** | **कुलसचिव - सचिव** |

## परिमापन

**1- प्रो0 राम मोहन पाठक** - वाराणसी

**2- डॉ0 अर्जुन तिवारी** - इलाहाबाद

## सम्पादन

**1- श्री राजकृष्ण मिश्र**

## लेखक मंडल

## PGDEM&FP - 02

**1- श्री राजकृष्ण मिश्र** - लखनऊ

**2- डॉ0 के0 के0 मालवीय** - इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से कुलसचिव, श्री एम0 एल0 कनौजिया, द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, मार्च 2008

मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद, मुद्रित। फोन - 2548837

# इकाई - 1 सिनेमा और इतिहास

## इकाई की रूपरेखा


1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप

1.3 इतिहास-दर्शन की रूपरेखा

1.3.1 इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

1.3.2 इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण

1.4 सिनेमा का इतिहास - दर्शन

1.5 सिनेमा में लोक-मानस

1.6 भारतीय लोक-मानस और ऐतिहासिक पात्र

1.7 प्रेम और शौर्य विषयक ऐतिहासिक कथानक

1.8 इतिहास के फिल्मांकन की प्रक्रिया में व्यावहारिक कठिनाइयाँ

1.9 सारांश

1.10 शब्दावली

1.11 सम्बन्धित प्रश्न


## 1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- इतिहास का अर्थ एवं स्वरूप समझ सकेंगे।
- इतिहास-दर्शन की रूपरेखा स्पष्ट कर सकेंगे।
- इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण की व्याख्या कर सकेंगे।
- इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण की व्याख्या कर सकेंगे।
- सिनेमा के इतिहास-दर्शन को समझ सकेंगे।
- लोक-मानस के हिसाब से सिनेमा को व्याख्यायित कर सकेंगे।

- भारतीय लोक-मानस में बसे ऐतिहासिक पात्रों के महत्त्व को स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रेम और शौर्य विषयक ऐतिहासिक कथानकों के महत्त्व को प्रतिपादित कर सकेंगे।
- इतिहास के फिल्मांकन की प्रक्रिया में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों को समझ सकेंगे।

## 1.1 प्रस्तावना

इतिहास के सन्दर्भ में नव-गीतकार शम्भुनाथ सिंह की निम्नांकित पंक्तियाँ सार्थक और समीचीन प्रतीत होती हैं। यथा—

'समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
किसी ने बनाये किसी ने मिटाये।
किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी
किसी ने पढ़ा सिर्फ दो बूँद पानी
इसी में गये बीत दिन जिन्दगी के
किसी ने हँसाये किसी ने रुलाये।'

वस्तुतः इतिहास समय के शिलापट्ट पर लिखा हुआ अतीत का मधुर संस्मरण है। इस शिलापट्ट पर कहीं आंसुओं की गंगा है तो कहीं खुशी और सुख का परावार हिलोरें मार रहा है। इसी के अंक में कहीं पृथ्वीराज चौहान और संयोगिता की प्रणय कथा तो कहीं स्वातन्त्र्य ज्योति लिये गहन अटवी में भटकते महाराणा का शौर्य। इतिहास इन्हीं सुख-दुःखात्मक अन्तर्द्वन्दों के उद्वेग, आवेग और भावोच्छास का समन्वित दस्तावेज़ हैं। सिनेमाकार इन्हीं विशेष क्षणों को पकड़ता है और उसे कल्पना के सहारे जीने की कोशिश करता है। उस व्यतीत हुए अतीत को वर्तमान में ढालने के पूर्व निर्देशक को अनेक सोपानों से होकर गुजरना पड़ता है। छोटी-छोटी चीजों की कल्पना करनी होती है। सत्य कथा और कल्पना का मिश्रण इस तरह किया जाता है कि कहीं भी अतिरिक्त न दृग्गत हो। इतिहास की यथार्थ घटनाओं को रूपहले परदे पर ढालना एक जोखिम भरा काम है।

## 1.2 इतिहास : अर्थ और स्वरूप

शाब्दिक दृष्टि में 'इतिहास' का अर्थ है—'ऐसा ही हुआ'। इससे दो बातें स्पष्ट हैं–एक तो यह कि इतिहास का सम्बन्ध अतीत से है; दूसरे यह कि उसके अन्तर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का समावेश किया जाता है। उसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है जिनका सम्बन्ध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है और साथ ही उसका सम्बन्ध केवल 'प्रसिद्ध घटनाओं' से ही नहीं, अपितु उन घटनाओं से भी जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुतः आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अन्तर्गत, अतीत की, प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अतः संक्षेप में अतीत के किसी भी तथ्य, तत्त्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को, जो कि काल-विशेष या काल-क्रम की दृष्टि से किया गया हो, इतिहास कहा जा सकता है। लाक्षणिक अर्थ में 'इतिहास' का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीत-कालीन घटनाओं और व्यकित्यों के लिए भी होता है, जैसे—'महात्मा गाँधी ने भारत के नये इतिहास का निर्माण किया' या 'सम्राट अशोक भारत के इतिहास-निर्माता थे' आदि वाक्यों में। किन्तु शास्त्रीय का वैज्ञानिक या वैज्ञानिक विवेचन में लाक्षणिक प्रयोग अग्राह्य या त्याज्य ही समझे जाते हैं।

प्राचीन काल से ही इतिहास को अध्ययन के एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त है, किन्तु अध्येताओं के दृष्टिकोण एवं पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहा है; इसलिए कभी उसे कला के क्षेत्र में और कभी विज्ञान के क्षेत्र में स्थान दिया जाता रहा। वस्तुतः इतिहास कला है या विज्ञान, यह प्रश्न आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद के मूल में यह भ्रान्ति विद्यमान है कि कोई भी वस्तु या विषय अपने आप में कला या विज्ञान की कोटि में आ सकता है जबकि वास्तविकता यह है कि कला या विज्ञान का निर्णय विषयवस्तु के आधार पर नहीं, अपितु उसकी अध्ययन-पद्धति या रचना-पद्धति पर निर्भर है। इतिहास हमें अतीत का इतिवृत्त प्रदान करता है, किन्तु यह हम पर निर्भर है कि उस इतिवृत्त का उपयोग किस प्रकार करते हैं। यदि अतीत के इतिवृत्त को हम आत्मपरक दृष्टिकोण, वैयक्तिक अनुभूति एवं ललित शैली में प्रस्तुत करते हैं तो वह 'कला' की संज्ञा से

विभूषित हो सकता है जबकि वस्तुपरक दृष्टिकोण, तर्कपूर्ण शैली एवं गवेषणात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया अतीत का विवरण 'विज्ञान' की विशेषताओं से युक्त माना जा सकता है। वस्तुतः इतिहास से कवि, साहित्यकार, उपदेशक, शोधकर्ता आदि विभिन्न वर्गों के लोग प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं तथा उनकी दृष्टि व पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप भी बदलता रहा है—ऐसी स्थिति में इतिहास के भी विभिन्न रूप उपलब्ध हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

फिर भी, आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है। अतः प्रत्येक इतिहासकार से दृष्टिकोण की तटस्थता या वस्तुपरकता, तथ्यों की यथार्थता और निष्कर्षों की प्रामाणिकता की अपेक्षा की जाती है; यह दूसरी बात है कि विषयवस्तु की अविद्यमानता व अप्रत्यक्षता के कारण 'भौतिक विज्ञान' की-सी वैज्ञानिकता का आविर्भाव उसमें शायद ही सम्भव हो। वास्तव में विषय-भेद से स्वयं विज्ञान भी अनेक श्रेणियों एवं कोटियों में विभक्त हो जाता है; उदाहरण के लिए मनोवैज्ञानिक, समाजविज्ञान व भाषाविज्ञान को हम विज्ञान की उसी श्रेणी में स्थान नहीं दे सकते जिस श्रेणी में 'भौतिकविज्ञान, रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान को देते हैं। अतः इतिहास को भी हम उसी श्रेणी के विज्ञान में स्थान दे सकते हैं, जिस श्रेणी में भाषाविज्ञान व समाजविज्ञान (Sociology) को देते हैं।

## 1.3 इतिहास : दर्शन की रूपरेखा

जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, इतिहास के अध्ययन में विभिन्न विद्वान् विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों का प्रयोग करते हैं तथा ये दृष्टिकोण भी समय-समय पर बदलते रहे हैं— इसी तथ्य के आधार पर 'इतिहास-दर्शन' विषय की स्थापना हुई है जिसमें इतिहास के सम्बन्ध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों, धारणाओं व विचारों का अध्ययन किया जाता है। अस्तु इतिहास सम्बन्धी इन्ही विचारों या धारणाओं को समूह-रूप में 'इतिहास-दर्शन' की संज्ञा दी जाती है।

वैसे, पश्चिमी के कुछ विद्वानों ने 'इतिहास-दर्शन' (Philosophy of History) का प्रयोग संकीर्ण व सीमित अर्थ में करते हुए अपने-अपने दृष्टिकोणों को ही उस पर आरोपित करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम वोल्तेर ने इस संज्ञा का प्रयोग करते हुए इसके अर्थ को केवल 'आलोचनात्मक या वैज्ञानिक इतिहास'

तक सीमित रखने का प्रयास किया। हीगल ने इसका प्रयोग विश्व-इतिहास के अर्थ में तथा परवर्ती युग के कुछ विद्वानों ने केवल परीक्षणात्मक याथार्थवादी दृष्टिकोण के लिए किया। किन्तु आज 'इतिहास-दर्शन' के नाम से उपलब्ध पुस्तकों में पूर्व से पश्चिम तक तथा प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के उन सभी दृष्टिकोणों व विचारों का प्रतिपादन किया जाता है जो इतिहास के अध्ययन से प्रयुक्त हुए हैं। ऐसी स्थिति में, यदि हम एकांगी और एकपक्षीय धारणाओं से बचते हुए 'इतिहास-दर्शन' का सर्वांगीण व सर्वपक्षीय बोध प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें उसे उसी व्यापक एवं समन्वित अर्थ में ग्रहण करना होगा जिसके अनुसार 'इतिहास-दर्शन' उन दृष्टिकोणों, विचारों व अध्ययन-पद्धतियों के समूह का सूचक है, जिनका प्रयोग इतिहास के अध्ययन से सम्भव है।

### 1.3.1 इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण प्रायः आदर्शमूलक एवं अध्यात्मवादी रहा है, इसीलिए उसमें भौतिक जगत् की स्थूल घटनाओं में भी अध्यात्मिक तत्वों व प्रवृत्तियों के अनुसन्धान की प्रवृत्ति रही है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में प्रायः सामयिक तत्वों की अपेक्षा चिरन्तन मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है, अतः यहाँ के प्राचीन इतिहासकारों ने अतीत की व्याख्या भी इसी दृष्टिकोण से की; अर्थात् वे परिवर्तनशील अतीत में से भी उन प्रवृत्तियों का अनुसन्धान करते रहे जो मनुष्य को स्थायी एवं अमर बनाती हैं। उन्होंने घटनाओं एवं क्रिया-कलापों की व्यवस्था भौतिक उपलब्धियों एवं वैयक्तिक सफलताओं की दृष्टि से कम करके समष्टि-हित की दृष्टि से अधिक की। इसीलिए महाभारत ने इतिहास को परिभाषित करते हुए लिखा है-

'धर्मार्थकाममोक्षाणामुदेश समन्वितम्।

पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।' —महाभारत

अर्थात् इतिहास ऐसा पूर्ववृत्त है, जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश दिया जा सके।

विष्णुपुराणकार ने ऋषियों एवं महापुरूषों के चरित्र-गान को 'इतिहास' के रूप में स्वीकार करते हुए घटना की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व प्रदान किया है-

'आर्व्यादिबहुव्याख्यानैदेवर्षिचरिताश्रयम्।

इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भूतधर्मयुक्।।'— विष्णुपुराण

ऐसा पूर्ववृत्त माना जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश दिया जा सके; तो पौराणिकों ने ऋषियों एवं महापुरूषों के चरित-गान को 'इतिहास' के रूप में स्वीकार करते हुए घटना की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व प्रदान किया।

यद्यपि आगे चलकर बाण, कल्हण आदि इतिहासकारों ने इससे भिन्न दृष्टि को अपनाते हुए आध्यात्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक तत्वों की अपेक्षा यथार्थपरक वस्तु एवं तथ्यों को अधिक महत्त्व प्रदान किया, किन्तु काव्यात्मकता एवं अलंकृति का मोह वे भी न त्याग सके। इसीलिए जहाँ प्राचीन युग में, भारतीय इतिहासकारों की रचनाएं चारित्रिक मूल्यों, नैतिक उपदेशों व आध्यात्मिक रूपकों से युक्त होकर पौराणिक रूप में परिणत हो गयीं, वहाँ परवर्ती इतिहासकारों की रचनाएं शुद्ध इतिहास की अपेक्षा 'काव्यात्मक इतिहास' या 'ऐतिहासिक काव्य' के रूप में विकसित हुई। वस्तुतः भारत का प्राचीन इतिहासकार सत्य-शोधन तक ही सीमित नहीं रहा, वह 'शिव' और 'सुन्दरम' के समन्वय के लिए भी बराबर सचेष्ट रहा। इसे व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ उसका 'गुण' कहा जा सकता है, वहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से यह उसका बड़ा 'दोष' भी माना जा सकता है, क्योंकि उसने इतिहास के कलेवर में कला और नीति को स्थान देकर उसे शुद्ध ऐतिहासिकता से वंचित रखा। फिर भी, यदि इतिहास के कलात्मक या काव्यात्मक रूप का किसी भी दृष्टि से कोई महत्व है तो उस दृष्टि से भारतीय इतिहासकार को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जा सकता है। वास्तव में भारतीय इतिहासकार ने अपनी संस्कृति एवं जीवन के आदर्शों के अनुरूप ही इतिहास के क्षेत्र में भी संश्लेषणात्मक व समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उसमें 'सत्यं', शिवं व सुन्दरम् के समन्वय का प्रयास किया, जो उसकी परम्पराओं को देखते हुए उचित व स्वाभाविक कहा जा सकता है।

### 1.3.1 इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण

जहाँ भारतीय इतिहासकारों के दृष्टिकोण में आदर्शवादिता की प्रमुखता रही, वहाँ पाश्चात्य इतिहासकार प्रायः यथार्थवादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित रहे हैं। 'इतिहास' (History) के प्रथम व्याख्याता यूनानी विद्वान् हिरोदोतस (456-545,

ई.पू.) ने इसे 'खोज', 'गवेषणा' या 'अनुसन्धान' के अर्थ में ग्रहण करते हुए इसके चार लक्षण निर्धारित किये थे— एक तो यह कि इतिहास वैज्ञानिक विद्या है, अतः इसकी पद्धति आलोचनात्मक होती है। दूसरे, यह मानव जाति से सम्बन्धित होने के कारण मानवीय विद्या (मानविकी) है। तीसरे, यह तर्कसंगत विद्या है, अतः इसमें तथ्य और निष्कर्ष प्रमाण पर आधारित होते हैं, चौथे, यह अतीत के आलोक में भविष्य पर प्रकाश डालता है, अतः यह शिक्षाप्रद विद्या है। इसके अतिरिक्त हिरोदोतस ने यह भी स्पष्ट किया कि इतिहास का लक्ष्य प्राकृतिक या भौतिक परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या करता है।

प्राचीन युग में सामान्यतः हिरोदोतस का ही दृष्टिकोण मान्य रहा, किन्तु आधुनिक युग के विभिन्न विद्वानों ने इसके सम्बन्ध में नये दृष्टिकोण से विचार किया। इटैलियन विद्वान् विको (1668-1744) ने इतिहास का सम्बन्ध न केवल अतीत से, अपितु वर्तमान से भी स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि इतिहास का निर्माता स्वयं मनुष्य है और मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियाँ सदा समान रहती हैं, अतः विभिन्न युगों के इतिहास में भी समान प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है। इतिहास-लेखन की पद्धति के सम्बन्ध में भी विको ने अनेक सुझाव देते हुए इतिहासकारों को अतिरंजना व अतिशयोक्ति से बचने और अतीत को अधिक महत्व न देने की बात कही।

जर्मन दार्शनिक कान्ट (1724-1804) ने इतिहास की नयी व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आन्तरिक विकास-प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब-मात्र है, अतः इतिहास को भी इसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए, अर्थात् ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे प्राकृतिक नियमों की प्रवृत्ति को समझने का प्रयास किया जाना चाहिए। हीगल (1770-1831) ने कान्ट की विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए स्पष्ट किया कि इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण एवं संकलन-मात्र नहीं है, अपितु उसके भीतर कारण-कार्य की श्रृंखला विद्यमान है। हीगल के मतानुसार, विश्व-इतिहास की प्रक्रिया का मूल लक्ष्य मानव-चेतना का विकास है जो द्वन्दात्मक पद्धति पर आधारित है। इस द्वान्दात्मक पद्धति या प्रक्रिया के अनुसार वाद (thesis) एवं प्रतिवाद (anti-thesis) के द्वन्द से समवाद (synthesis) का विकास होता है। इतिहास की व्याख्या भी इसी द्वन्दात्मक पद्धति के आधार पर होनी चाहिए।

उन्नीसवीं शती में डारविन ने अपने विकासवादी सिद्धान्त की स्थापना के द्वारा इतिहास को एक नूतन दृष्टि, शक्ति व गति प्रदान की। डारविन-परवर्ती युग में विभिन्न चिन्तकों ने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में विभिन्न विकासवादी सिद्धान्तों की स्थापना करते हुए प्रमाणित किया कि सृष्टि का कोई अंग या तत्व एकाएक घटित या रचित न होकर क्रमशः विकसित है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ 'घटना-समूह' का संकलन न होकर 'विकास-क्रम' का विवेचन है। कार्ल-मार्क्स, एंजिल्स, मारगन, प्रभूति ने विकासवाद के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से करते हुए उसे विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। बीसवीं शती के अनेक इतिहासकारों—स्पेंगलर, ट्रवायनबी, टर्नर आदि — ने विश्व-संस्कृति और सभ्यता के इतिहास की व्याख्या विकासवादी नियमों व प्रवृत्तियों के आधार पर करने की चेष्टा की है।

अस्तु आज पाश्चात्य इतिहास-दर्शन के सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक विकसित दृष्टिकोण के रूप में विकासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु अनेक दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता। एक तो अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले विकासवादी चिन्तकों के सिद्धान्तों में भी परस्पर अन्विति एवं एकरूपता का अभाव है—जहाँ डारविन का विकासवाद प्राणिशास्त्र में लागू होता है, वहाँ मार्क्स का अर्थशास्त्र में, स्पेन्सर का भौतिकविज्ञान में या बर्गसॉ का मनोविज्ञान में लागू होता है। दूसरे, विकासवादी सिद्धान्तों के विरोध में भी प्रतिक्रिया हो रही है, विद्वानों का एक वर्ग इन्हें 'विधेयवादी' कहकर ठुकराने का प्रयास कर रहा है। सार्त्र आदि के वे अनुयायी जो कि नियमबद्धता, पूर्व-निश्चितता एवं पूर्वनिर्धारण के विरोधी हैं, इतिहास को भी किसी नियम से आबद्ध करना कैसे स्वीकार कर सकते हैं। अस्तित्ववादियों के अनुसार जब प्रकृति एवं मनुष्य ही नियमों से युक्त हैं तो उनके इतिहास को नियमबद्ध कैसे किया जा सकता है! किन्तु हमारे विचार में नियम और अनुशासन का यह विरोध अवैज्ञानिकता एवं अराजकता का ही पोषक है। कदाचित् हीगल के शब्दों में यह भी वाद का प्रतिवाद-मात्र है, जो सम्भवतः हमें किसी नये 'समवाद' की ओर अग्रसर करने में सहायक सिद्ध हो सके।

## 1.4 सिनेमा का इतिहास-दर्शन

सामान्यतः 'इतिहास' शब्द से राजनीति व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध

होता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका इतिहास से सम्बन्ध न हो। अतः सिनेमा भी इतिहास से असम्बद्ध नहीं है। सिनेमा के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया-कलापों के स्थान पर सिनेमा का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। वैसे देखा जाय तो सिनेमा भी मानवीय क्रिया-कलापों से पृथक् नहीं है, अपितु वह विशेष वर्ग के मनुष्यों की विशिष्ट क्रियाओं का सूचक है। दूसरे शब्दों में सिनेमा, निर्माता, निर्देशकों की सर्जनात्मक क्रियाओं और प्रवृत्तियों का सूचक होता है। अतः उसके इतिहास को समझने के लिए उसके निर्माताओं तथा उनसे सम्बन्धित परिस्थितियों और परम्पराओं को समझना भी आवश्यक है। प्रारम्भ में जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में राजाओं के जीवन-चरित्र एवं राजनैतिक घटनाओं को संकलित कर देना पर्याप्त समझा जाता था, उसी प्रकार सिनेमा के इतिहास में भी सिनेमा व उसके अभिनेता, अभिनेत्री, खलनायक, निर्माता-निर्देशक एवं सम्बन्धित समूह का स्थूल परिचय ही पर्याप्त होता था, किन्तु ज्यों-ज्यों इतिहास के सामान्य दृष्टिकोण का विकास होता गया, त्यों-त्यों साहित्येतिहास की भाँति ही सिनेमा के इतिहास के दृष्टिकोण में भी तद्नुसार सूक्ष्मता व गम्भीरता आती गयी। यद्यपि इतिहास के अन्य क्षेत्रों की तुलना में सिनेमा का इतिहास-दर्शन एवं उसकी पद्धति अब भी बहुत पिछड़ी हुई है, किन्तु फिर भी समय-समय पर इस प्रकार के अनेक प्रयास हुए हैं, जिसका लक्ष्य सिनेमा के इतिहास को भी सामान्य इतिहास के स्तर पर पहुँचाने का रहा है।

अंग्रेजी के विभिन्न इतिहासकारों द्वारा यह धारणा बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी कि किसी भी जाति के सिनेमा-साहित्य का इतिहास उस जाति के सामाजिक एवं राजनातिक वातावरण को ही प्रतिबिम्बित करता है या सिनेमा की प्रवृत्तियाँ सम्बन्धित समाज की प्रवृत्तियों की सूचक होती है। फ्रेंच विद्वान् तेन (Taine) किसी भी ललित कला के इतिहास-दर्शन में मुख्यतः तीन प्रकार सक्रिय तत्त्व स्वीकार करते हैं—जाति (race), वातावरण (milieu), क्षण-विद्रोह (moment)। तेन की व्याख्या से यह भली-भाँति स्पष्ट है कि सिनेमा या साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे सम्बन्धित जातीय परम्पराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण आवश्यक है।

सिनेमा की विकास-प्रक्रिया के अध्ययन के लिए उससे सम्बन्धित इन पाँच तत्त्वों पर विचार किया जाना चाहिए—

1. सर्जन-शक्ति, 2. परम्परा, 3. वातावरण, 4. द्वन्द, और 5. सन्तुलन।

## 1.5 सिनेमा में लोक-मानस

मुझे लगता है कि भारतीय फिल्मों के कथानक तथा उसके स्वरूप निर्धारण के पीछे सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सक्रिय तत्त्व है—भारतीय लोक-मानस। यह बात गौर करने लायक है कि इक्कीसवीं शताब्दी में पदार्पण करने की तैयारी में मशगूल भारत की सामूहिक चेतना आज भी अपने प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों में आविष्ट है। मैं 'सामूहिक चेतना' की बात कह रहा हूँ, शहरी चेतना की नहीं। फिर यह भी है कि शहरी चेतना आज तक लोक-चेतना की जड़ों के रेशों को झाड़कर अपने को उससे पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाई है। ऐसा लगता है कि इस लोक-चेतना तथा शहरी चेतना को केन्द्र में रखकर हम अपने यहाँ की फिल्मों के निर्माण तथा उनकी सफलता-असफलता का काफी कुछ सीमा तक मूल्यांकन कर सकते हैं। यदि हमारे यहाँ एक ही समय में एक ओर 'जय संतोषी माँ' सफल होती हैं, और दूसरी ओर 'शोले' या 'बॉबी' सफल होती है, तो इनके पीछे इन दोनों चेतनाओं की अनुकूलता की बात की जाँच करके अच्छे सामाजिक और सांस्कृतिक निष्कर्ष प्राप्त किए जा सकते हैं। खैर—यहाँ थोड़ा विषयांतर हो गया। 'सामूहिक चेतना' की चर्चा करने के पीछे मेरा उद्देश्य केवल यह संकेत देना था कि हमारे यहाँ इतिहास पर आधारित कथानकों पर जो भी फिल्में बनीं, वे इस सामूहिक चेतना को ध्यान में रखकर बनीं।

हमें इस सच्चाई को स्वीकार कहना ही चाहिए कि इतिहास, इतिहास है, तथा सिनेमा, सिनेमा है। मुझे लगता है कि गड़बड़ी होने की आशंका तब बढ़ जाती है, जब हम सिनेमा को इतिहास के पन्ने समझने के बौद्धिक मोह में पड़ जाते हैं। इस दृष्टि से तो साहित्य सिनेमा की अपेक्षा इतिहास के अधिक निकट है। लेकिन इसके बावजूद साहित्य इतिहास नहीं है। जिस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासों अथवा नाटकों का मूल्यांकन ऐतिहासिक तथ्यों की प्रमाणिकता के आधार पर नहीं होता, उसी प्रकार क्या ऐतिहासिक सिनेमा के मूल्यांकन में भी उतनी छूट नहीं दी जानी चाहिए। यहाँ एक बात और है। हमें सिनेमा और डाक्यूमेंटरी को भी अलग रखना होगा। किसी ऐतिहासिक तथ्य पर एक प्रामाणिक डाक्यूमेन्ट्री बन सकती है, लेकिन उतनी प्रामाणिक फिल्म बनाना, कम से कम भारतीय समाज में संदर्भ में तो, एक बड़ी चुनौती ही है। इसी प्रकार आज की एक डाक्यूमेन्ट्री फिल्म कल के इतिहास-

लेखन के लिए एक सशक्त प्रामाणिक दस्तावेज बन सकती है, लेकिन आज के सिनेमा के लिए यह उतना संभव नहीं है। आखिर ऐसा क्यों है, इसके कुछ कारणों को ढूँढा जा सकता है।

जैसा कि मैंने पहले कहा, हमारे यहाँ के फिल्म निर्माण के स्वरूप का निर्धारण करने में हमारी सामूहिक संस्कृति की सामूहिक चेतना का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। हमारे यहाँ फिल्म निर्माण की शुरूआत ही मिथक, धार्मिक-ऐतिहासिक तथा लोककथाओं से हुई है। खैर, मूक सिनेमा के युग की तो यह एक अनिवार्य आवश्यकता ही थी कि कथानक ऐसे चुने जाएँ, जिनकी जानकारी लोगों को पहले से ही हो। लेकिन जब सवाक् फिल्मों की शुरूआत हुई, तब भी हमारे फिल्मकार कथानक के चयन के इस आधार को छोड़ नहीं पाए। वैसे यदि हम शास्त्रीय दृष्टि से सोचें तो यह बात थोड़ी अजीब-सी लगेगी। अजीब-सी इसलिए क्योंकि पूर्व ज्ञात कथानकों की कथा, उसका चरमोत्कर्ष तथा उसका अंत तो दर्शकों को पहले से ही ज्ञात होता है, इसलिए उस फिल्म में 'जिज्ञासा' नामक तत्त्व तो रह ही नहीं जाता। इसके बावजूद यदि ऐसी फिल्में बनीं और सफल रही हैं तो उसका श्रेय सामूहिक चेतना तथा विषयवस्तु की प्रस्तुति के कलात्मक सौंदर्य को दिया जाना चाहिए।

## 1.6 भारतीय लोक-मानस और ऐतिहासिक पात्र

भारतीय लोकमानस में अपनी संस्कृति के मिथक, धार्मिक कथाओं, ऐतिहासिक पात्रों तथा महत्त्वपूर्ण लोक-चरित्रों के प्रति एक विशेष आकर्षण है, बल्कि यो कहें कि एक सम्मोहनजनक स्थिति है। मुझे लगता है कि इसीलिए हमारे फिल्मकारों ने इतिहास से केवल उन्हीं घटनाओं, पात्रों और आख्यानों को लिया, जिनसे हमारा समाज पहले से परिचित है, और जिनके बारे में उनकी रूचि पूर्व-परीक्षित भी है। इसके कुछ स्पष्ट तात्कालिक लाभ थे। पहला तो यही कि इन फिल्मों के सफल हो जाने की कुछ-न-कुछ तो गारंटी मिल ही जाती थी। इसके फिल्म के साथ जुड़ा हुआ अर्थशास्त्र अपने आपको थोड़ा सुरक्षित अनुभव करता था। दूसरे यह कि इतिहास के नाम पर कुछ ऐसे दृश्य, कुछ ऐसी घटनाओं को फिल्माने की सामाजिक स्वीकृति भी मिल जाती थी, जिनके लिए अन्यथा उस समय का समाज शायद विरोध करता। एक बात और भी थी। आजादी से पहले के काल में जो ऐतिहासिक फिल्में बनीं, उन्होंने अपने माध्यम से उस सांस्कृतिक, पुनर्जागरण

आंदोलन को आवाज दी, जिसकी शुरूआत उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में राजा राममोहन राय ने की थी। पुरु, शिवाजी, महाराणा प्रताप और झाँसी की रानी जैसे स्वाभिमानी, देशभक्त वीरों के कथानकों द्वारा उस समय के फिल्मकारों ने लोगों में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने का काम किया। हाँलाकि उस समय सिनेमाघर बहुत कम थे और वे भी बड़े नगरों तक सीमित थे, फिर भी उसमें निहित उद्देश्यों और उसके राष्ट्रव्यापी प्रभाव इतने नगण्य नहीं थे कि उनकी अनदेखी की जा सके।

शायद इस बात को स्वीकार करने में फिल्मकारों को कोई एतराज नहीं होगा कि उन्होंने ऐतिहासिक फिल्में न तो इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बनाईं हैं, और न ही वे ऐतिहासिक मूल्यांकन की अपेक्षा करते हैं। उनकी यह सीधी-सादी स्वीकारोक्ति होगी कि उन्होंने ऐतिहासिक फिल्में देश के आम लोगों के लिए बनाई हैं, और इस तरह से बनाई हैं, ताकि शिक्षित-अशिक्षित हर कोई उसे देखना चाहे, और देखकर आनंद का अनुभव करे। 'लोगों की पसन्द' के इस खयाल ने फिल्मकारों द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं तथा पात्रों के चयन के क्षेत्र को काफी सीमित कर दिया। क्या यही वह प्रधान कारण नहीं है जिसके चलते कुछ ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों पर तो कई-कई फिल्में बनीं, और कुछ घटनाओं तथा पात्रों को छुआ तक नहीं गया, चाहे वे घटनाएँ और पात्र ऐतिहासिक दृष्टि से कितने भी महत्त्वपूर्ण क्यों न रहे हों। यह एक बड़ा कारण मालूम पड़ता है, जिसके चलते मुगलकाल पर सबसे अधिक फिल्में बनीं। मुगलकाल की कथाओं में प्रेम-प्रसंगों, उर्दू के प्रभावशाली संवादों तथा गीत एवं नृत्यों की सबसे अधिक संभावना निहित थी और संभावना का भरपूर उपयोग भी किया गया। वे फिल्में सफल भी रहीं। यदि ऐसी फिल्मों के प्रेम-कथानकों तथा घटनाओं की ऐतिहासिकता को ढूंढ़ने की कोशिश की जाए, तो अधिकांश मामलों में निराशा ही हाथ लगेगी। वस्तुतः ऐसी फिल्मों में किया यह गया है कि उस समय के उन प्रसंगों को उठाया गया जो उस समय लोगों की चेतना में मौजूद थे, भले ही उनका कोई भी ऐतिहासिक आधार न हो। इस बात की उन्हें विशेष चिंता भी नहीं रही है। उनकी चिंता इस बात के प्रति रही है कि किस प्रकार उस युग के वातावरण को अधिक-से-अधिक प्रामाणिक तौर पर प्रस्तुत किया जाए। ऐसा इसलिए क्योंकि वे जानते थे कि बिना ऐतिहासिक वातावरण के रस परिपाक नहीं हो सकेगा, फलस्वरूप फिल्म की अपील करने की क्षमता नहीं के बराबर रह जाएगी।

फिल्म एक सामूहिक कला माध्यम है। इसलिए इसकी संप्रेषणीयता के विभिन्न स्तरों पर भी जाने-अनजाने में कुछ ऐसे तथ्य शामिल होते रहते हैं, और कुछ पूर्व तथ्य खारिज भी होते रहते हैं, जिनकी कल्पना फिल्म की शुरूआत में नहीं की गई थी। हालाँकि रचना की इन प्रक्रियाओं से सभी कलाओं को गुजरना होता है, लेकिन फिल्म के साथ यह सबसे अधिक है। इतिहास को फिल्म में बदलने का अर्थ है—बाँचने को देखने और सुनने में तब्दील करना। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में कथा लेखक, संवाद लेखक और निर्देशक तो होते ही हैं, इसके साथ ही गीतकार, संगीतकार, नृत्य-निर्देशक और छायाकार की भी भूमिका कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती और इन सबको अपने-अपने स्तर पर 'जनता की रूचि' को ध्यान में रखकर अपना-अपना योगदान करना होता है। इससे हर स्तर पर इतिहास अपने-अपने अनुपात में छीजता रहता है।

## 1.7 प्रेम और शौर्य विषयक ऐतिहासिक कथानक

फिल्म-निर्माण करते समय कथानक का प्रभावी होना आवश्यक है। प्रत्येक लेखक ऐतिहासिक कथानक का चयन दो दृष्टियों से करता है।— 1. प्रेम और 2. शौर्य। यही दोनों बिन्दु महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए जहाँ एक ओर पृथ्वीराज चौहान का चित्रण होता है, तो दूसरी ओर अनारकली का। जब लेखक को विभिन्न घटनाओं को जोड़ने के लिए अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़ना पड़ता है, और कुछ ऐसी भावनात्मक घटनाओं और स्थितियों की कल्पना करनी पड़ती है जो दर्शकों की भावना के समुद्र में ज्वार पैदा कर सके। ऐसा ऐतिहासिक उपन्यासों में भी होता है। इस जोड़-जोड़ के बाद तैयार कथानक संवाद लेखक तक पहुँचता है। हर दर्शक इस बात को अनुभव करता है कि फिल्म के संवाद हमारे जीवन के संवाद नहीं होते। संवाद-लेखक ऐसे शब्दों का चयन करते हैं और उसे ऐसी विशेष आलंकारिक शैली में प्रस्तुत करते हैं, जो उन्हें सिनेमाघर में तालियाँ दिलवा सकें। चुने हुए तीखे-तीखे शब्दों को अत्यन्त जोशीले और भावनात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है, ताकि वे लोगों की भावनाओं को उभार सकें। 'मुगले आजम' फिल्म के संवाद इस दृष्टि से सुनने लायक हैं।

## 1.8 इतिहास के फिल्मांकन की प्रक्रिया में व्यावहारिक कठिनाइयाँ

इतिहास के फिल्मांकन की प्रक्रिया में बहुत-सी व्यावहारिक कठिनाइयाँ

आती हैं। वातावरण, युग-बोध, तात्कालिक संस्कृति, रहन-सहन, वेश-भूषा और तहजीब आदि को जीवन्त करना एक वृहद चुनौती का सामना करना है। भाषागत समस्या भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रभावपूर्ण संवाद के साथ-ही-साथ जब भाषा का इस्तेमाल भावनाओं के उत्कर्ष के लिए किया जाएगा, तब उससे इतिहास के तथ्यों को नुकसान पहुँचेगा ही। मुझे यह बहुत कुछ स्वाभाविक भी लगता है। वह इसलिए, क्योंकि इतिहास की-सी वर्णात्मकता जिसे हम सामान्य जन की भावना के अनुरूप शुष्कता कह सकते हैं, फिल्म में संभव नहीं लगती। ऐतिहासिक फिल्मकार को पहले इतिहास को साहित्य में बदलना पड़ता है, फिर वह इस साहित्य को सिनेमा में बदलता है। हम देखते हैं कि फिल्मकार जब साहित्य को ही साहित्य नहीं रहने देते, तो फिर इतिहास का इतिहास बना रहना कितना मुश्किल है। इसे कम से कम वर्तमान समय के संदर्भ में तो समझा ही जा सकता है। यहाँ फ्रीडमैन की यह धारणा बिलकुल खरी उतरती है कि प्रस्तुतकर्ता को स्रष्टा होना चाहिए।

मशहूर राजाओं की प्रेम कहानी फिल्माना पूरी यूनिट के लिए टेढ़ी खीर होता है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए वैलेंटाइन डे (14 फरवरी, 2008 ई0) को रिलीज होने वाली फिल्म 'जोधा अकबर' के निर्माण में आनेवाली व्यावहारिक कठिनाइयों को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। 'जोधा अकबर' के निर्माता आशुतोष गोवारीकर का इसे साहस ही कहेंगे कि उन्होंने एक नायाब विषय को उठाने की ठानी। आज के दौर में इतिहास में जाकर प्रेम के रोमांचक और पवित्र क्षणों को परदे पर साकार करना आसान काम नहीं है। लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पहले की प्रणय गाथा को हाथ लगाना अपने आप में हाथ जलाने जैसी बात थी, लेकिन आशुतोष ने पूरे आत्मविश्वास के साथ इस फिल्म का निर्माण-निर्देशन किया है। हालांकि उन्होंने यह बात पूरी तरह स्पष्ट कर दी है कि इस फिल्म में इतिहास केवल तीस प्रतिशत है, बाकी सत्तर प्रतिशत कल्पना है। हां, इस तीस प्रतिशत इतिहास के लिए तीन साल तक जमकर शोध किया गया है। इस दौरान आशुतोष के साथ उनकी एक रिसर्च टीम भी काम कर रही थी। वे बताते हैं, फिल्म स्वदेस के निर्माण-निर्देशन के बाद मैंने निर्णय लिया था कि मेरी अगली फिल्म प्रेम कहानी पर होगी, लेकिन तब मैं 'जोधा अकबर' के बारे में नहीं सोच रहा था। जब दो संस्कृतियों और धर्मों को बांधनेवाली इस कहानी का आइडिया कौंधा, तो फिर

मैंने ठान लिया कि इसी को केन्द्र में रखकर बेहतर तरीके से काम किया जा सकता है। इसके साथ ही मैं इस फिल्म के निर्माण और निर्देशन के पीछे पड़ गया। मुझे इस काम के लिए यूटीवी का साथ मिल गया, तो मेरी हिम्मत बढ़ गई।'

सोलहवीं शताब्दी की प्रेम कहानी को परदे पर उतारना आसान काम नहीं था। सबसे बड़ी चुनौती अकबर के किरदार को लेकर थी। असल में के0 आसिफ की फिल्म 'मुगल-ए-आजम' में पृथ्वीराज कपूर ने जिस अंदाज में यह भूमिका निभाई थी, उसका कोई मुकाबला नहीं। मुगल सम्राट अकबर के बारे में सोचते हुए जो तस्वीर सामने आती है, वह पृथ्वीराज कपूर की होती है। दर्शकों के जेहन में बसी इस तस्वीर के बरकस एक मासूम से युवा अकबर के रूप में ऋतिक रोशन को दिखाना निश्चित तौर पर जोखिम भरा काम था। यह जोखिम न सिर्फ आशुतोष ने बखूबी उठाया है, बल्कि ऋतिक ने भी इसे चुनौती की तरह लिया है। ऋतिक कहते हैं, 'निश्चित तौर पर मैं इस किरदार को निभाकर अपने आपको खुशनसीब महसूस कर रहा हूँ। एक्टिंग कैरियर में बहुत सारे किरदार निभाने को आसानी से मिल सकते हैं, परंतु अकबर का रोल किसी भी ऐक्टर के लिए दुर्लभ है। आशुतोष जैसे निर्देशक ने मुझ पर यकीन किया, मैं उनका आभारी हूँ। इस भूमिका को निभाने की चुनौती मेरे लिए बहुत बड़ी थी। मैंने स्क्रीन प्ले की मदद से अपने कैरेक्टर को समझा। कई किताबें भी पढ़ीं। मुझे विश्वास है कि हमारी मेहनत सफल होगी। दर्शकों को यह फिल्म जरूर पसंद आएगी। जोधा के किरदार के लिए ऐश्वर्य ने भी काफी मशक्कत की। उनके पास इस फिल्म की शूटिंग के ढेरों अनुभव हैं। इस रोल के लिए जब उनके पास आशुतोष गए, तो उन्होंने सहर्ष इसे स्वीकार कर लिया। लेकिन जब रोल की गहराई में जाने को मिला, तो वे अचंभित रह गईं। उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि महारानियों की जीवनशैली इतनी कठिन होती थी। वे बताती हैं, 'जोधा के किरदार के लिए मुझे संवरने में कई-कई घंटे लग जाते थे। मैं यह सोचते हुए हैरान हो जाती हूँ कि शहंशाह को एक झलक दिखाने के लिए जोधा को कितनी मेहनत करनी पड़ती थी। खैर, मैं खुश हूं कि मैंने इतनी नायाब भूमिका निभाई है। यह शादी के बाद रिलीज हो रही मेरी पहली फिल्म होगी। मैं अंदर ही अंदर बहुत रोमांचित हूं। इसकी आधी शूटिंग मैने शादी से पहले की थी और आधी शादी के बाद। यही कारण है कि मैं इस फिल्म से भावनात्मक जुड़ाव महसूस कर रही हूँ। यह फिल्म मेरे लिए खास है।'

यह प्रेम कहानी है, इसलिए इसमें कई प्रणय दृश्य होने लाजिमी थे। ऐतिहासिक फिल्म होने के कारण बहुत बारीकी से ध्यान रखा गया कि किसी सीमा रेखा का उल्लंघन न हो जाए। आशुतोष गोवारीकर बताते हैं, 'इस फिल्म में ऐश और ऋतिक पर ऐसे कई रोमांटिक सीन फिल्माए गए हैं। अब देखते हैं कि दर्शक हमारी फिल्म को कितना पसंद करते हैं। 'जोधा अकबर' का निर्माण करते समय आशुतोष गोवारीकर जिस सृजन प्रक्रिया से गुजरे हैं, उसका जिक्र करते हुए वे कहते हैं—

'जोधा बाई के बैकग्राउंड के लिए मैंने ए एल श्रीवास्तव की मुगल एंपायर पढ़ी। फिर मैंने जगदीश सिंह गहलोत की कछावों के इतिहास को पढ़ा, जिसमें हरखा बाई का जिक्र है। फिर ए एल खुराना की मिडेवेल इंडिया में जोधा नाम का उल्लेख मिलता है। फिर मुनीलाल की अकबर में भी इसी का जिक्र है। हरी शंकर शर्मा की मध्यकालीन भारत में हरखा, हीरा कुंअर, मानमती और जोधा बाई का नाम है।

आशुतोष कहते हैं, 'मैं फिल्म का नाम हरखा बाई अकबर या फिर भानमती अकबर या शाही अकबर या फिर हीरा बाई अकबर रख सकता था। आज भी आप आगरा जाएं, तो गाइड यही बताते हैं कि यह जोधाबाई का महल है। यह नाम पॉपुलर है। मेरा काम फिल्म बनाना है अब राजकुमारी का नाम क्या था? इस बात से मेरा कोई लेना-देना क्यों ? मैंने तो फिल्म की शूटिंग के पहले जयपुर के राजा-रानी दोनों को ही स्क्रिप्ट दिखाई। (अमर उजाला, 10 फरवरी, 2008 ई0)

गोवारीकर की टिप्पणी से सिद्ध हो चुका है कि इतिहास के फिल्मांकन में किस तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इतिहास के तीस प्रतिशत सत्य को सत्तर प्रतिशत कल्पना के सहारे पूर्णतः यथार्थ का ताना-बाना पहना देना एक बड़ी चुनौती का सामना करना है। निर्माता-निर्देशक की यह मज़बूरी है कि वह केवल इतिहास को परोस कर दर्शकों को आकृष्ट नहीं कर सकता।

फिर एक प्रश्न यह भी उठता है कि मान लीजिए किसी फिल्मकार ने इतिहास को अपनी फिल्म में इतिहास के ही रूप में प्रस्तुत करने का जोखिम उठाया भी तो क्या दर्शक उसे स्वीकार कर पाएँगे। यहाँ दर्शक से मेरा मतलब 'जनसमूह' से है, न कि समाज के एक छोटे-से शिक्षित वर्ग से। हमारे यहाँ की कला फिल्मों

की असफलता देश की उस सामूहिक मानसिकता की ओर संकेत करती है कि बौद्धिकता के बोझिलपन को पचाने की ताकत उसमें नहीं है। हाँ, दूरदर्शन की बात अलग है। मुझे ऐसा लगता है कि इतिहास के फिल्मांकन के दौरान फिल्मकार इस बात का अवश्य ही ध्यान रखता है कि इस देश की करीब आधी आबादी अशिक्षित है।

'बैटिल ऑफ चिली' फिल्म के निर्देशक पेट्रिशियो गजमैन ने अपनी इस फिल्म के बारे में कहा था, ''यह सही है कि फिल्म में बहुत-सी सुंदर घटनाएँ हैं। क्विलापयून और संगीतकारों के दूसरे दल गाते-बजाते हैं। लोग झंडे और बैनर लिए रहते हैं लेकिन फिल्म उन्हीं सबके साथ बह नहीं जाती। यह रागात्मक फिल्म नहीं है। यह दर्शक के साथ  कोई रियायत नहीं बरतती। उसे कोई सुख नहीं पहुँचाती। यह एक फिल्माया हुए निबंध है।''

मुश्किल यह है कि भारतीय मानसिकता निबंध के प्रति नहीं कविता के प्रति सम्मोहित है। शायद ललित निबंधों को तो वह थोड़ा-बहुत स्वीकार भी कर ले, लेकिन अभी तक उसने ऐसा कोई भी संकेत नहीं दिया है कि वह निबंध को स्वीकार करने की मुद्रा में है। यहीं मुश्किल आती है। क्योंकि जब इतिहास के लिए फिल्म बनाने की कोशिश होगी, तो वह निबंध के करीब पहुँच जाता है। अब यह फिल्मकार की अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा पर निर्भर करेगा कि कैसे इस निबंध को अपना स्पर्श देकर ललित निबंध में तब्दील कर सकता है।

ऐतिहासिक फिल्मों के साथ एक दिक्कत और है। यदि इतिहास के माध्यम से आधुनिकता को स्वर देने की कोशिश की जाती है तो वह एक राजनीतिक फिल्म के करीब पहुँच जाती है। इसके बाद उसे उन सभी परेशानियों से जूझना पड़ेगा, जो अक्सर ऐसी फिल्मों के साथ होता है। यह विपरीत क्रम में भी होता है। अर्थात् यदि आज की यथार्थवादी घटनाओं पर एक यथार्थवादी फिल्म बनाई जाए, जैसाकि कुछ डाक्यूमेंट्री फिल्मकार करते हैं, तो उन्हें भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसी फिल्में भले ही वर्तमान में ऐतिहासिक फिल्में न कहलाएँ, लेकिन भविष्य में ऐतिहासिक फिल्म कहला सकती हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि भविष्य के लिए वर्तमान को कौन तकलीफ में डालना चाहेगा?

फिल्म-निर्माण की उपर्युक्त सारी स्थिति और प्रक्रियाओं को देखते हुए ऐसा

लगता है कि जब ऐतिहासिक फिल्मों का मूल्यांकन किया जाए, तब इन बिंदुओं का ध्यान रखा जाना चाहिए। हाँ, ऐतिहासिक फिल्मों के निर्माण में यदि इतिहासकार की भूमिका को स्वीकार किया जाए तो मुझे लगता है कि फिल्में इतिहास के अधिक करीब हो सकेंगी। कम से कम यह तो हो ही सकेगा कि मूल तथ्य भ्रष्ट होने से बच सकेंगे।

## 1.9 सारांश

सिनेमा और इतिहास का सम्बन्ध वर्तमान और अतीत के सम्बन्ध जैसा है। जिस प्रकार वर्तमान से अतीत सम्बद्ध है उसी प्रकार सिनेमा और इतिहास परस्पर तो नहीं, किन्तु सम्बद्ध हैं। सिनेमा इतिहास से कथाओं-घटनाओं आदि का चयन करता है। कुछ पात्र ऐतिहासिक होते हैं। कुछ सहयोगार्थ काल्पनिक पात्रों का भी सृजन करना पड़ता है। निश्चय ही जोधाबाई ऐतिहासिक पात्र है, किन्तु जोधाबाई की दासी कौन थी? यह प्रश्न अनुत्तरित है। यह भी सच है कि जोधाबाई के पास एक नहीं सैकड़ों दासियाँ थीं। इन सैकड़ों दासियों में दो-चार ऐसी रही होंगी जो महारानी को अतिप्रिय रही होंगी। इन छोटी-छोटी बातों को संजोना और पुनः उन्हें एक माला का रूप देना ही इतिहास का फिल्मांकन है। इतिहास का फिल्मांकन करते समय तत्कालीन परिवेश का चित्रण अत्यन्त आवश्यक होता है। यदि अकबर को प्रिंस सूट में और जोधाबाई को जींस-टी शर्ट में दिखा दिया जाय तो इसे दर्शक पसन्द नहीं करेंगे, क्योंकि यह तत्कालीन परिवेश के विपरीत होगा। परिवेश को जीवन्त कर देना फिल्मकार की सर्वाधिक कला-कुशलता है। इसमें वह जितना ही सफल होगा, फिल्म उतनी ही सत्य के निकट होगी और फिल्म जितनी सत्य के निकट होगी उतनी ही दर्शकों द्वारा पसन्द की जायेगी। इसमें निर्देशक, कथाकार, संगीतकार और दर्शकों की रूचि का परिष्करण होगा। वस्तुतः इतिहास का फिल्मांकन एक चुनौती है और निर्देशक इस चुनौती को सहर्ष स्वीकार करते हैं।

## 1.10 शब्दावली

1. लाक्षणिक — लक्षण सम्बन्धी
2. अग्राह्य — जो ग्रहणीय न हो
3. वैयक्तिक — व्यक्तिगत

## 1.11 सम्बन्धित प्रश्न

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. इतिहास का अर्थ क्या है?
2. इतिहास-दर्शन क्या है?
3. सिनेमा की परिभाषा लिखो।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. इतिहास के अर्थ और स्वरूप की विवेचना कीजिए।
2. भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास-दर्शन की रूपरेखा लिखें।
3. इतिहास के फिल्मांकन में आनेवाली व्यावहारिक कठिनाइयों का विवेचन कीजिए।

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इतिहास का प्रथम यूनानी व्याख्याता कौन था-

   (क) हीगेल (ख) काण्ट

   (ग) अरस्तू (घ) हिरोदोतस

2. फ्रेंच विद्वान तेन के अनुसार इतिहास-दर्शन में कितने तत्त्व सक्रिय रहते हैं-

   (क) तीन (ख) चार

   (ग) पाँच (घ) छह

3. अकबर किस काल में पैदा हुआ ?

   (क) मौर्यकाल (ख) गुप्तकाल

   (ग) राजपूतकाल (घ) मुगलकाल

4. 'मुगल-ए-आजम' के निर्देशक कौन हैं-

   (क) राज कपूर (ख) पृथ्वीराज कपूर

   (ग) के0 आसिफ (घ) आशुतोष गोवारीकर

5. जोधा अकबर के निर्देशक कौन हैं-

   (क) ऐश्वर्य राय (ख) ऋतिक रोशन

(ग) आशुतोष गोवारीकर (घ) के0 आसिफ

**वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर**

1. (घ)
2. (क)
3. (घ)
4. (ग)
5. (ग)

# इकाई -2 सिनेमा की व्यावसायिकता

## इकाई की रूपरेखा


2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 सिनेमा का स्वरूप

2.3 सिनेमा की व्यवसायिकता

2.4 कलात्मक फिल्मों के सन्दर्भ में सिनेमा का व्यवसाय

2.5 व्यावसायिक सिनेमा में बदलाव

2.6 सारांश

2.7 शब्दावली

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.9 सम्बन्धित प्रश्न


## 2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- सिनेमा का स्वरूप और अर्थ समझ सकेंगे।
- सिनेमा को परिभाषित कर सकेंगे।
- सिनेमा की व्यवसायिकता सिद्ध कर सकेंगे।
- सिनेमा के व्यवसाय में कलात्मक फिल्मों के योगदान को मूल्यांकित कर सकेंगे।
- सिनेमा में हो रहे परिवर्तन को समझ सकेंगे।

## 2.1 प्रस्तावना

सिनेमा का उद्भव और विकास यद्यपि स्वस्थ मानसिकता और मनोरंजन के उद्देश्य से हुआ था, तथापि इसका दृष्टिकोण शनैः शनैः व्यावसायिक हो गया। व्यवसाय के सिद्धान्त अलग होते हैं। इसका मनोरंजन से सीधा सम्बन्ध नहीं है। मनोरंजन को व्यवसाय से सम्बद्ध कर देना सिनेमा की एक अभूतपूर्व उपलब्धि है।

सिनेमा मात्र मनोरंजन का साधन नहीं है। इससे ज्ञान-विज्ञान, कला, साहित्य, खेल, राजनीति, शिक्षा आदि सभी क्षेत्र प्रभावित हुए हैं। अपने तरीके से सिनेमा ने जहाँ सबको प्रभावित किया है, वहीं उपर्युक्त क्षेत्रों ने भी सिनेमा को प्रभावित किया है। व्यावसायिक सिनेमा का प्रोडक्शन आज के दर्शकों के हिसाब से किया जाता है। सिनेमा का निर्माण एक वृहद् कार्य-क्षमता का परिचायक है। इसके निर्माण में अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। कामर्शियल दृष्टि से फिल्म के निर्माण में जितना व्यय होता है यदि उसके अनुपात में आमदनी नहीं हो पायी तो पूरी टीम का कैरियर अधर में लटक जाता है। इसीलिए निर्माता-निर्देशक प्रत्येक बिन्दु से विचार-विमर्श करने के बाद ही फिल्म-निर्माण का कार्य करता है। किसी चीज़ का जोखिम आज कोई भी लेना चाहता है। पैसा लगाने वाला व्यक्ति अधिकस्य अधिकं फलम् के सिद्धान्त का पोषक होता है। फिल्म की व्यावसायिकता को सफल करने हेतु निर्माता कुछ भी करने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। उनके लिए श्लील-अश्लील कुछ भी नहीं होता। माँग के अनुरूप आपूर्ति करना व्यावसाय का मूल सूत्र है और फिल्म-निर्माण पूर्णतः इसी सूत्र के द्वारा संचालित होता है।

## 2.2 सिनेमा का स्वरूप

सिनेमा वस्तुतः भारतीय रंगमंच का अर्वाचीन संस्करण है। यद्यपि सिनेमा का उद्भव और विकास पाश्चात्य विज्ञान के द्वारा हुआ है, तथापि सिनेमा की परिकल्पना के कतिपय सूत्र आचार्य भरतमुनि द्वारा प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्त होते हैं, जो रंगमंच के उद्भव और विकास के व्यस्थित और परिमार्जित संकेत हैं। सिनेमा भी थियेटर या रंगमंच का विकसित स्वरूप ही है। सिनेमा के अर्थ और उद्भव को प्रतिपादित करते हुए नार्दर्न इण्डिया पत्रिका के सुप्रसिद्ध पत्रकार आर0 एस0 पाण्डेय 'विकल' ने लिखा है—

'Cinema' derived from greek word 'Kinema' means 'movement; It has the process of moving. Cinema is a theatre where films are made visible. (R.S. Pandey 'Vikal'; utility of artistic film : Oct. 2, 1964; N. I. Patrika).

अर्थात 'सिनेमा' की व्युत्पति ग्रीक शब्द 'किनेमा' से हुई है, जिसका अभिप्राय 'गति' है। इसमें गतिमय प्रक्रिया होती है। सिनेमा एक रंगमंच (थियेटर)

है, जहाँ फिल्में प्रदर्शित होती हैं। आज सिनेमा का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। वह अपनी परिधि के अन्तर्गत इतिहास, भूगोल, साहित्य, समाज, राजनीति, विज्ञान, धर्म आदि सबको समेट लेने में सर्वथा सक्षम सिद्ध हुआ है।

## 2.3 सिनेमा की व्यवसायिकता

सिनेमा व्यवसाय है। एक बड़ा उद्योग हैं। हालाँकि इसे उद्योग का दर्जा प्राप्त नहीं है। सरकार ने भी इसे उद्योग की मान्यता नहीं दी है। जबकि सरकार यहाँ से करोड़ों रूपया कर के रूप में प्राप्त करती है। इसके पीछे हम फिल्म वालों की ही कमजोरी है। हमारी, मुख्यतः कलाकारों की, पर्दे के पीछे काम कर रहे मजदूरों की कोई सुरक्षा नहीं है। लेकिन फिल्म निर्माताओं के लिए यह महज व्यवसाय है। किसी दूसरे व्यावसायियों की तरह इनकी मुख्य चिंता भी लाभ सहित पैसे की वापसी होती है।

लेकिन कोई भी अपने समाज से कट कर तो चल नहीं सकता। यह किसी भी व्यवसाय के जीवित रहने की आंतरिक जरूरत है। इसलिए यह कहना कि हिन्दी सिनेमा का समाज से कोई रिश्ता नहीं है, यह बेबुनियाद है। अंग्रेजी शासन के दौर में उन पर सीधा आक्रमण नहीं किया जा सकता था, फिर भी उनके खिलाफ और स्वतंत्रता आंदोलन को बल देने वाली फिल्में बनी हैं। यह कहना कि आजादी के पहले की फिल्मों का सरोकार काफी गहरा था और आजादी के बाद कम हो गया, ऐसा भी सच नहीं है। आजादी के बाद भी ऐसी फिल्में बनी हैं जिनका सामाजिक सरोकार गहरा रहा है। एक सामान्य सा उदाहरण हम ले सकते हैं। आजादी के पहले की फिल्मों के खलनायक अंग्रेज हुआ करते थे। आजादी के बाद जमींदार खलनायक होने लगे और अब राजनेता हैं। आप फिल्म 'प्रतिघात' को याद करें। बहुत क्रूर फिल्म थी। लेकिन खूब पसंद की गई। शायद इसलिए कि इस फिल्म में उस आदमी को सर पर कुल्हाड़ी मार कर मार दिया गया, जो राजनेता था। यह एक तरह से समाज की ही अभिव्यक्ति है। आप असहमत तो सकते हैं परंतु आज के संदर्भ में सही है। अब राजनेता ही विलेन बन गये हैं।

यह मानना कि समाज में घट रहा है वह फिल्म में नहीं दिखाई पड़ता है, सही नहीं है। अगर बिल्कुल सही ढंग से यथार्थवादी रूप से फिल्माया जाए तो सेंसर के हजार लफड़े हैं। सिनेमा साहित्य की तरह स्वतंत्र नहीं है। वे जो करोड़ों लगा रहे

हैं, वे अड़चनों से क्यों टकराना चाहेंगे। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि फिल्म व्यवसाय है। जहाँ तक कला फिल्मों का सवाल है, यह हमेशा याद रखना क्योंकि उनको जिस तरह की वापसी चाहिए, कला फिल्में नहीं दे पाती हैं। ऐसे में केवल सरकार बच जाती है। उसका अपना एक छोटा सा बजट है। उसका इस्तेमाल किया जाता है या फिर कभी-कभार मनमोहन शेट्टी जैसे लोग अर्धसत्य बना लेते हैं या हिप-हिप हुर्रे और आघात। उन्होंने भी दो-चार फिल्में बनाने के बाद हाथ खींच लिया।

एन एफ डी सी साल में दस-बारह फिल्में बनाते हैं। टीवी का सहारा भी ले रहे हैं। टीवी पर फिल्में दिखाई जाती हैं और लोग देख भी रहे हैं। वीडियो और टीवी का असर तो पूरी दुनिया के सिनेमा पर पड़ा। जरूरत है टीवी के इस्तेमाल की नई स्ट्रेटजी बनाने की। क्योंकि अपनी कोई पुख्ता वितरण-प्रणाली नहीं है, पहुँच भी नहीं है। इनके पास अपना थियेटर भी नहीं है और कला फिल्में बनाने के ढंग में भी कमी है। जिस सरलता से गुरुदत्त, महबूब खान या राजकपूर शुरू की फिल्मे बनाते थे, उसी सरलता से ये फिल्में भी बनानी चाहिए। ताकि लोगों की इनमें रूचि बने। गानों में कोई नुकसान नहीं है गाने होने चाहिए। यह ध्यान रखना है कि किसी भी तरह लोगों को थियेटर में बुलाना है और बिठाना है। गाने का प्रलोभन देकर बुलाया-बिठाया जा सकता है। दो बीघा जमीन, तीसरी कसम, या मदर इंडिया को ही लीजिए भरपूर गाने हैं, लेकिन उससे फिल्म को कोई नुकसान नहीं हुआ। ऐसा नहीं है कि गानों से फिल्म खराब हो जाती है। आज भी जिस शहर में ये फिल्में लगती हैं, खूब चलती हैं। जिनके पास इस फिल्मों के अधिकार हैं वे इसका ड्राफ्ट की तरह इस्तेमाल करते हैं। मेरी दृष्टि में किसी भी मायने में ये फिल्में आर्ट फिल्मों से कम नहीं थीं। जब हमें मालूम है कि भारतीय लोगों को संगीत या गाने अच्छे लगते हैं तो हम उसी फार्म के जरिए क्यों नहीं अपनी बात कहते? पश्चिम का नैरेटिव फार्म है, तो हमारा देसी फार्म है, जो फोक, थियेटर से लिया गया है। उसी फार्म में हमें अपनी फिल्म बनानी चाहिए। अब 'मिर्च मसाला' को ही लें। काफी पसंद की गई। मेरे ख्याल से गाने होने चाहिए या फिर उस तरह का ड्रामेटिक फार्म हो, जैसा गोविंद इस्तेमाल करता है, जैसा आक्रोश और अर्धसत्य में किया है।

## 2.4 कलात्मक फिल्मों के संदर्भ में सिनेमा का व्यवसाय

कलात्मक सिनेमा, समानांतर सिनेमा और सार्थक सिनेमा—ये सभी नाम अपने समाज के यथार्थ से जुड़ी प्रतिबद्ध फिल्मों के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। वस्तुतः ये सभी फिल्में अपने समाज की जड़ों में व्याप्त सामंतवादी व्यवस्था के तहत हर तरह के शोषण की प्रक्रिया को यथार्थवादी स्तर पर प्रस्तुत करती हैं। इस सन्दर्भ में नार्दर्न इण्डिया पत्रिका के वरिष्ठ पत्रकार आर0 एस0 पाण्डेय 'विकल' की टिप्पणी सार्थक प्रतीत होती है—

Chiefly artistic films present a thrilling scene based on internal conflict instead of external activities, seeking useful solution of problems in the group. These films not only compel our feelings to reach a climax but also inspire wit. (R.S. Pandey 'Vikal': utility of artistic film: Oct.2,1964; N. I. Patrika)

अर्थात् मुख्यतः कलात्मक फिल्में समूह में समस्याओं का उपयोगी समाधान खोजते हुए बाह्य क्रिया-कलापों के बजाय आन्तरिक संघर्ष के आधार पर रोमांचक दृश्य प्रस्तुत करती हैं। ये फिल्में न केवल हमारी भावनाओं को चरम बिन्दु पर पहुँचाने के लिए विवश करती हैं, प्रत्युत हमारी बुद्धि को भी उत्प्रेरित करती हैं।

कई फिल्म समीक्षकों का विचार है कि कला फिल्मों की शुरूआत बहुत पहले से ही 'कन्या' और 'पड़ोसी' जैसी फिल्मों से हो चुकी थी, जबकि अन्य समीक्षक इसका आरंभ 1965 के बाद से (विशेषकर 'भुवनसोम' फिल्म से) मानते हैं। वस्तुतः कलात्मक फिल्मों को सीधे सामाजिक समस्याओं वाली फिल्मों से जोड़ना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि सामाजिक समस्याओं के अंतर्गत जाति-प्रथा, छुआछूत, बाल और विधवा-विवाह, दहेज-प्रथा जैसी परंपरावादी और अंधविश्वासी प्रथाएँ मुख्य रूप से आती हैं। इसका संबंध समाज के मूल आर्थिक ढाँचे से न होकर उसके सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष से होता है। इन समाज-सुधारक फिल्मों में समस्याओं की प्रस्तुति ठीक उसी तरह से मिलती है, जिस तरह हिन्दी कथा-साहित्य के आरंभिक लेखन में ये समस्याएँ अपनी आदर्शवादी और सुखांत परंपरा के आधार पर चित्रित होती थीं, लेकिन जिस तरह प्रगतिशील लेखन को उन्नीसवीं सदी के अंत के कला-लेखन से नहीं मिलाया गया, उसी तरह

कलात्मक फिल्मों को भी सामाजिक फिल्मों से नहीं मिलाया जाना चाहिए। दोनों में कई महत्वपूर्ण और साफ अंतर है—विषय-वस्तु और प्रस्तुति—दोनों स्तरों पर। एक बहुत बड़ा अंतर तो कथा के अंत का ही है।

कलात्मक फिल्में समस्याओं का या तो यथार्थवादी हल ढूढ़ने की कोशिश करती हैं; या फिर यदि इस कोशिश में सफल नहीं हो पातीं, तो निष्कर्ष के रूप में एक प्रश्नवाचक चिह्न छोड़कर अचानक चुप हो जाती हैं। दर्शक अपने आपको न चाहते हुए भी अनजाने में परेशान-सा पाने लगता है और कुछ-न-कुछ सोचने को मजबूर हो जाता है। कलात्मक फिल्मों की प्रस्तुति कलात्मक और प्रतीकात्मक झुकाव लिए हुए होती हैं। गीत और संगीत के शोर की अधिकता से दूर ये फिल्में जीवन की गहरी पर्तों की उघाड़-उघाड़कर जाँच-पड़ताल करती हैं और रोजमर्रे की छोटी-छोटी घटनाओं को भी गहरे अर्थों के संदर्भ में प्रस्तुत करती हैं। इनमें तथाकथित 'ग्लैमर' का अभाव होता है। ये फिल्में हमारी भावनाओं को क्रमशः चरम बिन्दु पर पहुँचाकर महज उसे शांत करने का व्यापार नहीं करतीं, बल्कि बुद्धि को भी कुरेदती हैं। नाटककार ब्रेख्त ने बुर्जुआ संस्कृति के इस कलात्मक रहस्य का पर्दाफाश किया था कि पात्रों और दर्शकों के बीच भावनात्मक संबंध स्थापित होने से मूल तथ्य छिप जाता है। उन्होंने इस स्थिति की आवश्यकता बताई थी कि पात्रों और दर्शकों के बीच एक दूरी बनी रहनी चाहिए ताकि उसकी तार्किक क्षमता को समाप्त करके उसे भाववादी दुनिया में पहुँचाया जा सके।

यहाँ कलात्मक फिल्मों का साधारणीकरण संस्कृत नाट्य-पद्धति के रस-सिद्धान्त से भिन्न हैं। ये फिल्में दैनिक जीवन की गतिविधियों से इस तरह जुड़ी होती है कि कथानक के विस्तृत फलक में दर्शक कहीं-न-कहीं स्वयं को पा लेता है। इसके साथ ही इनके नायक-नायिका के चेहरों को दर्शक पहले की अपेक्षा अब अपने निकट अधिक पाते हैं। वे उसे अपने बीच का समझते हैं और यह 'समझना' फिल्म के साथ आत्म-साक्षात्कार की स्थिति लाता है, यही इसका साधारणीकरण है। यह सुखद भी हो सकता है और दुखद भी, या ऐसा भी कि जो कि जिसे दर्शक बता पाने में असमर्थता महसूस करता हो।

व्यावसायिक फिल्में सूत्रबद्ध होती हैं। उनका एक बना-बनाया फार्मूला होता है, जिसमें नायक-नायिका और खलनायक का त्रिकोण होता है। ऐसी फिल्मों और उपन्यासों को आम लोग 'बंबइया फिल्म' या 'बंबइया उपन्यास' कहते हैं। यह

व्यंग्यात्मक संज्ञा है। इन फिल्मों के कथानक मुख्यतःशृंगार प्रधान या प्रकारांतर से करुण-भाव प्रधान होते हैं। इन फिल्मों ने जब अपने कथानक के लिए भारतीय इतिहास के पन्ने उलटे, तो वहाँ भी उन्हें शासकों के प्रेम-प्रसंगों के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला। आरंभिक फिल्मों के प्रेम कथानकों में फिर भी एक गंभीरता और उदात्तता थी। बाद में 'बॉबी' फिल्म से एक नए प्रेम की शुरुआत हुई, 'टीन एज लव' की। किशोर प्रेम आधारित इन फिल्मों का सामाजिक प्रभाव पड़ा कि प्रेम की समझ की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते 'टीन एज लव' के फैशनपरस्त प्रेमी थक से चुके होते हैं। हालाँकि इससे पहले 'लैला-मजनूँ', हीर-राँझा'-जैसी फिल्मों में भी किशोर प्रेम को प्रस्तुत किया गया था। लेकिन वह युवा प्रेम के अंकुरित रूप में था, जो पूर्ण प्रेम में विकसित होता है। इसी तरह पारिवारिक फिल्मों और सामाजिक फिल्मों में करुणा को इस रूप में उभारा जाता है कि दर्शक अपने पड़ोसी के सिसकने की आवाज न चाहते हुए भी सुन सकता है। इस प्रकार शृंगार और करुणा (दोनों एक-दूसरे के सहायक भी हैं) के वृत्त में घिरे दर्शक की निगाह अपने निजी स्तर से ऊपर उठ ही नहीं पाती और वह अपने वास्तविक जीवन की कठोर कड़ुवाहट को इस चासनी मिले कथानक में घोलकर मीठा करके भ्रम में जीने लगता है और उसे इसके लिए बाध्य किया जाता है।

यथार्थ और सामाजिक जीवन से कटाव की यह स्थिति बहुत खतरनाक है, क्योंकि जीवन और समाज यूटोपिया नहीं है। कलात्मक फिल्मों ने इस जमीन को तोड़ने की कोशिश की है। यह दावा करना तो बहुत मुश्किल है कि इसने व्यावसायिक फिल्मों के तथ्यों को पूरी तरह से नकार दिया है। शायद फिल्मों के फ्लॉप होने के भय से ऐसा करना फिलहाल ठीक नहीं समझा गया होगा, क्योंकि रूचि की धारा को अचानक नहीं मोड़ा जा सकता। इसीलिए ये भी प्रेम-प्रसंगों और शारीरिक प्रदर्शन जैसे मौकों की तलाश कर लेते हैं, लेकिन ये भावनात्मकता के कुहरे या मांसलता की तीक्ष्ण गंध में अपने सामाजिक सरोकार को खोने नहीं देते। इनमें कविता की लयात्मकता के बजाय छंदविहीन कविता की अस्त-व्यस्तता-सी है।

कलात्मक फिल्मों का जन्म अपने समय की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के गर्भ से हुआ है, इसीलिए इसके प्रसव-पीड़ा की अपनी अलग कहानी है। व्यावसायिक फिल्मों की चकाचौंध के बीच परिष्कृत रूचियों वाली फिल्में बनाने का साहस करना कम जोखिम भरा काम नहीं था। फिल्म वित्त निगम

ने सामाजिक प्रबिद्धता वाले नए बौद्धिक कलाकारों को आर्थिक साधन उपलब्ध कराकर उन्हें अब तक की फार्मूलाबद्ध फिल्मों के एकाधिकारवादी साम्राज्य में प्रवेश करने का आधार दिया।

बाद में देश की राजनीति बड़ी तेजी से गिरती चली गई। वोट की राजनीति के कारण नवीन सामाजिक समूह और संबंध स्थापित हुए। शोषण, जाति, धर्म, संप्रदाय जैसी सामंतीय समाज की पुरानी मान्यताएँ प्रत्यक्ष रूप से अधिक स्पष्ट होने लगीं। नैतिक मूल्य और सामाजिक मूल्यों की परिभाषाएँ तेजी से बदलने लगीं और ये बदलाव इतने दबे-पाँव हमारे संस्कारों में प्रवेश करने लगे कि हमें इसका आभास ही नहीं हुआ कि हम कब चरित्र की लक्ष्मण रेखा के बाहर आ खड़े हुए। कलात्मक फिल्में इसी लक्ष्मण रेखा की निशानी की खोज में भटकते हुए कुछ ईमानदार लोगों की वेदना की कहानी है। एक आदर्शवादी उद्देश्य का अभाव, विकसित होती पूँजीवादी व्यवस्था और व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के कारण खोए हुए नैतिक मूल्यों की तलाश और उनके पुनर्स्थापन के प्रयास में भटकते-भटकते व्यक्ति की टूटन और घुटन से ये फिल्में अंत तक स्पंदित होती रहती है।

कलाकार समाज की आदिम वृत्तियों को उकसाकर माल की पूर्ति करके लाभ कमानेवाला सिर्फ एक व्यावसायी नहीं होता, बल्कि एक विशेष सामाजिक प्राणी होने के नाते उस पर जनता की रूचियों को परिष्कृत करने का गुरुत्तर दायित्व भी होता है। 'अर्धसत्य' की जबरदस्त सफलता इस बात का प्रमाण है कि लोग उस चक्रव्यूह के पूर्ण सत्य को जानने को व्याकुल हैं, जिसमें उनके भविष्य का अभिमन्यु मरने को अभिशप्त है। फिर 62 वर्षों की लोकतांत्रिक प्रणाली ने भी लोगों को राजनीतिक दृष्टि से अपेक्षाकृत सजग किया है। लोकतंत्र व्यक्ति का नहीं, समूह का तंत्र होता है और कलात्मक फिल्में समस्याओं का समाधान व्यक्ति में नहीं, बल्कि समूह में ढूँढने का सार्थक प्रयास करके लोकतांत्रिक व्यवस्था का सही आधार भी प्रस्तुत करती हैं।

कलात्मक फिल्मों में समाज के बाह्य संघर्ष के बजाय, आंतरिक संघर्ष की प्रधानता होती है। इन पर लगाए जानेवाले 'बौद्धिकता' के आरोप का मुख्य कारण यही है। यह सही है कि अब तक की ऐसी फिल्में एक विशेष दर्शक वर्ग की माँग करती हैं, लेकिन इनकी सार्थकता तभी है, जब ये आम दर्शकों तक पहुँचे। निर्देशकों को चाहिए कि वे सामाजिक संबंधों की जटिलताओं और अंतर्मन के

संघर्षों को अधिक-से-अधिक सरल और सुलझे रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करें।

## 2.5 व्यावसायिक सिनेमा में बदलाव

सिनेमा की व्यावसायिकता अभिनेता (कलाकार) के अभिनय और उत्तम कथा-संसार पर आधारित है। एक श्रेष्ठ कलाकार का धर्म है कि वह सिनेमा के स्तर को ऊँचा उठाये। कलाकार को हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि वह एक कलाकार है। उसके पास बहुत कुछ है कहने के लिए। कलाकार का अर्थ ही है पथ-प्रदर्शक। जो कलाकार यह सोचे कि जनता जो पसंद करती है, वही उसे दे, तो वह कलाकार नहीं है। कलाकार को हमेशा समाज के प्रति जिम्मेदार होना चाहिए। आजकल केवल पाँच प्रतिशत ऐसे कलाकार हैं जो समाज को अपनी फिल्मों से जोड़ते हैं।

हिन्दी सिनेमा अपने मूक चरण में दृश्य स्तर पर बहुत साफ हुआ करता था। आवाज के प्रवेश के साथ लोगों में एक नयी उत्सुकता जगी। यह चालीस के दशक की बात है। इस काल में जितनी फिल्में बनीं, उनमें से अधिकांश अच्छे विषय पर बनीं। विषय, समाज से लिए गए, जैसे अछूत कन्या। इस काल की फिल्में समाज से, इतिहास से कहानी पेश करती थीं। जनता को जागरूक बनाती थीं। इस दशक के अंत में ही स्टारडम की शुरुआत होती है, लेकिन विषय नहीं छूटा, बचा हुआ था। स्टारडम की वजह से हीरो और हीरोइन अकेले ही सब कुछ संभालते थे, मगर फिल्म ऊंचे स्तर की होती थी। मसलन, गुरुदत्त, राजकपूर और मेहबूब खान की फिल्में।

गुरुदत्त की 'सी.आई.डी.' एक अलग किस्म की फिल्म हैं, मगर उसमें भी विषय हैं। 'कागज के फूल', 'साहब, बीबी और गुलाम', तथा 'प्यासा' ऐसी फिल्में हैं, जो एक व्यक्ति पर बनीं और एक व्यक्ति के दृष्टिकोण से बनी हैं। लेकिन विषय से जुड़ी हुई हैं। इसीलिए वहाँ व्यक्ति होने के साथ-साथ समाज भी हैं। इन फिल्मों के चरित्रों के आपसी संबंधों को जनता पहचान सकती है। इनकी फिल्मों में समाज हमेशा मौजूद है। 'साहब, बीबी और गुलाम' में मीना कुमारी और भूतनाथ का संबंध। भूतनाथ को खुदाई के समय जब छोटी बहु का नर-कंकाल दीखता है, तब वह अपने संबंध को फिर से याद करता है। उसकी याद में खो जाता है। यह मानवीयता है। गुरुदत्त की फिल्मों में विचार तत्व है और रिश्तों की व्याख्या भी है। बावजूद इसके कि राजकपूर ने 'राम तेरी गंगा मैली' जैसी फिल्म बनाई। वे सिनेमा

माध्यम का बहुत सम्मान करते थे। उनके पचास के दशक की फिल्मों में विषय हैं। साठ के दशक में उन्होंने अनुभूतियों की फिल्में बनाई। परन्तु इस दशक में ही हिन्दी सिनेमा से विषय बाहर निकल आता है और व्यक्तिगत कहानी उभर कर सामने आती है। व्यक्तिगत कहानी का अर्थ है व्यक्तिगत रिश्ते-मां-बाप, भाई-बहन। यहीं से विशुद्ध प्रेम कहानी की शुरूआत होती है, जो आजकल देखने को मिलती है, और फिल्मों से समाज गायब हो जाता है। सत्तर तक कुछ हद तक तार्किकता बची हुई थी। सत्तर के बाद हिन्दी सिनेमा से समाज और तार्किकता दोनों खत्म हो जाती है।

वर्तमान परिवेश में सिनेमा परिवर्तन के चौराहे पर खड़ा है। उसके चतुर्दिक् परिवर्तन की उद्दाम तरंगे अन्दोलित हो रही हैं। यह समय व्यावसायिक सिनेमा के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती के रूप में उभर कर सामने आया है। फिर भी सिनेमा का प्रसार आजकल इतने व्यापक रूप में हो गया है कि इसके प्रभाव से समाज का प्रत्येक वर्ग प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। इतना प्रभाव अन्य किसी भी कला-माध्यम का नहीं है।

खासकर भारत जैसे देश के संदर्भ में तो यह और भी ज्यादा सही है। यहाँ साक्षरता का स्तर निम्न है। भारतीय लोग जितना अधिक सिनेमा से प्रभावित होते हैं उतना अन्य किसी कला-माध्यम से नहीं। हालांकि कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि सिनेमा का समाज से कोई उद्देश्यमूलक वास्ता नहीं है, सिनेमा का कार्य सिर्फ दर्शकों का मनोरंजन करना है लेकिन ऐसा नहीं है। कुछ फिल्में केवल मनोरंजन की दृष्टि से भी अवश्य बनाई जाती हैं, लेकिन अधिकांश फिल्में अपने अंदर कुछ-न-कुछ संदेश अवश्य ली हुई रहती हैं। अतः फिल्म-निर्माण में लगे लोगों का यह दायित्व है कि वे अपनी सामाजिक भूमिका को समझें और समाज में बदलाव लाने के लिए सिनेमा को एक हथियार के तौर पर इस्तेमाल करने की दिशा में अग्रसर हों। यह समय की मांग है।

सिनेमा केवल समाज को प्रभावित ही नहीं करता, बल्कि उससे प्रभावित भी होता है। पिछले चालीस-पचास वर्षों से बनती चली आ रही फिल्मों को अगर हम क्रमिक ढंग से देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी। पहले जब ग्राम केन्द्रित फिल्में बनती थीं तो उस समय जमींदार फिल्मों के खलनायक हुआ करते थे। परवर्ती काल में यह स्थान स्मगलरों ने ले लिया और आजकल यह स्थान राजनीतिक नेताओं ने

ले लिया है। इसी तरह समाज में उपस्थित नारी-चेतना के बदलाव को भी हम सिनेमा में देख सकते हैं। पहले की भारतीय नारी समाज में दबी हुई थी, अतः उस समय जो फिल्में बनती थीं उनमें नायिकाएं उसी तरह की भूमिका में रहती थीं। पहले फिल्मों का शीर्षक होता था-'मैं चुप रहुँगी'। इसे सुनकर ही पता चल जाता है कि इस फिल्म की नायिका पर चाहे जितने भी अत्याचार किए जाएं वह चुपचाप उन्हें सहन करती जाएगी। लेकिन आज की फिल्मों का शीर्षक होता है- 'जख्मी औरत' - ऐसी औरत जो अपने जख्मों का बदला लेने के लिए कटिबद्ध है। कहने का तात्पर्य यह कि आज समाज में आई नारी-जागरूकता का ही यह नतीजा है कि सिनेमा का सोच परिवर्तित हुआ हैं। समाज में हुए प्रत्येक परिवर्तनों को समेट लेने की बलवती अभिलाषा सिनेमा की कथावस्तु में दृग्गत होने लगी है। आज का निर्माता-निर्देशक इतना सक्षम हो गया है कि वह अपने कलात्मक और यथार्थ उद्योग से जहाँ एक तरफ समाज को आपदामस्तक परिवर्तित कर रहा है, वहीं दूसरी तरफ खुद समाज के परिवर्तनों से उत्प्रेरित होकर बदलाव का राग अलाप रहा है।

साम्प्रतिक परिस्थिति में मानव-हिंसा, प्रतिशोध और युद्धपरक फिल्मों से तो दर्शक ऊब ही चुका है। साथ-ही-साथ वह प्रेमकथाओं से भी अब उद्दीप्त नहीं होता है। सिनेमा-निर्माता दर्शकों की नब्ज भली-भाँति पहचानते हैं। ऐसे बदलाव के माहौल में निर्देशकों ने दर्शकों के सम्मुख कॉमेडी फिल्मों को परोसना उचित समझा। कॉमेडी फिल्में आजकल काफी सफल रही हैं। ऐसी फिल्मों में अक्षय कुमार की फिल्मों को रेखांकित किया जा सकता है। 2007 ई0 में बनी 'वेलकम' और 'जब वी मेट' जैसी फिल्में दर्शकों को सम्मोहित करने में बेशक सफल रहीं हैं। यह सिनेमा के परिवर्तित होते भविष्य का सूचक है।

## 2.6 सारांश

सारांशतः कहा जा सकता है कि सिनेमा व्यवसाय है। एक बड़ा उद्योग है। यद्यपि इसे उद्योग का दर्जा अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है, तथापि इसका आय-व्यय बहुत अधिक है। सरकार को सिनेमा से करोड़ों रुपये कर के रूप में प्राप्त होते हैं। व्यावसायिक फिल्मों, कलात्मक फिल्मों का योगदान अविस्मरणीय है। इनकी कलात्मकता से दर्शक मन्त्रमुग्ध-से रह जाते हैं। वोट की राजनीति के कारण नवीन

सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत सिनेमा का व्यवसाय प्रभावकारी रूप से सफल हुआ है। कलाकार समाज की आदिम वृत्तियों को उकसाकर माल कमानेवाला सिर्फ एक व्यवसायी नहीं होता, बल्कि एक विशेष सामाजिक प्राणी होने के नाते उस पर जनता की रूचियों को परिष्कृत करने का गुरूत्तर दायित्व भी होता है। 61 वर्षों की लोकतांत्रिक प्रणाली ने लोगों को सजग किया है। अब व्यवसायिक सिनेमा में बदलाव भी आया है। गुरुदत्त, राजकपूर, मेहबूब खान की फिल्में इसका प्रमाणन करती हैं। परिवर्तन एक शाश्वत सत्य है। फिल्में इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं।

## 2.7 शब्दावली

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | रंगमंच | — | थियेटर |
| 2. | अर्वाचीन | — | आधुनिक |
| 3. | मांसलता | — | दैहिक वासना |
| 4. | प्रसव पीड़ा | — | जन्म की पीड़ा |
| 5. | परिष्कृत | — | शुद्ध |
| 6. | अभिशप्त | — | शापित |

## 2.8 सन्दर्भ - ग्रन्थ


1. डॉ0 विजय अग्रवाल : सिनेमा और समाज

3. R. S. Pandey 'Vikal' : Utility of artistic film : Oct. 2, 1964; N.I. Patrika


## 2.9 सम्बन्धित प्रश्न

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सिनेमा के स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
2. सिनेमा की व्यावसायिकता पर टिप्पणी कीजिए।
3. क्या व्यावसायिक सिनेमा में बदलाव हो रहा है?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कलात्मक फिल्मों के सन्दर्भ में सिनेमा के व्यवसाय की व्याख्या कीजिए।

2. व्यावसायिक सिनेमा के बदलाव को आरेखित कीजिए।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

1. नाट्यशास्त्र के प्रणेता कौन हैं -

(क) आचार्य राजशेखर (ख) आचार्य कुन्तक

(ग) आचार्य दण्डी (घ) आचार्य भरतमुनि

2. सिनेमा किसका अर्वाचीन संस्करण है-

(क) भारतीय रंगमंच का (ख) भारतीय संस्कृति का

(ग) नौटंकी का (घ) नृत्य का

3. सिनेमा का उद्भव किस शब्द से हुआ है-

(क) सिनोनिक्स (ख) किनेमा

(ग) सिने (घ) सिनासिस

4. 'लैला-मजनूँ' फिल्म के द्वारा कैसा प्रेम प्रदर्शित किया गया है-

(क) आध्यात्मिक प्रेम (ख) वासनात्मक प्रेम

(ग) किशोर प्रेम (घ) बाल प्रेम

5. अपने समय की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के गर्भ से किन फिल्मों का जन्म हुआ-

(क) व्यावसायिक फिल्मों का(ख) कलात्मक फिल्मों का

(ग) खेल फिल्मों का (घ) इमैजिक फिल्मों का

**वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर**

1. (घ), 2. (क), 3. (ख), 4. (ग), 5. (ख)

# इकाई 3- सिनेमा की विविधता

**इकाई का परिचय**

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 प्रयोगवादी फिल्म

3.3 कहानी प्रधान फिल्म

3.4 हॉलीवुड

3.5 अमेरिका का सिनेमा

3.6 हॉलीवुड का उदय

3.7 यूरोप का सिनेमा

3.8 साइज

3.9 फिल्म साइज में विविधता

3.10 सुरक्षित फिल्म

3.11 28 एम एम

3.12 ग्रामोफोन रिकार्ड

3.13 दूसरे प्रारुप

3.14 सिंक (9.5)

3.15 16 एम एम

3.16 17.5 मिमी

3.17 8 एम एम बूटलेस

3.18 सुपर 8 और सुपर 16

3.19 सारांश

3.20 शब्दावली।

3.21 संदर्भ ग्रन्थ

3.22 सम्बन्धित प्रश्न।

## 3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात्, आप जान सकेंगे–

- प्रयोगवादी फिल्मों के दौर के विषय में।
- व्यवसायिक फिल्मों से अलग प्रयोगवादी फिल्मों ने किस प्रकार अपना स्थान बनाया।
- इनकी फिल्म प्रदर्शन, वितरण की व्यवस्था क्या थी।
- प्रयोगवादी फिल्में, किस प्रकार बनती थी।
- इनका निर्माण 16 एम एम गेज पर क्यों होता था।
- सामान्य व्यवसायिक फिल्मों को प्रयोगवादी फिल्में, किस प्रकार प्रभावित करती थी।
- विज्ञान परक फिल्मों के निर्माण की प्रक्रिया क्या थी।
- महिला निर्देशकों की कार्यविधि क्या थी और उनकी फिल्मों को मुख्यधारा की फिल्मों में, किस प्रकार समाहित किया गया।

## 3.1 प्रस्तावना

विश्व सिनेमा के इतिहास के दौर की जब हम विवेचना करते हैं, तो हमें पता लगता है–

(i) कलात्मक फिल्मों के संघर्ष की कहानी

(ii) व्यवसायिक फिल्मों के दौर को किस प्रकार कलात्मक या प्रयोगवादी फिल्मों ने चुनौती दी।

(iii) महिला निर्देशकों ने किस प्रकार अपना स्थान बनाया।

1920 के बाद सब कुछ बदलने लगा। इसका कारण था, फिल्मों में आवाज डाली जाने लगीं। हॉलीवुड की कम्पनियों पर, सैकड़ों मूक फिल्मों के

निर्माण के बाद, बैंकों के नियंत्रण का शिकंजा कसने लगा।

उधर आवाज के आने से, सम्पूर्ण फिल्म निर्माण की प्रक्रिया बदलने लगी। काम बढ़ने लगा। निर्माण नियंत्रक, सुपर बाजार और अन्य कई काम देखने वाले जैसे कास्टिंग निर्देशक, कहानी का चयन, कलाकारों का संयोजन तथा निर्माण समन्वय की व्यवस्था बनानी पड़ी।

उधर फिल्म गेज की समस्या, सामने खड़ी थी। मानक नहीं बन पा रहे थे। अनेक प्रकार के गेज पर काम चल रहा था। अंत में हालात बदले, गेज के मानक बदले 16 एम एम और 35 एम एम।

## 3.2 प्रयोगवादी फिल्में

### 3.2.1 प्रयोगवादी फिल्में

प्रयोगवादी फिल्में, वे फिल्में होती हैं जो न तो परम्परागत फीचर फिल्म हैं और न ही बिना कथानक के हैं। इनमें एक अलग तरह का प्रयोग देखने को मिलता है। ये फिल्में भी डाक्यूमेंट्री, कहानी प्रधान, एनीमेशन फिल्मों के साथ-साथ बनती रहती हैं।

ये फिल्में कई बार दर्शकों की प्रतिक्रिया किसी विषय-विशेष पर जानने के लिए भी सिने-बाजार में डाली जाती है। ये फिल्में कई बार दर्शकों को चौंका भी देती हैं तो कभी झटका भी देती हैं– यह जानकर भी हो सकता है या अनजाने भी। पर दृश्य कला और विधाओं की तरह विषय और दर्शक में सीधा संवाद ये फिल्में भी स्थापित करती हैं। प्रयोगवादी फिल्मों के प्रमुख निर्माता कौन हैं और श्रेष्ठ प्रयोगवादी फिल्में कौन सी हैं इसको लेकर भी विवाद है। सही तथ्य और सबूत ढूंढने पर शायद न मिले।

### 3.2.2 वितरण

इस बात को लेकर भी विवाद रहा कि किन फिल्मों को इस श्रेणी में माना जाए ताकि वे कुछ विशेष फायदों की हकदार हों। हालांकि संग्रहालय निर्देशकों की समीक्षा और उनके विचार इस सम्बन्ध में काफी मददगार सिद्ध हुए हैं।

### 3.2.3 प्रदर्शन

सिनेमा 16 गेज मॉडल का अनुकरण करते हुए प्रयोगवादी फिल्में व्यावसायिक थियेटरों से हटकर छोटे स्टॉल, संग्रहालयों, कला दीक्षिकाओं और फिल्म समारोह में दिखायी जाती हैं। कुछ फिल्म महोत्सव जो ऐसी फिल्में दिखाते हैं–

एन आखर फिल्म महोत्सव जो हर वर्ष अमरीका में होता है, न्यूयार्क या भूमिगत फिल्म समारोह, शिकागो का भूमिगत फिल्म समारोह, दि ला फ्रीवेन्स प्रायोगिक मीडिया कला महोत्सव, न्यू यार्क फिल्म महोत्सव, मिक्स एन वाई सी, न्यूयार्क फिल्म महोत्सव, प्रयोगवादी फिल्म वीडियो महोत्सव और सेटरडम फिल्म महोत्सव।

### 3.2.4 व्यावसायिक माध्यम पर प्रभाव

हालांकि प्रयोगवादी फिल्मों की पहुंच थोड़े से ही दर्शकों जो एक खास पसन्द वाले हैं तक है किन्तु यह सिनेमेटोग्राफी, दिखने वाले प्रभाव, सम्पादन पर अपना प्रभाव जरूर छोड़ती है।

संगीत के अलबम जो आज प्रचलित हैं भी व्यवसायिकरण का एक प्रयोग ही हैं। शीर्षकों की प्रारूप, टीवी विज्ञापन भी प्रयोगवादी फिल्मों से प्रभावित हुए हैं।

बहुत से प्रयोगवादी फिल्म निर्माताओं ने फीचर-फिल्में भी बनायी हैं। प्रमुख उदाहरण में कैथरीन बिगेलो, पीटर ग्रीनअवे, डेरेक जार्मन, जीन काकटू, इसाक जूलिएट, सल्ली पाटर, गुरु वान सन्त और लुई बेनल आदि हैं। उनका अनुपात व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग है।

## 3.3 कहानी-प्रधान फिल्म

### 3.3.1 कहानी प्रधान फिल्म

कहानी प्रधान फिल्म घटनाओं को क्रमवार पिरोती हुई चलती है। फिल्मी विशेषज्ञ कहानी विधा को प्रमुख माध्यम मानते हैं प्रयोगवादी और डाक्यूमेन्ट्री फिल्मों के साथ। साहित्य कथानकों से अलग कहानी प्रधान फिल्मों में घटनाओं की एक श्रृंखला होती है। 20वीं सदी के प्रारम्भ से ही हॉलीवुड स्टाइल की फिल्मों में

कहानी मुख्य रही है। कुछ फिल्मों में हालांकि प्रयोगवादी बदलाव भी देखने को मिलता है। जैसे कि एलेन इसनाइस की मिमेन्टो में।

### 3.3.2 विज्ञान विषयक फिल्में

फिल्मी दुनिया में विज्ञान-विषयक फिल्में भी साथ-साथ बनती रहीं। हालांकि दर्शकों ने इन फिल्मों को काफी बाद में नोट किया। 1960 के बाद से इन फिल्मों की मांग बढ़ी और ये फिल्में भी भीड़ खींचने लगीं। विशेष प्रभाव तकनीक को इन फिल्मों में बखूबी इस्तेमाल किया जा सकता था।

### 3.3.3 स्त्री सिनेमा

स्त्री सिनेमा से तात्पर्य बहुधा ऐसी फिल्मों से होता है जिन्हें महिला निदेशकों ने निर्देशित किया हो। इसमें हालांकि पर्दे के पीछे से काम करने वाली महिला कर्मियों जैसे सिनेमेटोग्राफर और स्क्रीन लेखकों को भी सम्मिलित किया गया। महिला फिल्म सम्पादक, कॉस्ट्यूम डिजाइनर और प्रोडक्शन डिजाइनर सामान्य तथा स्त्री सिनेमा की परिभाषा के दायरे से बाहर हैं।

### 3.3.4 मूक फिल्में

एलिस गाई-ब्लेश ने 1920 में पहली फीचर फिल्म 'ला फी आक्स चौकस' बनायी थी। 300 से भी अधिक फिल्में फिर बनीं। वह एक महिला होते हुए भी बड़े उत्साह और लगन से काम करती थी। उसने फ्रांस और अमरीका में काफी काम किया। लुई बेबर सफलतम फिल्म निदेशकों में से एक थे उस (मूक) युग के। लिलियन गिश, मैरी पिकफोर्ड आदि मूकयुग की फिल्मों की अभिनेत्रियां थीं।

## 3.4 प्रशंसकीय हॉलीवुड

### 3.4.1

1920 के दशक में बड़े बैंकों ने हॉलीवुड की निर्माता कम्पनियों पर नियन्त्रण बनाना शुरु कर दिया था। निर्माण सुपरवाइजर फिल्मों के निर्माण में अच्छा रोल निभाना शुरु कर दिया था। आवाज के आने से फिल्म बनाने का खर्च बढ़ा जिसके लिए पुनः बैंकों पर निर्भरता बढ़ी। 1929 में हॉलीवुड ने काफी बदलाव

देखे। अपरम्परागत फिल्म निर्माताओं का सख्त समय था। महिला फिल्म निर्माताओं में आर्थिक छवि सहने की कम क्षमता देखने को मिली। डोरोथी ऑर्जनर एकमात्र महिला निर्माता थी जो इस अस्वस्थ वातावरण में भी पैर जमाए रही। वह ऐसा परम्परागत फिल्में बनाकर कर सकी। हालांकि वह स्त्री-सम्बन्धी तत्त्व फिल्मों में डालती थी।

### 3.4.2 स्त्रीवाद की द्वितीय लहर का प्रभाव

60 के दशक में जब स्त्रीवाद की द्वितीय लहर शुरु हुई, न्यूलेफ्ट चरम पर था। दोनों आन्दोलनों में सिनेमा में हावी पुरुष वर्चस्व का विरोध किया गया। हॉलीवुड में बदलाव के दृश्य दिखे। स्त्रीवाद फिल्मों में दिखा। व्यक्तिगत अनुभवों के खट्टे-मीठे स्वाद फिल्मों में उभरे। इस सबका एक अच्छा उदाहरण थी बारबरा लोडेन की 'वानडा' जिसकी चहुं ओर प्रशंसा हुई।

### 3.4.3 कामुकता का प्रदर्शन

स्त्रीवाद की दूसरी लहर का मुख्य उद्देश्य स्त्री लिंगभेद को समाप्त करना था। बहुत से पाश्चात्य देशों में गर्भपात बहुत ही विवादास्पद था और स्त्रियों ने सरकार व गिरजाघरों का नियंत्रण भी संदेह की नजर से देखना शुरू किया। लिंगभेद का और खुलासा होने पर निम्न बातें उभर कर आयीं। कामुकता के विभिन्न रूप जो अभी तक सेंसर के सामने आने लगे। बिरगिट हेन, एल्की मिकेश, नेल्ली वाप्लान, कैथरीन बेलैट और बारबरा हैमर कुछ याद रहने वाले निर्देशक हैं।

### 3.4.4 हिंसा का विरोध और हिंसात्मक विरोध

स्त्रीवाद के द्वितीय लहर की बहुत स्त्रियों ने 80 के शान्ति आन्दोलन में भाग लिया। हालांकि इस आंदोलन को काफी आलोचना का सामना भी करना पड़ा। स्त्री फिल्म निर्देशकों ने इस विरोध-प्रतिरोध को फिल्म में रिकार्ड किया। अपनी फिल्मों में बिर्गिट और विल्हेम हेन ने कुछ झलक आक्रांत स्त्रीजाति की अवश्य दी।

## 3.5 अमरीका का सिनेमा

### 3.5.1

अमरीका का सिनेमा जिसे हॉलीवुड कहना ज्यादा श्रेयस्कर है, इसी नाम से

ज्यादा लोकप्रिय था। अमरीका लोकप्रिय संगीत की भांति अमरीकी फिल्म उद्योग का भी विश्वव्यापी प्रभाव था, 20वीं सदी के प्रारम्भ से ही। इसका इतिहास चार बातों से जाना जाता है– मूक युग, शास्त्रीय हॉलीवुड सिनेमा, नया हॉलीवुड और 1980 के बाद का परम्परागत काल।

### 3.5.2 प्रारम्भिक विकास

सिनेमा का जन्म देखने चलें तो अमरीका के इतिहास की तहों में जाना पड़ेगा। पहला अवसर जब तस्वीरें ली गयीं किसी घटना को दर्शाने के लिए इडवर्ड माई ब्रिज द्वारा लिए गए दौड़ते घोड़े के लगातार चित्र थे जो उसने पालो आल्टो, कैलिफोर्निया में लिए थे। यह काम उसने कई स्थिर कैमरे एक पंक्ति में रखकर किया था। माई ब्रिज के इस प्रयोग को बाद में कई लोगों ने नकल की। अमरीका में, थामस अल्वा एडिसन पहला व्यक्ति था जिसने काइनेटोस्कोप का इस्तेमाल किया जिससे प्रेरणा लेकर दूसरे उपकरण भविष्य में विकसित हुए।

अमरीका में शुरू की फिल्मों का प्रदर्शन शहर-शहर जाकर हुआ पहला बड़ा शो 'दि ग्रेट ट्रेन रॉबरी' था। इस फिल्म को एडविन एस0 पोर्टर ने निर्देशित किया था।

## 3.6 हॉलीवुड का उदय

### 3.6.1 विश्वयुद्ध के पहले

1910 के शुरू में निर्देशक डी डब्लू ग्रिफिथ को अपनी टीम के साथ बायोग्राफ कम्पनी ने पश्चिमी तट पर भेजा। इस टीम में ब्लांच स्वीट, लिलियन गिश, मेरी पिकफोर्ड, लायोलेन बेरीमोर जैसे अभिनेता थे। उन्होंने लॉस एंजेल्स के जारजिया स्ट्रीट पर शूटिंग प्रारम्भ की। कम्पनी ने ऐसे ही अन्य स्थानों की तलाश करते हुए उत्तर की ओर सैकड़ों मील बढ़ना मुनासिब समझा। उस गांव में लोग मैत्री भाव के थे और उन्होंने शूटिंग में सहयोग देने का आश्वासन दिया। यह स्थान हॉलीवुड कहलाता था। ग्रिफिथ ने तब हॉलीवुड में पहली फिल्म की शूटिंग की, **इन ओल्ड कैलिफोर्निया**। यह दर्शाती है 1800 में कैलिफोर्निया कैसा था जब यह मैक्सिको के अन्तर्गत था।

बायोग्रिफिथ वहां रुका कई महीनों तक और कई फिल्में वहां बनायी न्यूयार्क में लौटने से पहले। इस आश्चर्यजनक स्थान के बारे में जानने के बाद 1913 में बहुत से फिल्म बनाने के शौकीन वहां आए क्योंकि वे थामस एडिसन से त्रस्त थे जो फिल्म बनाने पर एकाधिकार किए हुए था। लॉस एंजेल्स, कैलिफोर्निया में स्टूडियो और हॉलीवुड का विकास हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के पहले फिल्में अमरीका के कई शहरों में बनी लेकिन फिल्म निर्माता दक्षिण कैलिफोर्निया की ओर ज्यादा आकर्षित हुए। इसका कारण हल्की जलवायु और विश्वसनीय सूरज की रोशनी थी जिससे वे सालों भर बाहर के स्थानों पर शूटिंग कर सकते थे। अमरीकी सिनेमा में कई शुरूआती नाम हैं किन्तु ग्रिफिथ का 'बर्थ आफ ए नेशन' का नाम प्रमुख है जो आज भी एक नजीर माना जाता है।

## 3.6.2 रोजगार के अवसर

1900 के शुरू में बहुत से बाहरी व्यक्तियों को यहां रोजगार के अवसर दिखे अतः वे यहीं जम गए इनमें यहूदी भी थे। अपने धर्मों को एक किनारे रख वे इस नए धंधे में बाद में मशगूल हो गए। लघु फिल्मों का प्रदर्शन छोटे हाल जैसे थियेटरों में जो निकिल ओडियन कहलाते थे और जिनमें प्रवेश एक निकिल (5 सेंट ) से होता था। कुछ ही वर्षों में महत्वाकांक्षी व्यक्ति जैसे सेमुएल गोल्डविन, कार्ल लेमले, एडोल्फ जुकोर, लुई बी0मेयर, और वार्नर बन्धु (हैरी, अल्बर्ट, सैमुएल, और जैफ) निर्माण की ओर मुड़ चुके थे। शीघ्र ही वे फिल्म स्टूडियो के मालिक बन गए।

यह नोट करने योग्य बात है कि अमरीका में अभी भी एक स्त्री निर्माता, निर्देशक, स्टूडियो की प्रमुख थी– एलिस गाई। इन घटनाओं से एक अन्तर्राष्ट्रीय सिने जगत का माहौल बना। उद्योग में यह भ्रम था कि केवल अमरीकी लोगों में ही यह रोजगार है किन्तु बहुत से बाहरी व्यक्ति भी वहां काम कर रहे थे। जैसे स्वीडन की अभिनेत्री ग्रेटा गार्बो, आस्ट्रेलिया की निकोल किडमैन, हंगरी के माइकेल कर्टिज, मेक्सिको के अल्फांसो न्यूस।

## 3.6.3 विश्वयुद्ध के बाद

यूरोप से दूसरे फिल्म निर्माता प्रथम विश्व युद्ध के बाद आए। अर्नेस्ट ल्युबिस अल्फ्रेड हिचकॉक, फिट्ज लैंग और जीन एनायर जैसे निर्देशक और

रुडोल्फ वैलेन्टिनो मार्लिन डाइट्रिच, रोनल्ड बोलमैन और चार्ल्स बोयर जैसे अभिनेता भी उनमें थे। देश-विदेश का टेलेन्ट एक जगह एकत्र होने से फिल्म उद्योग में बड़ी तेजी से विकास हुआ। 1940 के मध्य तक ये स्टूडियो 400 फिल्में प्रतिवर्ष देने लगे थे जो 90 मिलियन अमरीकी दर्शकों द्वारा हर हफ्ते देखी जा रही थी।

## 3.7 यूरोप का सिनेमा

### 3.7.1 यूरोपीय सिनेमा

यूरोप का सिनेमा, अमरीका की तुलना में नग्नता, कामुकता का ज्यादा प्रदर्शन कर रहा था। हां, हिंसा का प्रदर्शन कम होता था। अमरीका में यूरोप का सिनेमा आर्ट हाउस थियेटरों में दिखाया जाता था। कुछ याद रखने लायक यूरोपीय फिल्मी आन्दोलन में जर्मन अभिव्यक्तिवाद, इटली का नव-यथार्थवाद, फ्रांस की नयी लहर, नया जर्मन सिनेमा और डोग्मे 95 प्रमुख हैं। यूरोपीय सिनेमा को पुरस्कृत करने हेतु उनका एक 'यूरोपीय फिल्म पुरस्कार भी है।

### 3.7.2 यादगार यूरोपीय फिल्म समारोह

यूरोप में फिल्म समारोह

- वेनिस
- बर्लिन
- कान्स
- सिट्गेस

### 3.7.3 पूर्व एशियाई सिनेमा

पूर्व एशियाई सिनेमा जिसे कई बार सुदूर पूर्व सिनेमा, पूर्वी सिनेमा, एशियन सिनेमा या ओरिएन्टल सिनेमा भी कहते हैं, फिल्म उद्योग लोगों द्वारा बनायी एशियाई फिल्मों के लिए लिया जाता है। यह विश्व सिनेमा के एक भाग के रूप में देखा जा सकता है।

पूर्वी एशियाई सिनेमा, मुख्य रुप से बड़ी और प्रतिष्ठापित चीन, हांगकांग, जापान की फिल्मी दुनिया से है या फिर ताईवान, उत्तरी कोरिया, दक्षिण कोरिया के

विकासशील उद्योग से है। इसमें मंगोलिया, वियतनाम और मकाऊ जैसे देशों का फिल्म उद्योग भी शामिल है।

एशियाई सिनेमा पूर्वी सिनेमा या ओरिएन्टल सिनेमा एक दूसरे के पर्यायवाची है और इन्हें सम्मिलित रूप से पूर्वी एशियाई सिनेमा भी कहा जाता है, विशेषकर अमरीकी जगत में।

### 3.7.4 अफ्रीकी सिनेमा

अफ्रीकी सिनेमा से तात्पर्य उन देशों के सिनेमा उद्योग से है जो सहारा के दक्षिण में स्थित देशों में स्थित है जैसे - ईजिप्ट। अफ्रीकी सिनेमा से तात्पर्य उस सिनेमा से भी है जिन्हें अफ्रीकी निर्देशकों ने अपनी कला से सींचा है। ये निर्देशक अपने देश से बाहर कहीं ठहरे हैं।

## 3.8 साइज

### 3.8.1

- 35 मिमी0, स्तर हेतु संघर्ष
- बहुत से शुरुआती फिल्म आकार
- परम्परागत फिल्मों का आकार
- सुरक्षित अज्वलनशील फिल्में
- 28 मिमी
- ग्लास और अर्ध-ग्रामोफोन रिकार्ड
- दूसरे प्रारूप
- न्यूज सिंक, 9.5 मिमी
- 16 मिमी, 16 मिलीमीटर
- 17.5 मिमी
- 8 मिमी बूटलेस
- सुपर एंगल 8 और सुपर 16 मिमी

- चौड़ा पर्दा
- और आकार 8.75, 11.38 किमी0
- साहित्य और सम्पर्क

### 3.8.2 स्तर हेतु संघर्ष

सिनेमा के 100 साल हो गए क्योंकि एक प्रचलित नाप तब नहीं स्वीकार की गयी, जब फिल्म उपकरणों में भारी परिवर्तन आए। यह एक चमत्कार ही है कि फिल्म 35 मिमी के स्वीकृत माप पर ही बन रही है। यदि वीडियो की नकल फिल्मों ने की होती तो इतना विकास भी संभवतः नहीं हो पाता।

- जो प्रारूप हम प्रयोग करते हैं वह एडिसन की देन हैं– कोडक 35 मिमी को एडिसन साइज ही कहा जाता था।
- 1890 की मांकीसाइन एडिसन फिल्म देखें
- 18 जून, 1891 की एडिसन लाइनेटोग्राफ फिल्म पट्टिका देखें।

मई 1889 में थामस एडिसन ने इस्टमैन कम्पनी से एक कोडक कैमरा आदेश किया और उन्हें 70 मिमी की एक रील यूं ही दी गयी। फिर उन्हीं की प्रयोगशाला के डब्ल्यू. के. एल. डिक्सन ने 1 3/8 (35 मिमी) की फिल्म इस्टमैन से आदेश की। यह कोडक कैमरा का आधा साइज था। यह एक नए प्रकार के काइनेटोस्कोप में इस्तेमाल की जानी थी।

### 3.8.3 सिनेमेटोग्राफ

ल्युमियर बन्धुओं ने 35 मिमी का सिनेमेटोग्राफ मार्च 1895 में बाजार में डाला उसी साल के 28 दिसम्बर के पहले शो में भी इसका इस्तेमाल किया गया। उनकी पट्टिका में एक तस्वीर में केवल एक गोल छेद होता था। जबकि एडीसन की फिल्म में हर फ्रेम (चित्र) में चार आयताकार छेद होते थे।

कई और चौड़ाइयां भी तब प्रचलित थीं।

- 54 मिमी0 (2 1/8'') (फाइज-ग्रीन 1887 में)

- 54 मिमी0 पेपर फिल्म (2 1/8'') (ले प्रिंस, 1888)
- 54 मिमी0 (स्लाडोनावस्की, 1845), स्लाजनोवस्की फिल्म क्लिप भी देखें।
- 60 मिमी0 (प्रेस्टविच, डिमेने, 1893-96) डेमेने फोनोस्कोप 1893 गामोट-डेमेनी क्रोनोफ्रोटोग्राफ, 1896
- 38 मिमी0 (कासिमिर सिवान/ इ0 डाल्फिन, जेनेवा, 1896)

ली एवं टर्नर संगीन फिल्म, 1902

- 63 मिमी0 वेरिस्कोप, 1897
- 65 मिमी0 (हुजेज मोटान्फोटोस्कोप, 1897) 3'' चौड़ी फिल्म के लिए भी
- 68 मिमी (बायोग्राफ 1897) कैमरा
- 70 मिमी बिना छेद वाली प्रयोगवादी फिल्म बर्ट एकर 1894

ऊपर वर्णित विलियन डिक्सन, ने एडिसन को छोड़ने के बाद 2 3/4'' (70 मिमी) फिल्म इस्तेमाल की अपनी म्यूटोस्कोप और बायोग्राफ कम्पनी के लिए। इस कम्पनी के कैमरामैन पूरे यूरोप का दौरा करके अच्छी छवि वाली फिल्में बनाने लगे।

### 3.8.4 चौड़ा पर्दा सुविधाजनक लग रहा था।

- 1897 मे 10,000 फिट से भी अधिक 63 मिमी फिल्म की शूटिंग हुई।
- एक परामर्श की जाने वाली समस्या थी फिल्म आधार की शक्ति। क्योंकि फिल्म गेट की ओर खिंचती है। कई बार छेद फट जाते थे। ईस्टमैन ने नाइट्रेट बेस की मोटाई बढ़ाकर इस कमी को दूर किया। यह 1896 के बाद इस्तेमाल में रहा।
- सदी के अन्त तक फिल्मों के धंधे को देखते हुए एकाधिकार जमीन के प्रयास जारी रहे। लम्बी कानूनी लड़ाई से बचने के लिए नौ बड़े निर्माताओं ने 1909 में मोशन पिक्चर पेटेन्ट कम्पनी में आपसी समझौता किया। इस समूह ने बाहरी निर्माताओं को प्रवेश बन्द सा कर दिया। हो- हल्ला के

बावजूद 35 मिमी- फिल्म बेल और हावेल के मानकों पर भी खरी उतरी। इसे पेरिस में उसी साल हुए अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में मान्यता मिली।। इसे 'स्टैंडर्ड साइज' स्टाक, नार्मल फिल्म (जर्मन में) या 'पेलिक्यूल फार्मेट' मानक (फ्रेंच में) कहा गया। ईस्टमैन कोडक प्रमुख फिल्म सप्लायर हुआ।

इसका यह मतलब कदापि नहीं कि साइज के प्रयोग फिर हुए ही नहीं। किन्तु यही मान्य रहा– आर्थिक व दूसरे कारणों से।

## 3.9 स्वीकृत फिल्म साइज में विविधता

प्रचलित बाजार में एक प्रतिस्पर्धा जारी थी। अर्थ और आकार चुनौतियां थीं। व्यावसायिक रुप से 35 मिमी साइज के रोल तैयार किए गए जो सस्ते होने के कारण लोकप्रिय रहे। फिल्म 2 या 3 लम्बाइयों में काटी गयी। इसे जर्मन में 'स्मॉल फिल्म' कहा गया।

1898 में इग्लैण्ड में बर्ट एकर द्वारा पहला प्रयास किया गया। उसका कैमरा, प्रोजेक्टर 17 1/2 मिमी फिल्म जिस पर केवल एक ओर छेद हो, के लिए फिट था।

कुछ माह बाद 1899 में बायोकैम (चित्र देखें) आया जिसकी कीमत 6.6 थी। यह 17 1/2 किमी की फिल्म लेता था किन्तु छेद चित्र के मध्य में थे। यह सफल नहीं हुआ।

उसी वर्ष जे0 ए0 प्रोस्टविच का 13 मिमी का उपकरण आया किन्तु यह प्रचलित न हो पाया।

ज्यादा लोकप्रिय हुआ हेनरिच इरनेमैन का काइनो I जो 1903 में आया। इसमें वही फिल्म प्रयुक्त होती थी जो बायोकैम में होती थी। यह उपकरण भी चित्र खींचने और फिर उन्हें दोबारा प्रस्तुत करने में इस्तेमाल होता था। यह मिश्रण पसन्द किया गया।

1900 में गामोंट-डेमेनी ने एक अनोखा साइज 15 मिमी विकसित किया जिसमें बीच में छेद होते थे। उसी साल एक और फ्रेंच फर्म ने माइरोग्राफ खोजा

जिसमें 20 मिमी फिल्म लगती थी। इसमें छेद की जगह एक तरफ खांचे होते थे। इसका उदाहरण ढूंढे से भी नहीं मिलता।

अमरीका में मानक से इतर फिल्म इस्तेमाल करने वाले प्रोजेक्टर की झलक 1902 में दिखाई दी। इसमें कार्बाइड लैम्प इस्तेमाल होता था। जिसे विटाक कहते थे। इसमें 17.5 मिमी0 फिल्म इस्तेमाल होती थी। कुछ साल बाद एक और प्रोजेक्टर इससे मिलता-जुलता दिखाई दिया। इसे इकोनोग्राफ कहते थे जिसमें बीच में बड़े छेद वाली 17.5 मिमी फिल्म लगती थी।

1923 में अमरीका में 11.5 मिमी0 फिल्म दोबारा इस्तेमाल में आयी डुप्लेक्स प्रोजक्टर के साथ।

## 3.10 सुरक्षित फिल्म

1897 में एक भयानक अग्नि ने पेरिस के चैरिटी बाजार में एक सिनेमा के पैवेलियन को राख कर दिया जिसमें 124 लोगों की जानें भी गयीं। तुरन्त ज्वलनशील सेल्युलोज नाइट्रेट के विकल्प की तलाश शुरू हो गयी। 1908 में अज्वलनशील एसिटेट फिल्म बनी। 1950 में जाकर उस स्तर की ट्राई नाइट्रेट फिल्म बन सकी। इसका इस्तेमाल तुरंत शुरू हो गया। 1912 में एडीसन ने सुरक्षित फिल्मों के लिए हेल काइनेटोस्कोफ विकसित किया। इसमें 22 मिमी फिल्म प्रयुक्त होती थी। इसमें तीन पंक्तियों में तस्वीर होती थी जिसका साइज 4ङ6 मिमी होता था। 2 पंक्ति में छेद होते थे एक स्तम्भ या पंक्ति आगे चलती थी दूसरी पीछे, तीसरी फिर आगे। 10–15 मीटर लम्बी फिल्में डिब्बे में बन्द एडीसन डिपो में मिल जाती थीं जिन पर शूटिंग होती थी।

10 साल बाद यानि 1922 में स्ते गैलस ने एक प्रोजक्टर बनाया 'सिनेब्लॉक' इसमें उसी साइज की फिल्म फर्क तरीके से प्रयुक्त होती थी। ये दोनों ओर छेद (परफोरेशन) वाली 22 मिमी वाली ओजाफैन सेलोफेन फिल्म होती थी। सिनेब्लॉक के बारे में बाद में कम ही सुना गया।

## 3.11 - 28 मिमी

1912 में पेथ ने ज्यादा सुरक्षित 28 किमी फिल्म की खोज की। इसकी चौड़ाई फर्क हुई सामान्य साइज की फिल्म को और सुरक्षित बनाने में। यह 28 मिमी

फिल्म पेथनाक प्रोजेक्टर में चलायी गयी।

फ्रांस में फिल्म के बाएं तरफ तीन पंक्तियों में छेद होते थे, और दाएं ओर एक। जब प्रथम विश्व युद्ध के समय फ्रांस से अमरीका में सामान जाना बन्द हो गया, विक्टर ने सुरक्षित घर के सिनेमा वाले प्रोजेक्टर बनाए जिसमें 20 मिमी की फिल्म जिसके दोनों किनारों पर तीन पंक्तियों में छेद होते थे, इस्तेमाल होती थी।

पेथ के वितरक डब्लू बी कुक ने एक मोटर से चलने वाला प्रोजेक्टर बनाया जिसे 'न्यू प्रीमियर पाथेस्कोप' नाम दिया हालाकि वे कुछ ही बिक पाए। कीस्टोन और दूसरे निर्माताओं ने भी 28 मिमी प्रोजेक्टर बनाया लेकिन जल्द ही वापस पुनः 35 मिमी साइज पर चले गए।

पेथकाक प्रोजेक्टर में एक मोटर लगा होता था। 28 मिमी कैमरे भी बाजार में चल रहे थे। नोट इस बात पर था कि थियेटर की फिल्में पेथ की लाइब्रेरी के कापी की जा सकें। नया साइज होम सिनेमा के लिए सफल प्रयोग सिद्ध हुआ। 1918 तक 10,000 प्रोजेक्टर बेचे जा चुके थे।

यह प्रोजेक्टर पसंद किया गया अमरीका में 28 मिमी की फिल्म को इधर-उधर ले जाने वाले प्रोजेक्टर के लिए सोसाइटी ऑफ मोशन पिक्चर इन्जीनियर्स द्वारा मान्यता मिली। 935 किराए पर चल रहे थे।

बाद के विकास से लोकप्रियता ग्राफ और कम हुआ। प्रोजेक्टर आज शो-पीस बनकर केवल संग्रह में स्थान पाए हुए हैं। शायद अपनी डिजाइन के कारण जो एक सिलाई मशीन जैसी लगती थी।

## 3.12 ग्रामोफोन रिकार्ड

### 3.12.1

फिल्म बेस के पदार्थ के अलावा सेल्युलाइड और सीसे की प्लेट पर भी प्रयोग किए गए। अभी भी जादुई लालटेन और अज्वलनशील सीसे की स्लाइड में प्रतिस्पर्धा चलती रहती थी।

- 1890 में रूज ने चलती तस्वीरों को कांच की प्लेट से प्रदर्शित किया, बाथ फोटोग्राफिक सोसायटी के लिए।

- 1892 में डोमेनी फोनोस्कोप बना इससे एक कांच की प्लेट पर 18 चित्रों वाले क्रम को प्रदर्शित किया जा सका।
- 1897 ई0 एण्ड एच टी एन्थोनी ने स्पाइरल कैमरा विकसित किया जो एक कांच की प्लेट पर 200 चित्रों को प्रदर्शित कर सकता था। उसी वर्ष बेटीनी बन्धुओं ने प्लाटेन काइनेमेटोग्राफ बनाया जो एक कांच की प्लेट पर 576 चित्र उकेर सकता था।
- 1898 में लिओ काम ने 30 सेमी की एक गोल कांच की प्लेट अपने काइनेमोग्राफ के लिए ईजाद की जिस पर 350 से 550 चित्र लिए जा सके।
- बेटीनी प्लैटेन्थामेरा, जर्मनी में 1900 में 576 चित्र कोर्टाग्राफिक प्लेट पर लेने के प्रयोग जारी रहे।

---

**3.12.2**

---

- सिनेफाट आफ ह्यएट एण्ड साइ ने 1904 में 2*24 फ्रेम वाली 6'' की डबल मैगजीन वाली डिस्क की खोज की।
- फ्रांस के ओलिकोस ने 1912 में 9.5*9 सेमी की कांच की प्लेट (आयताकार) बनायी जिस पर 7 चित्रों की 12 पंक्तियां दर्ज की जा सकीं।
- मिलता-जुलता उपकरण था फ्रांस का ले सेडुल जिसमें 9*12 सेमी का कांच का निगेटिव इस्तेमाल होता था।

---

**3.12.3**

---

- अमरीकी अरबन स्पाइरोग्राफ (1915) लोकप्रिय ग्रामोफोन से ही आगे की मात्रा है। इसमें 1200 फ्रेम वाली सेल्युलाइड डिस्क इस्तेमाल होती थी। प्रत्येक डिस्क में 2 मिनट का प्रस्तुतीकरण समय होता था एक डिस्क वाचनालय सैकड़ों संग्रहों के साथ तैयार रखी जाती थी। कुछ समय बाद इस खोज का ज्यादा पुरसाहाल रहा नहीं।

पोलैंड के खोजी काजी मिर्ज प्रोसिन्न की ने 1915 में एक प्रोजेक्टर ओको ईजाद किया, 12 सेमी फिल्मों के लिए 15 की पंक्ति में छवि बनती थी। यह फिल्म तब बाएं से दाएं चलायी जाती थी। 3 फिट की फिल्म 20 मिनट तक शो

देती थी।

### 3.12.4

आज ये सारी वस्तुएं संग्रहालय में शोभा बढ़ा रही है। क्रिस्टीज द्वारा एक थामोटोग्राफ £3850 में 1993 में नीलाम किया गया। आज उसकी कीमत कहीं ज्यादा होगी।

## 3.13 दूसरे प्रारूप

1915 में डुप्लेक्स निगम ने एक और सस्ता तरीका बताया 35 मिमी फिल्म के इस्तेमाल का फ्रेम दो भागों में जोड़कर फ्रेम को 35 मिमी फिल्म पर कापी करके। इसके लिए विशेष डुप्लेक्स प्रोजेक्टर लेन्स लगाए गए जो 10ङ19 मिमी के आधे फ्रेम को पर्दे पर प्रदर्शित करता था। इस को भी लोगों ने गम्भीरता से नहीं लिया।

1922 में एक अन्य जर्मनी कं- ट्राइरगान का प्रस्ताव आया जिसमें 35 मिमी की फिल्म के साथ 7 मिमी ध्वनि मार्ग के लिए जोड़कर 42 मिमी पर फिल्म बनायी गयी।

## 3.14 न्यूफ-सिंक ( 9.5 )

30 वर्षों तक फिल्म की चौड़ाई के प्रयोग होते रहने के बाद 1922 में पाथे ने होल सिनेमा ले सिनेमा चेज़ सोई या पाथे बेबी बाजार में डाला। 35 मिमी फिल्म 42 9. मिमी की तीन पंक्तियां बनायी गयीं। पहले प्रोजेक्टर आया। इसको चलाना ल्युमियर सिनेमैटोग्राफ जो 1895 में आया था के जैसा ही था। 6 वॉट की रोशनी के उपकरण ने बहुत साफ चित्र बनाए। डिपो से 9 या 15 मीटर लम्बी 9.5 मिमी फिल्म ली गयी। विषय जिन पर काम होना था बहुत थे– न्यूजरील, डाक्यूमेन्टरी, कॉमेडी और फीचर फिल्म। कुछ स्टेंसिल विधि द्वारा रंगीन भी बनायी गयी। प्रोजेक्शन समय को बढ़ाने के प्रयास भी किये गए। यह तकनीक भी आजमायी गयी कि फिल्म में खांचों के माध्यम से किसी चित्र-विशेष को कैसे, कुछ समय के लिए स्थिर किया जा सकता है।

1923 में कैमरा हत्थे के साथ बना। यह छोटा, कहीं भी ले जाने योग्य, सस्ता था। यह लोकप्रिय हुआ। अनुमानतः 300,000 प्रोजेक्टर बिके। सबका बाद में क्या हुआ, यह एक अलग विषय है। वे दोबारा बिक्री हेतु भी उपलब्ध हों, ऐसी जानकारी नहीं । बाद की तब्दीलियों में अमरीका में यह साइज स्वीकृत नहीं हुई। यूरोप में यह प्रचलित हुआ। जापान में 9.5 मिमी फिल्म कैमरे और प्रोजेक्टर युद्ध से पहले ही बनाए जाने लगे थे (सिने रोला)। 1938 में 9.5 मिमी आवाज वाली फिल्में आयीं पेथ बॉक्स ध्वनि प्रोजेक्टर के साथ।

यह कुछ लोगों के लिए आश्चर्य हो सकता है किन्तु 9.5 मिमी स्थिर चित्र आज भी लोकप्रिय है। कैमरा और प्रोजेक्टर आज भी बनाए जाते हैं या आधुनिक उपकरण और भी परिष्कृत किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 9.5 मिमी के चहेते एक समुदाय बनाकर रहते हैं। 9.5 की फिल्में बनाकर प्रदर्शित की जाती है।

## 3.15 - 16 एम.एम.

### 3.15.1

कोडक भी  पेथ से पीछे नहीं रहा। कोडक के जान कैपस्टॉफ एक, दूसरे साइज के साथ प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि 10 मिमी न्यूनतम चौड़ाई है अच्छी तस्वीरों के लिए। दोनों ओर छेद की एक-एक पंक्ति 6 मिमी जगह लेगी। इस प्रकार 16 मिमी की नाप बनाते हुए। एक अच्छाई यह भी कि 35 मिमी में दो हिस्से नहीं बनाए जा सकते थे।

### 3.15.2

1923 में 16 मिमी0 का पदार्पण हुआ। प्रतिस्पर्धा में पेथ ने यह प्रचार किया कि उसकी साइज सस्ती थी, कम चौड़ाई की वजह से। इसकी कीमत सभी को ठीक लगी। बिक्री में पेथ ने 9.5 मिमी में उसी साइज का फ्रेम इस्तेमाल किया अर्थात् 8 मिमी की कीमत में 16 मिमी का मजा।

### 3.15.3

कोडक ने इस बात का विरोध किया कि बीच के छेद छाया पर पट्टिका बनाएंगे। हाँ यदि प्रोजेक्टर के खांचे छेदों में सही नहीं बैठे तो चित्र खराब होंगे।

3.15.4

16 मिमी की दानेदार किस्म ज्यादा अच्छी थी। कोडक ने द्वितीय एक्सपोजर वाली 16 मिमी फिल्म विकसित की। इससे निगेटिव से पॉजिटिव बनाए जाने वाली विधि में बदलाव की कीमत का 1/6 रह गयी थी। बाद के सालों में आवाज का मार्ग फिल्म के एक ओर चिन्हित किया गया एक पंक्ति छेदों को बचाते हुए। 1932 में इसे एस एम पी ई मानक के रूप में मान्यता मिली।

## 3.16 17.5 मिमी

35 मिमी0 का आधा यानी (7.5 मिमी एक विकल्प के रूप में रहा। 1915 में अमरीकी कैमरा सिनेमा ने इसे एक तरफ छेदों के साथ इस्तेमाल किया। दो साल बाद मोवेट कैमरा और प्रोजेक्टर में भी 17.5 मिमी प्रयुक्त हुई । इस फिल्म में दोनों किनारों पर गोल छेद थे। 1920 में पेथ एक नयी साइज की तलाश करते हुए 17.7 मिमी को प्रयोग करता रहा। चित्र का दायरा बढ़ा कर छेदों के लिए सीमित स्थान कर दिया गया था।

1926 से पेथ रूरल भी उपलब्ध था। पाथेस्कोप (ग्रेट ब्रिटेन) के बाद 1932 में पेथ रेक्स आया। उसी समय फिल्मों का वाचनालय स्थापित किया गया। 1923 में ध्वनि फिल्में आयी। एक ओर के छेद खत्म करके वहाँ ध्वनि रिकार्ड होती थी। 17.5 मिमी की फिल्म फ्रांस में 4823 सिनेमा घरों में इस्तेमाल हो रही थी। 1929 में यह ग्रेट ब्रिटेन से गायब हो गयी। फ्रांस में प्रथम विश्व युद्ध के समय जर्मनी ने सेंसर की दृष्टि से प्रचलित साइज से हर फिल्मों के इस्तेमाल की अनुमति नहीं दी।

## 3.17 8 मिमी बूटलेस

1930 में कोडक ने अमरीका में 16 मिमी की कीमत काफी कम करने का दावा किया। उसने 16 मिमी के फ्रेम पर चार चित्र लेकर सफलता भी पाई। धेमको होम मूवी कैमरा के अलावा एक प्रोजेक्ट 16 मिमी और 1/4✶16 मिमी के इस्तेमाल के लिए निर्मित हुआ।

यह प्रयोग धरा रह गया जब कोडक ने 1932 में 8 मिमी फिल्म ईजाद

की। 16 मिमी के दुगनी संख्या में छेद बनाए गए। पहला आधा भाग चित्रों के लिए था, फिर फिल्म को पलटकर बाकी आधे भाग पर चित्र लिए जाते थे। प्रोसेसिंग के बाद फिल्म को बीच से दो भागों में बांटकर 8 मिमी के दो रोल तैयार किए जाते थे। इस प्रक्रिया से 25 फिट की छोटी रील पर इतने फ्रेम उपलब्ध हो जाते थे जितने 100 फिट लम्बी 16 मिमी की फिल्म पर होते थे।

क्योंकि रील को बीच में पलटना एक मुश्किल काम था, बहुत से निर्माताओं ने 50 फिट की 8 किमी रील का प्रयोग ही बेहतर समझा, (यूनिवेक्स, बेल और हावेल ) कैसेट में एक सामान्य न होने की दशा में 8 मिमी वाला प्रयोग ज्यादा गति नहीं पकड़ सका।

कुछ फायदे होने के बावजूद 9.5 मिमी भी आधार नहीं बना सका। कोडक ने देर 1920 में पेथ के अधिकार के लिए। इसका इरादा उसी पुराने साइज को चलाने का हर्गिज नहीं था। 8 और 16 मिमी का प्रभुत्व कई सालों तक चलता रहा।

पेथ ने 1955 में एक अन्तिम प्रयास करते हुए डुप्लेक्स और मोनोप्लेक्स प्रारूप निर्मित किया। 9.5 मिमी पर दुगने छेद थे और यह बीच में 4 3/4 मिमी पर कटी हुई थी। यह विचार भी अच्छा नहीं लगा। 4 3/4 मिमी लिडो डुप्लेक्स कैमरा और मोनेको प्रोजेक्टर संग्रह की वस्तु बन गए।

## 3.18 - सुपर 8 और सुपर 16

### 3.18.1

8 मिमी ने एक जबरदस्त परिवर्तन 1965 में देखा। फ्रेम का चित्र 50ज्ञ बड़ा कर दिया गया। कथित सुपर 8 फिल्म 50' के 8 मिमी कैसेट में उपलब्ध करायी गयी (यह सालों पहले आए भिओष्टा कैसेट से काफी कुछ मिलता-जुलता था)। 1973 से ध्वनि की चुम्बकीय पट्टिकाओं से फ्यूजी ने 8 मिमी का एकल तन्त्र विकसित करने की कोशिश की किन्तु कोडक के सामने टिक नहीं पाया।

### 3.18.2

अर्ध-व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए डबल सुपर 8 उपलब्ध करायी गयी। 8 या 16 मिमी के 100 फिट रील पर इसे उपलब्ध कराया गया। इसके अच्छे परिणाम आए क्योंकि फिल्म को फिल्म गेट से गुजरना पड़ता था मैगजीन के बजाय।

बड़े फ्रेम साइज और परिवर्धित इमल्सन के कारण सुपर 8,1950 के 16 मिमी की तुलना में अच्छा बैठा। आश्चर्य नहीं कि 16 मिमी का प्रयोग काफी कम हो गया।

### 3.18.3

16 मिमी जो व्यावसायिक लोगों द्वारा प्रयुक्त हो रही थी को प्रोत्साहित किया गया और 1971 में सुपर 16 ईजाद की गयी। 16 मिमी की तस्वीर बड़ी की गयी (ध्वनि के लिए बने स्थान को सम्मिलित करके)। इसे बड़ा करके 35 मिमी0 बनाया गया। अच्छी चौड़ाई और दृश्य के कारण यह आधुनिक टीवी में फिट बैठी। सुझाव आए कि तस्वीर के साइज को और बड़ा किया जाए छेदों को लम्बा बनाकर, जैसे कि सुपर 8 किमी में किया जाता था।

### 3.18.4 चौड़ा पर्दा

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, चौड़ा स्क्रीन या पर्दा 50 के दशक में लोकप्रिय हुआ। इसमें आगे तरक्की होती रही।

- 1900-75 मिमी चौड़ी फिल्म ल्यूमियर की
- 1900-70 मिमी सिनेरामा, राओल ग्रिमायन सैनसन का
- 1914-70 मिमी पैनोरामिका (फिलोटिओ एलबेसिनी का)
- 1926-63.5 मिमी नेचुरल विजन, आर0के0ओ0
- 1929-70 मिमी 20$^{th}$ सेंचुरी फॉक्स का ग्रैंडेमोर
- 1930-56 मिमी मैग्नाफिल्म, पैरामाऊंट
- 1930-70 मिमी रियलाइफ एम जी एम
- 1930-65 मिमी बीटास्कोप वार्नर बन्धु

ये सभी खोजें एक वर्ष से अधिक नहीं चलीं। 50 के दशक में और प्रयास किए गए चौड़े स्क्रीन के लिए फिल्म साइज बनाने के कुछ उदाहरण

- 1954 - 65 मिमी टाउ-ए ओ
- 1955 - 55, 65 मिमी सिने माक्फोप

- 1956 - 65 मिमी सुपर पैनाविजन

70 के दशक में आईमैक्स (1970) ओमनी मैक्स (1973), सिनेमा 180 और दूसरे उपकरण आए जिनमें समानान्तर 65 मिमी निगेटिव फिल्म लगती थी। विशेष थियेटर बनाए गए प्रोजेक्ट जरूरी हो गए थे क्योंकि पंजे की मदद से फिल्म खींच पाना संभव नहीं हो पा रहा था। आईमैक्स तन्त्र में ये लहर विधि से चलायी जाती है। हवा के दबाव वाली विधि को धन्यवाद, जिसकी मदद से 180-100 फिट चौड़े पर्दे पर प्रोजेक्ट कर पाना संभव हो पाया था।

यह अब स्पष्ट हो चला था कि मानकों का निर्णय निर्माताओं की ताकत कर रही थी। सार्वजनिक स्वीकृति भी कुछ भूमिका निभा रही थी।

### 3.18.5 माप से इतर उपकरण

मानक से अलग फिल्म या उपकरण का संग्रह एक चुनौती भरा काम था। कम कीमत से फायदा हो सकता था। 8, 16, 35 मिमी उपकरण फिल्में बिक्री के लिए उपलब्ध थीं। मुश्किल थी 9.5 17.5, 22 या 28 मिमी साइज के साथ।

### 3.18.6 - 3 से 75 मिमी

100 सात के सिनेमा के इतिहास में 3 मिमी से 75 मिमी की 100 माप अवश्य आयी होगी। सबसे छोटी (3 मिमी) दूरिक बर्नड द्वारा 1960 में नासा के लिए विकसित की गयी थी। इसमें मध्य में छेद होते थे। सबसे बड़ा 1900 में ल्युमियर द्वारा पेरिस प्रदर्शन में इस्तेमाल किया गया। हर साइज का एक इतिहास है। कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं-

- 38 मिमी (कासिमिर सिवान, स्विट्जरलैण्ड)
- 11.5 मिमी (सामान्य 8 मिमी + 3.5 मिमी )

ध्वनि मार्ग के लिए, आप्टिकल ध्वनि फिल्म केनर के वास्तविक ध्वनि प्रोजेक्टर में 1965 में प्रयुक्त हुई। 9.75 मिमी फिल्म 70 के दशक में चीन में शिक्षा, प्रचार और दूसरे उद्देश्यों के लिए प्रयोग होती थी। चीन की 35 मिमी फिल्म को 8.75 मिमी की चार पट्टियों में काटा गया। इस साइज के लिए भी प्रोजेक्टर बनाए जा रहे थे। हालांकि चीन के बाहर शायद ही कोई इनका खरीददार हो।

**सुपर डुपर 8 मिमी –** नया 8 मिमी फिल्म प्रारूप अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दिसम्बर 2003 में देखने को मिला स्लीप ऑलवेज, पहली फीचर फिल्म सुपर-डुपर 8 में शूटिंग की गयी और स्पेन के सिटगेस अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में दिखाई गयी और न्यूयार्क में भी।

सुपर डुपर 8 में परम्परागत सुपर 8 फिल्म लगती थी लेकिन ध्वनि मार्ग के लिए आरक्षित जगह का कुछ भाग एक्सपोज करते समय आ ही जाता था। वीडियो टेप में ले जाते समय डुपर 8 हर फ्रेम में 30% अधिक चित्र को अपने दायरे में ले लेती है।

## 3.19 सारांश

मूक फिल्मों का युग 1920 में समाप्त हो चुका था उसी के साथ यानी टॉकी युग के आने से, सबकुछ बदल गया।

दर्शकों की संख्या में, अतीव वृद्धि हुई, लोगो की अभिरुचि में बदलाव आने लगा।

फिल्मों के ट्रीटमेन्ट में बदलाव, एक दिन में नहीं आया।

कहानी के महत्त्व को स्वीकारा जाने लगा। पैसा लगाने वाले सामने आ रहे थे। बैंक धन तो दे रहा था, अधिक धन दे रहा था, लेकिन उसका निरीक्षण, नियंत्रण बढ़ गया।

उधर साहित्यक महत्व की कथा, कहानी, सामने आने लगी। स्टेज को कला समझने वाले और सबसे अधिक गति दी प्रयोगवादी फिल्म बनाने वाले निर्माताओं ने। यद्यपि वह कलात्मक फिल्में बनाते थे, 16 एम0एम0 में फिल्म बनाते थे, उनके पास कहानी होती थी, साहित्यिक अभिरूचि की अनेक कहानियां होती थी यह एक चुनौती के रूप में मुख्यधारा के समाज के सामने प्रश्न चिन्ह था।

यद्यपि व्यवसायिक सिनेमा, मुख्यधारा सिनेमा की अपनी व्यवस्था होती थी, फिल्म आन्दोलन ने उनके अन्दर परिवर्तन की प्रक्रिया उत्पन्न कर दी।

उधर बॉलीवुड की स्टूडियो प्रणाली धीरे-धीरे टूटने लगी और निर्माता, दर्शकों को लुभाने के लिए अनेक प्रयोग करने लगे।

## 3.20 शब्दावली

- प्रयोगवादी फिल्में : यह न तो परम्परागत फीचर फिल्मों की बात करती और न कथानक की। इनका ट्रीटमेन्ट भिन्न होता था।
- फिल्म गेज कैमरा, सहायक सब कुछ गेज के अनुसार होता है। वर्षों के प्रयोग के बाद मानक गेज 16 एम एम, 35 एम एम बनाये गये।
- कहानी प्रधान फिल्में : यह घटनाओं को क्रमबद्ध तरीके से पिरोती हुई चलती थी।
- स्त्री सिनेमा : महिला निर्देशकों द्वारा बनायी गयी फिल्में।
- हॉलीवुड : अमेरिका का फिल्म निर्माण शहर।

## 3.21 संदर्भ ग्रन्थ


- इलेक्ट्रानिक मीडिया और फिल्म प्रोडक्सन : राजकृष्ण मिश्र
- फिल्म एज फिल्म : वी. पी. परकिन्स
- सिनेमा एज आर्ट : जे आर डिबरिश।
- मूवी मुगल्स : फिलिप फ्रेन्च।
- माय आटो बॉयोग्राफी : चार्ल्स चैपलिन।
- माय फेयर लेडी: एलन जे लरनर।
- कनटेमपोरेरी सिनेमा (1945-1963) : पेनीलॉप हाऊस्टन


## 3.22 सम्बन्धित प्रश्न

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. किस दशक में, हॉलीवुड में, बैंकों ने प्रतिबंध लगातार आरम्भ किया था।
2. स्त्रीवाद की द्वितीय लहर कब आई थी।
3. चौड़े पर्दे पर फिल्म गेज 1900 से कौन-कौन है।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रयोगवादी फिल्मों के दौर की कहानी बताइए।

2. स्त्री सिनेमा के सिनेमा उद्योग पर प्रभाव का वर्णन कीजिए।

3. फिल्म गेज के विकास का वर्णन कीजिए।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

(क) बड़े पर्दे की फिल्म गेज का मान किसने बनाया –

(i) एडीसन ने

(ii) ग्रिफिथ ने

(iii) हॉलीवुड मे

(iv) चार्ल्स चैपलिन ने।

(ख) एडिसन ने फिल्म का मानक गेज कब बनाया था–

(i) 1890 में

(ii) 1902 में

(iii) 1870 में

(iv) 1898 में

(ग) स्त्रीवाद की द्वितीय लहर के परिणाम कब दिखायी दिए–

(i) 1957 में

(ii) 1975 में

(iii) 1980 में

(iv) 1950 में।

(घ) अमेरिकी हॉलीवुड सिनेमा का प्रभाव विश्व सिनेमा पर कब से पड़ना शुरू हुआ–

(i) 19 वीं सदी के आरम्भ से

(ii) 20वीं सदी के आरम्भ से

(iii) 1980 से

(iv) 1890 से।

**उत्तर -**

(क) (i) (ख) (ii) (ग) (iii) (घ) (ii)

# इकाई -4 और 5 (संयुक्त) फिल्म फोटोग्राफी

## इकाई की रूपरेखा


4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 कैसे होती है, फिल्म की फोटोग्राफी

4.3 फोटोग्राफी के उपकरण

4.4 फिल्म फोटोग्राफी फिल्मांकन के लिए प्रकाश व्यवस्था

4.5 फिल्म फोटोग्राफी के विविध स्वरूप

4.6 इनडोर शूटिंग में रोशनी की व्यवस्था

4.7 डे फॉर नाइट शूटिंग

4.8 कैमरामैन की समस्याएं

4.9 फोटोग्राफी के विविध पहलू

4.10 शूटिंग में लाइटिंग की प्रक्रिया

4.11 लाइटिंग की अलग-अलग प्रक्रिया

4.12 लाइटिंग के कुछ अन्य पहलू

4.13 कैमरे की बनावट

4.14 सारांश

4.15 शब्दावली

4.16 संदर्भ ग्रन्थ

4.17 प्रश्नावली


## 4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे :—

- छायांकन क्या होता है?
- कैमरा किसे कहते हैं?
- कैसे-कैसे होते हैं शॉट ?

- शॉट के क्षेत्र या फील्ड की जानकारी मिल सकेगी?
- छायांकन में क्या सावधानी बरतनी चाहिए?
- फिल्मी फोटोग्राफी के विभिन्न स्वरूप के बारे में।

## 4.1 प्रस्तावना

19वीं शताब्दी में मूक फिल्मों के पश्चात् टॉकी के प्रार्दुभाव के पश्चात् लोगों की रूचि सिनेमा में बढ़ने लगी। उधर राष्ट्रीय स्वतंत्रता के साथ सामाजिक फिल्मों की धूम मच गयी। नए प्रयोग किए जाने लगे। आरम्भ से छायाकार को महत्व दिया जाता था। ऐसा इसलिए था क्योंकि छायाकार की असफलता, सम्पूर्ण शूटिंग की असफलता एवं धन की हानि हुआ करता था। मूक फिल्मों के समय में लम्बे शॉट, कैमरा वर्क का अभाव खलता था। कैमरा, एक स्थान पर रखकर शूटिंग इसलिए की जाती थी, क्योंकि कैमरे का वजन, इतना अधिक होता था कि उसे एक स्थान से उठाकर, सेट की दूसरी तरफ ले जाने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। लेकिन टॉकी के आने से फिल्म की गुणवत्ता में सुधार हुआ, लेकिन आधुनिक फिल्म निर्माण में अभी देर थी। टॉकी आने से भी बहुत फर्क नहीं पड़ा। संवाद, संगीत, आवाजें शूटिंग के समय ही फिल्म पट्टी पर भरी जाती थीं। अभिनेता, स्वयं ही गीत गाते थे और पिक्चर के साथ, आवाज भी अंकित हो जाया करती थी, तब डबिंग नहीं होती थी। गीत, संगीत बाद में नहीं डाला जा सकता था और कैमरा एंगिल भी कहाँ होते थे। आज भारतीय फिल्म उद्योग विश्वस्तर का लेखा है। गीत-संगीत का उद्योग, करोड़ों रुपए सिमटा रखा है। कैमरा की तकनीक में, जमीन- आसमान का अंतर आ गया है और ध्वनि अंकन तथा डबिंग उच्च कोटि का है।

## 4.2 कैसे होती है फिल्म की फोटोग्राफी

फिल्म-दिग्दर्शक अगर फिल्मी जहाज का कप्तान है, तो फोटोग्राफर फिल्म का नाविक है। दिग्दर्शक के बाद फिल्म में अगर सबसे अधिक योगदान किसी का रहता है, तो वह होता है फोटोग्राफर।

फोटोग्राफी की कला को सीखने में लोगों को वर्षों लग जाते हैं। उसके बाद भी फिल्म जगत में स्वतंत्र रूप से फोटोग्राफी करने का अवसर मिलेगा अथवा नहीं

यह नहीं कहा जा सकता हैं। उसके बाद फोटोग्राफी का यदि उसे अवसर मिल भी गया तो वह एक अच्छा फोटोग्राफर साबित होगा ही, यह भी नहीं कहा जा सकता। फोटोग्राफी सीखने के लिए कई तरीके मुख्य रूप से हैं :-

पहला तो किसी भी अच्छे फोटोग्राफर के साथ उसके सहायक के रूप में काम करके धीरे-धीरे काम सीख कर तीसरे से दूसरा व दूसरे से पहला सहायक बना जा सकता है। इसके बाद भी स्वतंत्र रूप से फोटोग्राफी करने के लिए काफी पापड़ बेलने पड़ते हैं। कभी तो फिल्म के हीरो का मस्का लगाना पड़ता है, तो कभी हीरोइन की बिना बात ही खुशामद करनी पड़ती है। फिल्म यूनिट के अन्य लोगों की खुशी का भी ध्यान रखना होता है, क्योंकि सभी चाहते हैं कि फिल्म में उसका चेहरा-मोहरा खूबसूरत व प्रभावशाली नजर आए। इसके अलावा फोटोग्राफी करने वाला निर्माता का विश्वास पात्र भी चाहिए। अगर निर्माता को आप पर पूरा भरोसा नहीं है तो वह आपसे फोटोग्राफी का काम कदापि नहीं करवाएगा। मगर फोटोग्राफर बन कर चल निकलने के बाद भी संघर्ष का अन्त नहीं हो जाता। अगर आप फोटोग्राफी में चमक निकले तो बराबर काम मिलता रहेगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो दुबारा फोटोग्राफर की सहायक वाली पोस्ट भी शायद ही मिल पाए क्योंकि एक बार फोटोग्राफर बनने के बाद कोई भी दूसरा फोटोग्राफर आपको अपने साथ नहीं रखना चाहेगा। इसके लिए पूरी सूझ-बूझ और क्षमता से कार्य सीखना व करना ही फोटोग्राफर के लिए उचित रहेगा।

दूसरे तरीके के लिए आपको फिल्म इंस्टीट्यूट ऑफ पूना में फोटोग्राफी के लिए प्रवेश लेना होगा, जहाँ पर आपको निर्माण तथा फिल्मी फोटोग्राफी की विभिन्न विधाओं का व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाएगा। पूना फिल्म संस्थान में चूंकि प्रवेशार्थी वर्ग के लिए स्थान सीमित हैं, इसलिए वहाँ पर प्रशिक्षण के लिए प्रवेश पाना सौभाग्य की ही बात समझी जा सकती है। इसके अतिरिक्त न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता भी आवश्यक होती है। पूना से प्रशिक्षण प्राप्त होने के बाद भी आपको फिल्म लाइन में आते ही फोटोग्राफी का काम नहीं मिल जाएगा। आपको कई सारी प्रक्रियाएं समझनी और करनी पड़ेगी। किसी फोटोग्राफर के साथ काम करके फोटोग्राफी सीखने के दौरान होने वाले संघर्ष से गुजरना पड़ेगा। आपको किसी भी अच्छे फोटोग्राफर के सहायक के रूप में काम भी करना पड़ेगा। धीरे-धीरे काम में सफाई लाकर, सूझ-बूझ और जोड़-तोड़ बिठाकर फोटोग्राफर का काम शीघ्र ही मिल

जाए, अन्यथा किसी फोटोग्राफर के सहायक बने रहकर ही जिन्दगी भर फिल्मी दुनिया में पापड़ बेलने पड़ सकते हैं।

**फोटोग्राफर के सहकर्मी :** फिल्म-फोटोग्राफी के काम को ठीक तरह से पूरा करने के लिए फोटोग्राफर के अलावा उनकी यूनिट में निम्न सहायता कार्य करने वाले भी होते हैं :—

1 मुख्य सहायक 2. ऑपरेटिव कैमरामैन 3. फोकस असिस्टेन्ट 4. दो सहायक (प्रशिक्षणार्थी किस्म के) 5. लाइट मैन

**ऑपरेटिव कैमरामैन –** जिस किसी फिल्म में फोटोग्राफर का टाइटल 'डायरेक्टर ऑफ फोटोग्राफी' आता है, वहाँ पर ऑपरेटिव कैमरामैन जरूर होता है। जब कभी कोई अच्छा फोटोग्राफर भी उम्र की अथवा स्वास्थ्य की वजह से कैमरा ऑपरेट करने की पूरी-पूरी क्षमता नहीं रखता है, तब उसको ऑपरेटिव कैमरामैन रखना पड़ता है। कभी-कभी बहुत बड़े फोटोग्राफर जैसे फली मिस्त्री, जाल मिस्त्री, केकी बाबा आदि भी ऑपरेटिव कैमरामैन रख लेते थे ऑपरेटिव कैमरामैन का काम होता है फोटोग्राफर के बतलाए हुए कैमरा आपरेशन कार्य को अंजाम देना। डायरेक्टर ऑफ फोटोग्राफी कैमरा मूवमेन्ट तय करता है। लाइटिंग की उचित व्यवस्था भी करता है। फोटोग्राफी से सम्बन्धित अन्य स्थितियों को लेकर वह सारी व्यवस्था तय करता है। ऑपरेटिव कैमरामैन का काम निर्देशानुसार कैमरा ऑपरेट करना है। अगर कैमरा आपरेशन में कोई कठिनाई आती है तो डायरेक्टर ऑफ फोटोग्राफी को पूछे बगैर कोई भी मूवमेंट अरेंज कर सकता है। मूल रूप में सिद्धान्तः यही स्थिति है, मगर दोनों में पटरी बैठती रहती है तो ऑपरेटिव कैमरामैन को छोड़ी-सी आजादी भी मिल जाती है। आम तौर पर कैमरामैन ही कैमरा ऑपरेट करते हैं।

**मुख्य सहायक ( चीफ असिस्टेन्ट ) :** चीफ असिस्टेन्ट का काम डायरेक्टर ऑफ फोटोग्राफी के साथ रह कर हर काम में मदद करना है। खास तौर पर शॉट की लाइटिंग में उसका योगदान रहता है। फोटोग्राफर की अनुपस्थिति में उसकी आज्ञा से कभी-कभी मुख्य सहायक फिल्म की फोटोग्राफी कर लेता है। कभी फोटोग्राफर के कहने पर भी उसके निर्देशों के अनुरूप शॉट ले लेता है। इसके अतिरिक्त पूरी यूनिट के कार्यों की निगरानी रखना यूनिट के सदस्यों को अनुशासित

बनाए रखना, फिल्म निर्देशक के निर्दिष्ट निर्देशों का पालन करवाना, यूनिट के कार्य के लिए सामान्य की व्यवस्था करवाना आदि काम भी इसी के जिम्मे रहते हैं।

**फोकस असिस्टेन्टः** फोकस असिस्टेन्ट का काम कैमरे के बाजू में खड़े रहकर जब कैमरा आगे-पीछे मूवमेन्ट कर रहा हो, तब कलाकारों के और कैमरे के बीच की दूरी को ध्यान में रखते हुए कैमरे के फोकस को दुरूस्त करते रहना, जब भी कोई कलाकार मूवमेन्ट करता है, उस पर भी फोकस जरूरत के अनुरूप बनाए रखना इसी सहायक का काम है।

**अन्य सहकर्मी :** फोटोग्राफर के दो और सहकर्मी भी होते हैं। अक्सर ये प्रशिक्षणार्थी फोटोग्राफर होते हैं। ये काम भी सीखते रहते हैं और फोटोग्राफर के छोटे-बड़े काम भी निपटाते रहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि निर्माता फोटोग्राफर को दो-तीन सहायक दे ही। कभी-कभी फोटोग्राफर को दो सहायकों यानी 'चीफ असिस्टेंट' या फोकसमैन' से ही काम लेना पड़ता है। जब फोटोग्राफर खुद कैमरा ऑपरेट करता है तो ऑपरेटिव कैमरा मैन की जरूरत नहीं रहती।

आमतौर पर कैमरा बाहर से किराए पर ही लिया जाता है। इस कैमरे के साथ एक सहायक भी आता है, जो फोटोग्राफर स्टेज पर कैमरा फिक्स करता रहता है। कैमरा लोड भी करता है और जिस तरह से लेंस की दरकार हो, वह भी कैमरे में लगाता है। इसके साथ ही मोटरें भी कैमरा चलाने के लिए इसी के पास रहती हैं और जैसे निर्देशक और फोटोग्राफर की जरूरत हो वैसी ही मोटर लगा देता है। जरूरत पड़ने पर यह सहायक फोकस भी कर देता है। मगर इसके लिए उसको अलग से रूपए अथवा अधिक पहले से तय पारिश्रमिक देना पड़ता है।

**लाइटमैन :** लाइटमैन रोशनी की जरूरत के अनुरूप व्यवस्था तथा रख-रखाव के लिए लाइटों के साथ ही आते हैं। इनका काम होता है फोटोग्राफर के हिसाब से जहाँ पर लाइट रखनी हो वहाँ पर लाइट रखना। उसे चलाने का, उसे तेज या धीरे रखने का, नेट लगाने आदि का काम निर्देश के अनुरूप करते रहते हैं। ये दैनिक वेतन पर आते हैं। इनको निर्माता अपनी तरफ से रख सकता है, मगर ऐसा करने के लिए उसे फोटोग्राफर से सलाह करनी जरूरी होती है।

## 4.3 फोटोग्राफी के उपकरण

फोटोग्राफर के साधनों में तीसरी महत्वपूर्ण वस्तु स्टूल होती है। ये स्टूल

विभिन्न ऊंचाईयों के होते हैं। आधा फीट से लेकर पांच फीट तक की ऊंचाई के ये स्टूल होते हैं। ये स्टूल कैमरे को ऊंचाई देने के लिए काम में आते हैं। कैमरा स्थल से कितना ऊँचा रहेगा यह बात निर्देशक के शॉट बतलाने के बाद कैमरामैन तय करवाएगा।

इसके अलावा एक स्टूल और भी होता है, जिस पर कैमरामैन बैठता है। परिपाटी यह है कि इस स्टूल पर अन्य आदमी नहीं बैठ सकता।

### 4.3.1 कैमरे की गति के उपकरण-

कैमरे को गति देने के लिए कुछ अन्य उपकरण होते हैं-ट्राली, डॉली, क्रेन, राउण्ड ट्राली, अर्ध चन्द्राकार ट्राली, आदि। अच्छी फोटोग्राफी के लिए इनका होना ही नहीं बल्कि ठीक-ठाक हालत में होना आवश्यक है।

ट्राली लगभग आधा फुट ऊँचाई का एक प्लेटफार्म होता है। इस प्लेटफार्म के नीचे चार पहिये लगे रहते हैं। एक हत्था होता है, जिसे पकड़ कर ट्राली चलाने वाले उनको आगे-पीछे कर सकते हैं। यह ट्राली एक रेल की बनी दो पटरियों पर रखी जाती है, ताकि उसे धीमी तथा तेज जैसी जरूरत हो दौड़ाया जा सके। ये रेल पटरियाँ हिले नहीं और दोनों तरफ की दूरी एक जैसी रहे, इसके लिए उनके बीच में लकड़ी के पटिये लगा दिए जाते हैं। इस ट्राली के ऊपर कैमरा रखा जाता है और उसके पीछे कैमरामैन बैठा या खड़ा रहता है। आगे की ओर ट्राली पर ही फोकसमैन रहता है। इस ट्राली का एक रूप होता है-गोलाकार, जिसे राउण्ड ट्राली या गोलाकार ट्राली कहते हैं और वास्तव में यह वर्तुलाकार होती है, जिस पर ट्राली रखी जाती है। इस पर रखा गया कैमरा 360 डिग्री का वृत्त बनाकर घूम जाता है। इस व्यवस्था में कैमरा ट्राली पर भी रखा जा सकता है और केन्द्र (सेन्टर) में भी। कैमरा जब ट्राली के मध्य रखा हुआ होगा ट्राली पर पात्र का फिगर रहेगा। अगर कैमरा रेल पर है तब पात्र ट्राली के दायरे के भीतर रहेगा। इसी ट्राली का जब आधा भाग काम में लिया जाता है तो उसे अर्द्ध चक्राकार ट्राली (हॉफ राउण्ड ट्राली) कहते हैं। इन ट्राली शॉटों में दुहरीगति (डबल मूवमेन्ट) देने के लिए ट्राली के साथ जूम भी लगाया जा सकता है।

### 4.3.2 क्रेन -

एक प्लेटफार्म पर एक लम्बा आर्म लगा रहता है। इस आर्म के ऊपर एक

दूसरा प्लेटफार्म बना दिया जाता है। इस प्लेटफार्म पर कैमरा रखा जाता है व कैमरामैन खड़ा रहता है। उस ट्राली में कैमरे के सारे के सारे मूवमेन्ट एक साथ हो सकते हैं। कैमरा ऊपर  से नीचे या नीचे से ऊपर जा सकता है तथा उसके साथ क्रेन को आगे-पीछे भी कर सकते हैं। क्रेन शॉट में लॉंग शॉट से क्लोज अप तक भी लिए जा सकते हैं, मगर क्रेन लगाने में समय अधिक लगता है। इसलिए निर्माता व निर्देशक जहाँ तक हो सके क्रेन का प्रयोग बहुत अधिक आवश्यकता होने पर ही कर सकते हैं। इसकी छोटी बहिन डॉली है, जिसे हॉफ क्रेन भी कहते हैं। इसमें भी वही सब शॉट लिए जा सकते हैं, जो कि क्रेन के जरिए लिये जा सकते हैं, जो कि क्रेन के जरिए लिए जा सकते हैं, मगर इसकी ऊंचाई क्रेन के मुकाबले बहुत कम होती हैं। क्रेन-शॉट लेने में बहुत अधिक सावधानी बरतनी पड़ती है। कारण यह है कि चलाते वक्त चलाने वाले की तथा कैमरामैन की थोड़ी-सी भूल से किसी की भी जान के लिए खतरा पैदा हो सकता है। कुछ साल पहले फिल्म जगत में एक ऐसी दुर्घटना हो चुकी है, इसमें एक कैमरामैन अपनी पहली स्वतन्त्र फिल्म की शूटिंग करते वक्त क्रेन के ऊपर से गिरकर अपनी जान गंवा बैठा था।

### 4.3.3 क्लैम्प -

शूटिंग के वक्त जहाँ पर ट्राली काम नहीं आ सकती हो और फिर भी आपको लगातार कैमरे को कलाकार के साथ ही चलाना है तो या तो कैमरा हाथ में लेकर या क्लैम्प लगाकर शूटिंग करनी पड़ती है। जैसे एक कलाकार सीढ़ियाँ चढ़ रहा है या सीड़ियाँ उतर रहा है तो ट्राली तो लगाई ही नहीं जा सकेगी। ऐसी सूरत में कैमरामैन या तो कैमरा हाथ में लेकर कलाकार के पीछे - पीछे चलेगा या कलाकार के साथ-साथ चलेगा। इस व्यवस्था में कैमरा हाथ में लेकर चलने में कैमरे के हिलने का खतरा बराबर बना रहता है। इससे शॉर्ट खराब हो सकता है। इससे बचने के लिए क्लैम्प को ईजाद किया गया। क्लैम्प को कंधे तथा पेट पर बांध दिया जाता है और कैमरे को उस क्लैम्प के साथ बांध दिया जाता है।

कैमरामैन के लिए कुछ अन्य आवश्यक उपकरणों में एक फीता, एक मीटर, चाक के टुकड़े आदि भी होते हैं।

### 4.3.4 फीता -

कलाकारों और कैमरे के बीच की दूरी नापने के लिए काम में आता है,

जिससे कैमरे का फोकस मिलाया जा सके।

### 4.3.5 चाक के टुकड़े -

कलाकारों की पोजीशन मार्क करने के लिए काम में आते हैं। जब चाक का टुकड़ा नहीं हो, तब पोजीशन मार्क करने के लिए किसी भी चीज का उपयोग किया जा सकता है।

### 4.3.6 मीटर -

लाइटें रोशन होने के बाद उनका टैम्प्रेचर मापने के लिए काम आता है। मीटर कम या ज्यादा रोशनी बतलाता है, तो कैमरामैन उसे ठीक करवाता है। श्वेत-श्याम के जमाने में भी कैमरामैन मीटर रखते थे, मगर उनका उपयोग कभी-कभी ही किया जाता था। अनुभवी कैमरामैन तो आँख से देखकर ही रोशनी की स्थिति तय कर देते हैं कि लाइट सही है अथवा कम-ज्यादा है, मगर रंगीन फिल्मों के आने से अधिकांश कैमरामैन सही-सही टेम्प्रेचर का निर्णय करने के लिए मीटर लेकर घूमते हैं।

### 4.3.7 जिलेटिन पेपर -

इसका प्रयोग दृश्यों को खास इफेक्ट देने के लिए किया जाता है जैसे किसी कलाकार के क्लोजअप को आग का इफेक्ट देना है तो लाइट पर लाल जिलेटिन लगाकर उसकी लाल रोशनी कलाकार के चेहरे पर डाली जाती है। जिलेटिन कई रंगों के उपलब्ध रहते हैं। इनमें लाल, पीला, हरा, आसमानी मुख्य हैं। जिन शॉटों में भी आपको लाल, हरा या अन्य रंगों का प्रभाव दिखाई पड़े समझ लीजिए, उन दृश्यों में विभिन्न रंगों के जिलेटिनों का उपयोग किया गया है।

इन उपकरणों के अलावा कैमरामैन के पास कुछ उपकरण भी होते हैं। इन उपकरणों में लाइट कटर, नेट आदि मुख्य होते हैं।

### 4.3.8 लाइट कटर-

लम्बे-लम्बे स्टैण्डों पर ये लगाए जाते हैं और अवांछनीय लाइट को काटने के काम में आते हैं। कभी-कभी लाइटमैन या असिस्टेन्ट कैमरामैन शॉट के वक्त कटरों को हाथ में पकड़कर भी खड़े हो जाते हैं। यह कटर आमतौर पर पतली लकड़ी के ठप्पों से बनाए जाते हैं और विभिन्न साइजों में उपलब्ध हो जाते हैं।

लाइट को कठोर (हार्ड) या सॉफ्ट (नर्म) करने के लिए 'नेट' का प्रयोग किया जाता है जो लाइट के ग्लास कवर (कांच के ढक्कन) के ऊपर लगाया जाता है। यह नेट एक, दो या तीन की संख्या में लगाई जाती है। इनकी साइज लाइटों की साइज के हिसाब से रहती हैं और वृत्ताकार लोहे के तारों पर नेट का कपड़ा लगाकर बनाया जाता है। यह नेट मलमल या किसी अन्य महीन वस्त्र का हो सकता है। इसके अतिरिक्त आउटडोर में शूटिंग करने के लिए अलग-अलग साइजों के रिफ्लेक्टर और बाउन्सर भी होते हैं।

### 4.3.9 रिफ्लेक्टर-

सिल्वर या गोल्डन रंग के होते हैं। लोहे के एक बड़े से फ्रेम में प्लाईवुड का टुकड़ा लगाकर इसको बढ़ाया जाता है। इन प्लाईवुड के टुकड़ों पर चाँदी रंग व सुनहरी रंग के कागज चिपका दिए जाते हैं। इन रिफ्लेक्टरों का प्रयोग आउटडोर में किया जाता है और सूर्य की रोशनी इन रिफ्लेक्टरों पर लेकर कलाकारों पर रिफ्लेक्ट की जाती है।

### 4.3.10 बाउन्सर -

सतही सफेद रंग के रिफ्लेक्टर ही बाउन्सर कहलाते हैं। इनका प्रयोग कैमरामैन लाइट बाउन्स करने के लिए करते हैं। जहाँ पर सूर्य की रोशनी नहीं मिलती है, वहाँ पर लाइटें लगाकर उनकी रोशनी बाउन्सों पर डालकर उसे कलाकारों पर रिफ्लेक्ट करवाई जाती है। इनडोर में भी जब कभी कलाकारों पर सॉफ्ट रोशनी डालनी होती है, तब भी बाउन्सरों का उपयोग किया जाता है।

### 4.3.11 स्पेशल इफेक्ट

फिल्मों के लिए फोटोग्राफी करने के दो पहलू हैं-एक तो 'सामान्य फोटोग्राफी' और दूसरी 'स्पेशल इफेक्ट फोटोग्राफी'। इसे फिल्म जगत में ट्रिक फोटोग्राफी भी कहते हैं। जैसै किसी पात्र का खड़े-खड़े गायब हो जाना अथवा एक ही पात्र को फिल्म में दो भूमिकाएं करवाना। यह सब स्पेशल इफेक्ट से ही संभव है। इसके विपरीत सामान्य फोटोग्राफी में किसी तरह की कोई ट्रिक का प्रयोग नहीं होता।

### 4.3.12 उपकरण -

फोटोग्राफी के लिए सबसे आवश्यक चीज तो कैमरा हैं, लेकिन उसके साथ

ही कुछ अन्य उपकरण भी आवश्यक हैं। यथा लेन्स, लाइटें, ट्राली, डॉली, क्रेन, छोटे-बड़े कई साइजों के स्टूल जो आधे फुट से लेकर 5 फीट तक के हों, मीटर, चाक के टुकड़े, फीता या टेप, कच्ची फिल्म, फिल्टर, रंगीन जिलेटिन पेपर आदि।

### 4.3.13 लेन्स की किस्में

लेन्स, जो फिल्मांकन के लिए काम में आते हैं, चार तरह के होते हैं। यथा- व्हाइट ऐंगल लेन्स, क्लोज अप लेन्स, नार्मल लेन्स तथा टेलीफोटो लेन्स।

### 4.3.14 व्हाइट ऐंगल लेन्स :

इसमें एक 9.8 एम.एम. का लेन्स होता है, इसको ''फिश आई लेन्स'' भी कहा जाता है। दूसरा 18 एम.एम. का, तीसरा 25 एम.एम. तथा एक 35 एम.एम. का भी होता है, पर इसको व्हाइट ऐंगल में काम में नहीं लाया जाता है।

### 4.3.15 क्लोज अप लेन्स

अमूमन 75 एम.एम., 90 एम. एम. तथा 100 एम.एम. के होते हैं।

### 4.3.16 नार्मल लेन्स :

40 व 50 एम.एम. के लेन्स नार्मल लेन्स माने जाते हैं। कैमरे के साथ ये लेन्स तो आऐंगे ही। बाकी लेन्सों में अधिकांश आपको अलग से उनका किराया देकर लाने पड़ते हैं।

### 4.3.17 जूम लेन्स :

इसके अलावा एक 'जूम लेन्स' होता है, जिसके माध्यम से क्लोजअप से शॉट लिये जा सकते हैं। कैमरामैन एक बार जब कैमरे में जूम लैन्स लगा लेता है तब उसकी पूरी कोशिश यही रहती है कि वह लेन्स नहीं उतारना पड़े और उसी से सारी शूटिंग हो जाए। इस लेन्स को आगे से पीछे और पीछे से आगे किया जा सकता है। आहिस्ता-अहिस्ता भी और तेज गति से भी।

### 4.3.18 प्रिज्म लेन्स :

आपने फिल्मों में तीन-तीन बार, चार-चार और कभी छह-छह फिगर एक ही चित्र के देखे होंगे। इन्हीं पात्रों के कई फिगर गोल-गोल चक्कर काटते हुए भी देखे होंगे। ऐसी शूटिंग करने के लिए अलग से लेन्सों का एक सेट आता है। इसे

''प्रिज्म लेन्स'' कहते हैं। इस लेन्स का सेट भी आपको किराए से व्यवस्था करके ही लाना होता है।

### 4.3.19 : फिल्टर

पिछले कुछ सालों से कुछ विशेष फिल्टर आने लगे हैं। इनको लगाने से फिल्म में तारे, इन्द्र धनुष आदि दिखाई देने लगते हैं। आजकल फिल्मों में खास कर डिस्कों डान्सों में इन विशेष किस्म के फिल्टरों का उपयोग किया जाने लगा है। वैसे शूटिंग के दौरान खास करके क्लोज अप में सामान्य फिल्टरों का प्रयोग तो किया ही जाता है। इन फिल्टरों के प्रयोग से पात्र का चेहरा स्मूथ नजर आता है और एकदम ऐसा लगता है जैसे 'मास्क' लगाया गया हो।

### 4.3.20 : टेलीफोटो लेन्स

एक और लेन्स टेलीफोटो लेन्स होता है। आम तौर पर यह बहुत काम आता है। टेलीफोटो लेन्स उस लेन्स को कहते हैं, जिसकी ''एक्स्ट्रीम लाँग'' (क्षितिज) पर खड़े या चले आ रहे किसी भी पात्र के फिगर का क्लोज शॉट लेने के लिए उपयोग किया जाता है। यह लेन्स लम्बाई में बहुत कम उपलब्ध है। यह काम में भी बहुत कम आता है, मगर जब कोई खतरनाक दृश्य बखूबी फिल्माना हो जैसे आग, विस्फोट आदि के दृश्य तब इस लेन्स की जरूरत पड़ सकती है। खतरनाक जंगली जानवरों के शॉट हों तो भी इसकी जरूरत पड़ सकती है। डाक्यूमेन्टरी फिल्में बनाने वाले निर्देशक लोग इसका उपयोग अधिकतर करते हैं।

### 4.3.21 हाई क्वालिटी जूम लेन्स :

जब शूटिंग के वक्त लाँग से क्लोज जाना हो या क्लोज से लाँग जाना हो, तब इस लेन्स का प्रयोग किया जाता है। आम तौर पर इस किस्म के लेन्स 300 या 350 एम.एम. की क्षमता के होते हैं और उसके साथ एडॉप्टर लगाकर इनकी क्षमता 500 एम.एम. तक बढ़ाई जा सकती है।

### 4.3.22 लेन्सों का प्रयोग

9.8 एम.एम. का लेन्स बहुत कम प्रयोग में लिया जाता है। कारण यह है कि इसकी परिधि में क्षेत्र (फील्ड) लगभग पूर्व गोलाकार होता है। साथ ही साथ विकृति (डिस्टीशन) भी बहुत अधिक आती है। लाँग शॉट में दूर खड़ी हुई फिगर

(आकृति) बहुत छोटी नजर आएगी, लेकिन कभी-कभी आउटडोर में विस्तृत क्षेत्र दिखलाने के लिए भी इसकी जरूरत पड़ जाती है।

### 4.3.23 : 18 एम एम

18 एम.एम. का नम्बर वाइट ऐंगल में 'फिश आई' के बाद आता है। जब फिश आई लेन्स नहीं आता था, तब वाइट ऐंगल के लिए उससे बड़ा लेन्स यही माना जाता था। वाइट ऐंगल लेन्स के मुकाबले में इस लेन्स का क्षेत्र लगभग आधा रह जाता है, लेकिन इसमें भी फिश आई की तरह पेनिंग नहीं किया जा सकता, क्योंकि 18 एम.एम. लेन्स में पेनिंग करने से विकृति की मात्रा काफी रहती है। लेकिन सेट की भव्यता दिखाने के लिए या आउटडोर में प्राकृतिक छटा दिखाने के लिए या जहाँ भीड़-भाड़ काफी हो उसे दिखलाने के लिए इस लेन्स का प्रयोग होता है।

### 4.3.24 : 25 एम एम

इसके बाद 25 एम.एम. के लेन्स का प्रयोग भी वाइट ऐंगल लेन्स के तौर पर उसी वक्त किया जाता है जब सेट की भव्यता आदि दिखानी हो।

### 4.3.25 क्लोज अप लेन्स :

जब मिड क्लोज में शॉट लिया जा रहा हो तब 75 एम.एम. का लेन्स प्रयोग में लिया जाता है। जब क्लोज अप इससे बड़ा लेना तो तब 90 एम.एम. का लेन्स प्रयोग में लिया जाता है। लेकिन जब पूरे पर्दे पर आपको पात्र का सिर्फ चेहरा ही दिखाना हो या चेहरे का कोई खास भाग जैसे आँख, नाक, कान या ऐसा ही बहुत ही क्लोज का शॉट हो, तब 100 एम.एम. का लेन्स काम में लेना पड़ेगा। हीरोइन के फड़फड़ाते हुए होठों, आँखों की चितवन, इशारे आदि के दृश्यों के लिए यही लेन्स काम में लेना पड़ेगा।

### 4.3.26 विशेष प्रकार के लेन्स

मशहूर फिल्म निर्देशक अल्फ्रेड हिचकॉक ने एक फिल्म बनाई थी। इसमें उसने कान का एक क्लोज शॉट बहुत ही अच्छा लिया था। उस शॉट को लेने के लिए उसने 300 एम.एम. का एक लेन्स खास तौर पर बनवाया था। इसी तरह फिल्म 'साइको' में भी प्रारम्भिक प्रसंग (ओपनिंग सिक्वेन्स) में एक लड़की के मरने

के दृश्य में मृतक की आँख (डेड आई) को फिल्माने के लिए भी एक विशेष क्लोज अप लेन्स बनवाया था। इसके अलावा और जितने भी तरह के शॉट होते हैं उसे नार्मल लेन्स लगाकर ही ले लिया जाता है।

## 4.4 फिल्मांकन के लिए प्रकाश व्यवस्था

### 4.4.1 लाइटिंग

बिना उचित रोशनी के फिल्मांकन के लिए कैमरामैन का काम नहीं चल पाता है। अंधेरे में शूटिंग करना संभव नहीं है। हर शॉट के लिए उसके मुताबिक कुछ सन्तोषजनक या सुविधाजनक प्रयास की जरूरत होती है। अगर शॉट अधिक रोशन (ओवर लाइटेड) या न्यून रोशन (अण्डर लाइटेड) है, तो वह खराब हो जाएगा। फिल्मों के निर्माण के युग में रोशनी की व्यवस्था कलात्मक और कठिन होती थी। उसमें समय भी काफी अधिक लगता था। आजकल रंगीन फिल्मों का जमाना आ गया है। लाइटिंग उतनी कठिन नहीं होती। लाइटिंग करने के बाद मीटर से तापमान (टेम्प्रेचर) नाप लिया जाता है। अगर तापमान सही-सही आ रहा है तो फिल्म का निगेटिव सही ढंग से एक्सपोज हो जाएगा।

### 4.4.2 किस्में :

छोटी-बड़ी कई किस्म की लाइटें होती हैं। उनमें बेबी लाइट से लेकर आर्क लैंप तक कई तरह की विभिन्न केण्डल पावर की होती हैं। सब से कम क्षमता की लाइट बेबी लाइट कहलाती है। यह फेस लाइट के काम आती है। इसी तरह सबसे अधिक पावर की लाइट 10 के. डब्ल्यू. (दस हजार किलोवाट क्षमता की) होती है। इन दोनों के बीच में विभिन्न लाइटों में मुख्यतः ये लाइटें काम आती हैं।

### 4.4.3 :

100 वाट, 250 वाट, 500 वाट, (इसे 'सोलर' भी कहते हैं), 2000 वाट, 5000 वाट (इसको पंजा भी कहते हैं) तथा 10,000 वाट (यह 'सूट' भी कहलाती है।)

### 4.4.4 :

10 के वी अर्थात दस हजार किलोवाट की क्षमता का एक आर्क लैम्प भी होता है। यह लैम्प तेल से जलाया जाता है। इसकी रोशनी थोड़ी-सी नीली लौ लगी

होती है। पुराने समय में आर्क लैम्प की बहुत माँग रहती थी। फिल्म उन दिनों उतनी संवेदनशील (सेन्सिटिव) नहीं होती थी जितनी आजकल की फिल्में होती है। आजकल जब निगेटिव बहुत अधिक संवेदनशील आने लगा है तब से आर्क-लैम्प का प्रयोग बहुत ही कम रह गया है। मगर 5 के डब्यू. (पाँच हजार वाट), दस के डब्लू. (दस हजार वाट) की लाइटों का उपयोग आजकल भी स्टूडियो तथा इन-डोर शूटिंग में ही नहीं, आउट-डोर शूटिंग के दौरान भी होता है। खासतौर पर जब फिल्म के लिए सेट बहुत बड़े हों, तब इन लाइटों का उपयोग बैक ग्राउण्ड लाइटिंग में किया जाता है। एक 10 के.डब्लू. की लाइट सेट के बहुत बड़े हिस्से को रोशन कर देती है। जनरल लाइटिंग व्यवस्था के लिए पांच हजार या ढाई हजार वाट की लाइटों का प्रयोग किया जाता है। लाँग शॉट में भी इन लाइटों का उपयोग होता है। मिड लाँग शॉट, मिड क्लोज अप शॉट और क्लोजअप में इन भारी-भरकम लाइटों की जरूरत नहीं पड़ती है। छोटी लाइटों तथा सोलर, 500 वाट, 250 वाट आदि की लाइटों से ही इनका काम चल जाता है। मगर बैक ग्राउण्ड लाइटिंग के लिए तो अधिक पावर की लाइट चाहिए ही।

---

**4.4.5**

---

आउट-डोर में भी कई फोटोग्राफर सेट में सूरज की रोशनी और छाँह की रोशनी को मैच करवाने के लिए दस के डब्लू. अथवा आर्क लैम्प की जरूरत महसूस करते हैं। अधिकांश निर्माता और निर्देशक आउट-डोर में लाइटें ले जाने में दिलचस्पी नहीं लेते हैं, क्योंकि ये लाइटें खुद ही काफी भारी-भरकम होती हैं। इसके अलावा इनके रख-रखाव और सुरक्षा की भी बड़ी जिम्मेदारी होती है। लाइटों के साथ जनरेटर को भी ले जाना पड़ता है। अगर कहीं बड़ी लाइटों का बल्ब गलती से फट गया या फ्यूज हो गया तो पैसे भी देने पड़ते हैं। यह कीमत तो इन-डोर शूटिंग में या स्टूडियो में भी बल्ब फ्यूज होने अथवा फूट जाने पर चुकानी पड़ती है, मगर मजबूरी में जब मकानों या पुराने महलों, किलों, मकानों आदि में शूटिंग करनी होती है तो रोशनी के लिए लाइटें ले जानी ही पड़ती हैं। इनको जलाने के लिए जब लाइट कम शक्ति की हो तब इन्हें घरेलू बिजली से भी जलाया जा सकता है, मगर जब लाइटें अधिक वाट वाले बल्वों की जलानी होती है, तब घरेलू बिजली से वे नहीं जलाई जा सकतीं। स्थानीय बिजली घर से अथवा अलग से कनेक्शन लेकर अधिक पावर का मीटर लगाना ही होता है। यदि यह व्यवस्था नहीं हो पाई

तो जनरेटर ले जाना पड़ेगा।

**4.4.6 :**

इन कठिनाइयों को समाप्त करने के लिए वैज्ञानिकों ने नए किस्म की छोटी-छोटी मगर अधिक पावर वाली लाइटें बनानी चालू कर दी हैं। कई वर्षों पहले 'क्लीयर टोन' नाम की लाइटें बाजार में आई थीं, जिनकी पावर 500 से 1000 वाट तक थी। इन दोनों ही पावर का प्रबंध एक ही लाइट में होता था। सिर्फ स्विच के ऑन-ऑफ करने भर से जरूरत के अनुसार 500 या 1000 वाट का बल्ब जल या बुझ सकता था। ये लाइटें इतनी हल्की-फुल्की थी कि एक लाइट मैन ही कई सारी लाइटें एक साथ उठाकर ले जा सकता था। एक स्टैण्ड पर लम्बा-सा-ऊपर नीचे होने वाला डन्डा हल्के से हल्का, के ऊपर एक छोटी सी शेड में एक या दो बल्ब लगे रहते थे। इस शेड के अन्दर की सतह चमकीली रहती थी और रिफ्लेक्टर का काम करती थी। एक 10×10 के कमरे में 4 या 5 लाइटों से ही शूटिंग हो सकती थी, मगर आजकल इन लाइटों की जगह कई किस्म की छोटी लाइटें आ गई हैं। इनमें एक फ्रेम में दो से छह तक लाइटें रहती हैं और इनकी क्षमता सौ वाट से लेकर कोई एक हजार वाट तक की रहती है। इन छोटी लाइटों में 2500 वाट, 5000 वाट और 10,000 वाट तक की रोशनी का प्रबंध रहता है। इनको भी बड़ी आसानी से लाया ले जाया जा सकता है। कहीं भी किसी भी स्थिति में इनका प्रयोग किया जा सकता है। इसलिए पुराने जमाने की भारी-भरकम लाइटों का प्रयोग खत्म-सा होता जा रहा है। धीरे-धीरे ये सब प्राचीन काल का अवशेष मात्र ही रह जाएंगी।

**4.5.7 :**

ये स्थितियाँ इस कारण से पैदा हुई कि लोग स्टूडियो की जगह रंगीन फिल्म आने के बाद आउटडोर में शूटिंग करना अधिक पसंद करने लगे।

दूसरा कारण यह था कि फिल्म की संवेदनशीलता तथा गति बहुत अधिक बढ़ गई। एक वक्त था जब फिल्म निगेटिव की गति 100 ए.एस. एफ. होती थी, जिसकी एक्पोज करने के लिए बहुत लाइटें चाहिए थीं। विगत कई वर्षों से 400 ए.एस.एफ. गति की निगेटिव भी आने लगीं जो पुराने निगेटिव को चार गुनी अधिक संवेदनशील हैं। आजकल 1000 ए.एस.एफ. का निगेटिव आने लगा है, मगर

बाद में यह आया या नहीं इसकी कोई अधिकृत जानकारी नहीं है। यह निगेटिव आंख से दिखाई पड़ने वाली प्रत्येक वस्तु को फोटोग्राफ कर सकता है। दियासलाई की हल्की-सी-रोशनी भी यह निगेटिव पकड़ सकता है, एक्सपोज कर सकता है।

## 4.5 फिल्मी फोटोग्राफी के विविध स्वरूप

फिल्मों की फोटोग्राफी की कई किस्में हैं। इनमें से मुख्य-मुख्य ये हैं-

- ❐ डिब्बा खोल फोटोग्राफी
- ❐ चालू फोटोग्राफी
- ❐ गुड्डी - गुड्डी फोटोग्राफी
- ❐ मूड फोटोग्राफी
- ❐ लो की फोटोग्राफी
- ❐ हल्की फोटोग्राफी
- ❐ क्रिटिकल फोटोग्राफी

### डिब्बा खोल फोटोग्राफी

आप शायद यकीन नहीं करेंगे और सामान्यतः कोई भी फोटोग्राफर ऐसा नहीं करता है, मगर लेखक का ऐसे फोटोग्राफर से पाला पड़ चुका है, जो डिब्बा खोल फोटोग्राफी करते हैं। वे हजरत हमारे ही देश के हैं। नरोत्तम पटनी जो कि कई गुजराती फिल्मों में फोटोग्राफी करके पुरस्कृत हो चुके हैं। कम लाइटों में शूटिंग करने का उन्होंने एक तरीका अपना लिया है, जिसे वे डिब्बा खोल फोटोग्राफी कहते हैं। इस फोटोग्राफी में जितनी भी लाइटें वे काम में लेते हैं, वे सब लाइटों के मुँह खोल देते हैं ताकि पूरा फील्ड (क्षेत्र) फ्लड हो जाता है। इस तरह की फोटोग्राफी करने वाले शायद वे पहले और अन्तिम व्यक्ति होंगे।

### चालू फोटोग्राफी

आम तौर पर कम खर्चे में बनने वाली फिल्मों में जिनके शॉटों में क्षेत्र ज्यादा बड़ा नहीं हो जल्दी-जल्दी शॉट लेने के लिए तुरत-फुरत लाइटिंग करवा ली जाती है। ऐसे वक्त में लाइटिंग व्यवस्था की बारीकियों को नजरअन्दाज कर दिया जाता है। 30 से 40 दिन के अन्तराल में बन जाने वाली फिल्मों की लाइटिंग में ज्यादा वक्त खर्च नहीं किया जा सकता। एक शॉट खत्म होते ही दूसरा शॉट लेने के लिए

कैमरामैन तैयार रहता है। कैमरामैन को जैसे ही फिल्म निर्देशक ने शॉट बतलाया एकाध लाइट का मुँह घुमाकर एक -दो लाइटें और देकर शूटिंग के लिए तैयार हो जाता है। ऐसे फोटोग्राफरों से बहुत अच्छी फोटोग्राफी की उम्मीद करना भी अपने-आप में बहुत ही बड़ी भूल होगी। इन कैमरामैनों को अधिक संख्या में लाइटें भी नहीं मिल पाती हैं, इसलिए जितनी भी मिल जाया करती हैं उतनी से ही वे काम निकाल लिया करते हैं। निर्देशक भी 'जल्दी करो भाई', 'जल्दी से निपटाओ भाई', जैसे जुमले चिल्ला-चिल्ला कर पूछता रहता है कि लाइटिंग हुई भी है या नहीं हुई। ऐसी परिस्थितियों में कई बार बड़ी हास्यस्पद परिस्थितियाँ तक भी बन जाती हैं। लेखक की पहली फिल्म ''पाताल नगरी' में एक बार ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थीं। कैमरामैन धनजी भाई, जो मशहूर लेखक पं0 इन्द्र के छोटे भाई थे, आँखो में कुछ तकलीफ होने से शूटिंग स्थल पर नहीं आ पाए थे। शूटिंग ज्योति स्टूडियो (पुराना इम्पीरियल सिनेमा) में हो रही थी। निर्माता की खोज करने पर एक बेकार-सा कैमरामैन मिल गया। उसका नाम ओमी था। उसको 50 रुपए प्रतिदिन पारिश्रमिक तय करके कैमरा सौंप दिया। ओमी लाइटिंग करने लगा। दो-तीन फिल्म के निर्देशक श्रीराम बोहरा के पूछने पर कि क्या हुआ तुम शूटिंग के लिए तैयार हो या नहीं। ओमी ने चिढ़कर जवाब दिया....''जी मेरा कैमरा तो रेडी है। आप-लाइटिंग करवा लीजिए।''- इसके बाद निर्देशक के पास कहने को कुछ भी नहीं रह गया था।

आमतौर पर फील्ड तय करना और कैमरामैन को ऐंगल बतलाना फिल्म निर्देशक का काम है, मगर कभी-कभी वह अपनी राय भी दे सकता है। वैसे बैकग्राउण्ड (पृष्ठभूमि) या फील्ड (क्षेत्र) और कैमरा ऐंगल दृश्य की और शॉट की जरूरत के हिसाब से तय की जाती है। उदाहरण के लिए यदि फिल्म रोमांटिक है तो बाग-बगीचा, नदी, तालाब आदि की स्थिति बनानी होती है। इसके विपरीत अगर यह दिखलाना है कि कोई भी पात्र बड़े कष्ट में है तो बाग-बगीचे में नहीं दिखाए जा सकते हैं। कई बार फिल्म निर्देशक अनुभवविहीन होते हैं तो तय नहीं कर पाते कि कैमरा कहाँ रखवाया जाए। फिल्म में बहुत ही मशहूर उदाहरण है कि एक साहब जर्मनी से मेकअप करना सीख कर आए। यहाँ आने पर उन्हें मालूम पड़ा कि फिल्म लाइन में मेकअप मैन टके के तीन बिकते हैं तो उन्होंने कहना शूरू कर दिया कि वह फिल्म निर्देशन सीख कर आए हैं। बिल्ली के भाग्य से तभी छींका टूट गया। उन्हें एक निर्माता की तरफ से प्रस्ताव मिला फिल्म निर्देशन का। सेट पर जाने पर

जब कैमरामैन ने पूछा-''कैमरा कहाँ पर रखें?'' तो उन्होंने कर दिया- ''अरे कहीं पर भी अच्छी-सी जगह देखकर रख लो वहीं पर।''

परन्तु दो-तीन बार पूछने पर उन निर्देशक महोदय ने झल्ला करके कहा- ''मेरे सिर पर।''

कैमरामैन फिल्मी दुनिया के तेवर समझने वाला था। वह भांप गया कि यह निर्देशक ए,बी,सी,डी भी नहीं जानता है फिल्म-निर्देशन की। एक शॉट लेने के बाद फोटोग्राफर उनके पास गया और समझाया कि अगर ऐसा ही बोलोगे तो निर्माता तुम्हें निकाल कर बाहर कर देगा फिल्म से। फिर उसने एक सीन लिया और उनके समक्ष शॉट डिवीजन करके कहा - ''तुम तो इतना भर बोल देना कि तुम लाँग शॉट लगाओ, मिड शॉट लगाओ।''

इसके बाद यह तथाकथित फिल्म निर्देशक सुप्रसिद्ध फिल्म निर्देशक ट्रिक मास्टर मोहन सिन्हा के पास गया। उनसे पूछा-''कैमरा कहाँ और कैसे रखा जाता है?'' सिन्हा ने जवाब दिया-''अगर तुम जरा भी समझदार हो तो पहली ही बार कैमरा ठीक रख लोगे। समझदार नहीं हो तो जितनी बार कैमरा बदलवाओगे उतनी बार गलत होगा। इसलिए पहली बार जहाँ भी रखवा दिया हो उसी को ठीक समझकर चालू फोटोग्राफी करते रहो।''

### गुडी-गुडी फोटोग्राफी

इस किस्म की फोटोग्राफी में फोटोग्राफी की तकनीकी बारीकियों और शेड लाइट का काम नहीं रखा जाता है। जो कुछ भी दिखलाना है पूरी चमक-दमक के साथ साफ-साफ नजर आ जाएगा। खास कर फिल्मी गीतों के फिल्मांकन में इसी तकनीक से फोटोग्राफी की जाती है। जब तक कि गीत में ट्रेजडी अथवा डिस्को डांस आदि नहीं हो। ट्रेजडी गीतों में फोटोग्राफी गुडी की जाती है और लाइटें सब ड्यूड यानी लो रहेगीं-डिस्को गानों में भाँति-भाँति के प्रभाव (इफेक्ट) देखने को मिलते हैं। आमतौर पर फोटोग्राफी एवं सस्ती फिल्में बनाने वाले निर्माता इस काम चलाऊ फोटोग्राफी से ही सन्तोष कर लेते हैं।

### मूड फोटोग्राफी

मूड फोटोग्राफी का मतलब यह है कि फोटोग्राफी, कथावस्तु अथवा दृश्य के मूड के हिसाब से तय की जाए। इस तरह की फोटोग्राफी करने वाले कैमरामैन

कहानी सुनने के बाद ही स्थिति तय करेंगे कि फोटोग्राफी कैसी हो? अगर फिल्म ट्रेजडी है तो उसी हिसाब से कैमरामैन लाइटें करेगा। उन लाइटों को कम लाइटों में सबड्यूड रखकर फोटोग्राफी की जाएगी। अगर कॉमेडी फिल्म है तो फोटोग्राफी एकदम ब्राइट की जाएगी।

### लो की फोटोग्राफी

लो की फोटोग्राफी उस तकनीक का नाम है जिसमें लाइटों का प्रयोग कम और रोशनी मंद हो। यह मंद रोशनी में ही की जाती है।

### हल्की फोटोग्राफी

इसके विपरीत जब अधिक लाइटें देकर और ब्राइट लाइट में पूरी फिल्म या सीन खींचा जाता है तो उसे हल्की फोटोग्राफी कहते हैं।

### क्रिटीकल फोटोग्राफी

कुछ चुने हुए दृश्यों में किसी का दुःख-दर्द उभार करके दिखलाना हो तो उस वक्त इस तरह की फोटोग्राफी की जाती है। क्रिटिकल फोटोग्राफी में बैकग्राउण्ड (पृष्ठभूमि) रोशन नहीं की जाती। सिर्फ फिगर पर ही रोशनी की जाती है, वह भी अलग-अलग कोणों से एक-दूसरे को काटती हुई अतिरिक्त लाइटों को काटकर करवाई जाती है, तब उसे क्रिटिकल लाइट कहते हैं। उदाहरण के लिए उगते हुए सूर्य की रोशनी में किसी आदमी को खड़ा करके उसकी फोटोग्राफी की जाए तो उसके लिए क्रिटिकल फोटोग्राफी अपेक्षित होगी।

## 4.6 इनडोर शूटिंग में रोशनी-व्यवस्था

इनडोर शूटिंग का काम स्टूडियो के बाहर करना पड़े तो कैमरामैन को कई तरह की असुविधाएं होती हैं। बना-बनाया सेट मिल जाता है, मगर घरों के कमरे, हॉल आदि छोटे भी होते हैं और चारदीवारी से घिरे होने से उनमें आमतौर पर उपयुक्त शूटिंग स्पेस भी नहीं मिलती है। इसलिए ट्राली आदि का उपयोग प्रायः नहीं किया जा सकता। इसकी जगह जूम लेन्स से काम चलाना पड़ता है। जो लाइटें स्टूडियो में चाहिए, इन सेटों के लिए भी लाइटें तो उतनी ही देनी पड़ेंगी, मगर लगाते वक्त इस बात का ध्यान अवश्य ही रखना पड़ेगा कि लाइटें कहीं राह में रोड़ा तो नहीं बन रही हैं। कहीं कैमरे के व्यू के रास्ते में तो नहीं आ रही हैं। कैमरामैन

को इसके लिए लाइटें लगाने के लिए बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। कैमरा मूवमेन्ट कम होने से एक फायदा यह है कि शॉट कट टू कट ही लिए जाएंगे। एक कार्नर की लाइटिंग होने पर उस कार्नर के सारे शॉट एक साथ लिए जा सकते हैं। इससे समय की भी थोड़ी बचत हो ही जाती है।

इन्डोर में जूम से शूटिंग करने पर एक मुश्किल आ जाती है, वह होती है लाइटिंग व्यवस्था की। जैसे-जैसे जूम आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ही निगेटिव एक्सपोज करने के लिए अधिक रोशनी की आवश्यकता होती है। इसके लिए आमतौर पर जूम भी काम में लेने से हिचकिचाते हैं अथवा फिर एक आदमी को अतिरिक्त लाइट लेकर जूम के साथ-साथ आगे बढ़ना पड़ता है। तीसरी मुश्किल जो सामने आती है वह है इन्डोर तथा आउटडोर का मैचिंग। जब श्वेत-श्याम फिल्मों का जमाना था तब इस तरह की कुछ दुविधा नहीं होती थी। रंगीन फिल्मों का युग आया है तभी से यह समस्या कैमरामैनों के सामने आ खड़ी हुई हैं। अंदर की आर्टीफिशियल लाइट (अप्राकृतिक रोशनी) तथा बाहर की रोशनी (सूर्य की) में स्वाभवतः टेम्प्रेचर भिन्न रहता है। इसलिए इसको एक करने के दो ही रास्ते हैं। एक तो यह कि सेट के बाहर के (बाह्य) दृश्यों के भागों को कैमरे की आंख से ओझल रखा जाए यानी कमरे की खिड़कियों, दरवाजों आदि सभी रोशनी के रास्ते को पर्दे से ठीक तरह से ढंक दिया जाए। 'दूसरा तरीका यह है कि इन्डोर की रोशनी और बाहर की सूर्य के प्रकाश की रोशनी में समानता लाने के लिए बाहर के भाग में अतिरिक्त रोशनी की जाए। यह तभी संभव हो सकता है जबकि बाहर की शूटिंग का क्षेत्र छोटा है और वहाँ पर रोशनी की जरूरत के अनुरूप व्यवस्था की जा सकती हो। कैमरामैन यह रास्ता नहीं अपनाता है तो उसके निगेटिव में अंदर और बाहर के मिश्रित शॉट में बाहर के भाग में निगेटिव के तीन रंगों में एक रंग नहीं आ पाएगा। बाहर की और अंदर की एक साथ-शूटिंग की जा सकती है, बशर्ते बाहर सिर्फ हरियाली हो। रंगीन (कलर) फिल्म में एक और बात भी है, जिस शूटिंग क्षेत्र में रोशनी नहीं होगी वह क्षेत्र एकदम ब्लैक (काला) आ जाएगा। इसलिए किसी भी हिस्से को बिना रोशनी के नहीं रखा जा सकता है।

आउटडोर की शूटिंग में रोशनी के लिए लाइटों का प्रयोग बहुत ही कम किया जाता है। इस काम के लिए सूर्य की रोशनी ही पर्याप्त होती है। अगर आकाश में थोड़े-बहुत बादल हैं तो उन्हें अच्छा समझा जाता है। इससे आकाश भी

भरा-भरा लगेगा। अगर बादल बहुत ज्यादा हैं तो सूर्य की रोशनी को ढंक लेंगे और रोशनी मंद होने से शूटिंग नहीं हो पाएगी। वैसे जब तक किसी भी वस्तु की परछाई नजर आती है, तब तक शूटिंग की जा सकती है। आउट डोर की शूटिंग में सूर्य कब उगेगा, कब अस्त होगा इसकी जानकारी होनी चाहिए।

हमने एक फिल्म की शूटिंग पहलगाम (कश्मीर) में की थी। उस वक्त इसी तरह की कठिनाई हमारे सामने आई थी। पहलगाम में जिस मौसम में हम शूटिंग कर रहे थे उस समय वहाँ छह बजे सूर्य उदय हो जाता था। इतनी प्रखर रोशनी होती थी कि आप शूटिंग कर सकते थे, लेकिन 10 बजते-बजते बादल इतने आ जाया करते थे कि रोशनी अक्सर शूटिंग के लायक नहीं रह पाती थी। नतीजा यह होता था कि यूनिट को रोशनी की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए भाग-दौड़ करनी पड़ती थी। इस कारण शूटिंग भी बहुत थोड़ी हो पाती थी साथ ही साथ उसके वांछित परिणाम भी संदेहास्पद रहते थे। हमारे साथ एक और भी दिक्कत थी कि कलाकार और यूनिट के अन्य सदस्य श्रीनगर में रहते थे। वहाँ से आते-आते 8 या 9 बज जाया करते थे, इसलिए शूटिंग का वक्त भी बहुत कम मिल पाता था। उचित तो यह रहता कि उन सभी तकलीफों से बचने के लिए कलाकारों व तकनीशियनों को पहलगाम में ही ठहराया जाता ताकि कम से कम 5 से 6 घण्टे का समय तो शूटिंग करने के लिए मिल ही जाता।

आउटडोर में सिर्फ सूर्य की रोशनी में शूटिंग के दौरान रिफ्लेक्टर, बाउन्सर आदि का प्रयोग किया जाता है, मगर कभी-कभी ऐसी स्थिति भी हो जाती है जब आपको लाइटों की जरूरत भी हो सकती है। उदाहरण के लिए आप किसी महल के बाहर के हिस्से में शूटिंग कर रहे हैं और पृष्ठभूमि में महल पर सूर्य की रोशनी नहीं पड़ रही हो तो उसे रोशन करने के लिए बड़ी-बड़ी तथा तेज लाइटों की जरूरत पड़ेगी।

## शूटिंग कब नहीं करें

कैमरामैन किस-किस वक्त शूटिंग नहीं करने की स्थिति में रहता है। ऐसी स्थितियाँ हैं :

- जब रोशनी मन्द हो। जैसे सुबह की हल्की-फुल्की रोशनी में शूटिंग नहीं की जाएगी, मगर जब सूर्योदय का शॉट लेना हो तो सूर्योदय के वक्त ही शूटिंग

करनी होगी। फिर चाहे रोशनी कैसी भी मिले। इन शॉटों के लिए यानी सूर्योदय अथवा सूर्यास्त के अच्छे शॉटों के लिए कैमरामैन और फिल्म निर्देशक कैमरा लगाकर कई बार घण्टों इन्तजार करते रहते हैं।

- जब सूर्य टाप पर (यानी सिर पर) हो, तब भी कैमरामैन शूटिंग करने से हिचकिचाएगा। सूर्य के सिर पर (टाप पर) रहने पर कलाकारों के चेहरे पर कई किस्म की छाया रहती है। खास कर आँखो पर अगर आपने ऐसे हालातों में शूटिंग की तो कलाकार की आंखे दिखलाई ही नहीं पड़ेगी। वे एकदम काली पड़ जाएंगी। अगर टाप पर सूर्य हो और तब शूटिंग करनी हो तो कैमरामैन रिफ्लेक्टर मांगेगा और उन रिफ्लेक्टरों की मदद से चेहरों को पूरी तरह रोशनी से रोशन करने के बाद ही शूटिंग करेगा। टॉप पर सूर्य लगभग डेढ़-दो घण्टे रहता है और शूटिंग के लिए यह वक्त अक्सर जाया हो ही जाता है। इस वक्त को बचाने के लिए या तो निर्माता लंच ब्रेक कर देता है या फिर साथ मे बड़े-बड़े रिफ्लेक्टर लेकर जाता है।
- जब धूल उड़ती हो। आंधी, तूफान, तेज हवा आदि की वजह से धूल का गुबार उठ रहा हो तब भी कैमरामैन शूटिंग करना पसन्द नहीं करेगा कारण कि तब कलाकार व कैमरा दोनों धूल से आच्छादित हो जाते हैं। इसलिए निगेटिव पर तस्वीर अस्पष्ट ही आएगी। अगर आपको आंधी, तूफान या बवण्डर का दृश्य लेना है तो आउटडोर में या इनडोर में बड़े-बड़े पंखे लगाकर उनके सामने धूल, कचरा, पत्ते आदि उड़ाकर आप्राकृतिक आंधी करके नियंत्रित परिस्थिति में शूटिंग करनी होगी। इसी तरह से बरसात की शूटिंग भी नकली बारिश करवाकर ही की जाती है।
- शाम के समय जब रोशनी पीली पड़ जाए तब भी कैमरामैन शूटिंग नहीं करेगा। श्वेत-श्याम फिल्म निर्माण में यह समस्या नहीं रहती है। उसमें कई कैमरामैन शूटिंग कर लेते थे, मगर रंगीन फिल्म के लिए पीली रोशनी के हो जाने पर शूटिंग करना संभव ही नहीं होता है।

## 4.7 डे फॉर नाइट शूटिंग

इन्डोर शूटिंग के लिए जब रोशनी की व्यवस्था की जाती है, तब कैमरामैन के पास कई उपकरण रहते हैं। इन उपकरणों की मदद से वह समुचित रूप से

योजनाबद्ध और अपनी जरूरत के मुताबिक रोशनी करने की व्यवस्था कर सकता है।

हर लाइट में प्रकाश की दो सतह की व्यवस्था होती है। एक हार्ड और एक सॉफ्ट कही जाती है।

इसके लिए जब 'हार्ड लाइट' की जरूरत होती है तब लाइटों में एक पेंच घुमाकर उसे हार्ड किया जाता है। इसी तरह 'सॉफ्ट लाइट' चाहिए तब भी पेंच घुमाना पड़ता है। जब बहुत ज्यादा हार्ड लाइट की रोशनी चाहिए तब कभी-कभी कैमरामैन लाइटमैन को लाइट का मुँह खोलने को कहता है। इसके अलावा एक डीमर और होता है जो हर लाइट के साथ होता है। यह लोहे के टीन के टुकड़ों का बना हुआ होता है और उसमें एक छेद रहता है। उस छेद वाले चौकोर टुकड़े के चारों ओर एक-एक लोहे की पट्टी भी लगी रहती है। कभी-कभी कैमरामैन लाइट कम करने के लिए डीमर का प्रयोग भी करता है। यह डीमर लाइट के मुँह पर लगाया जाता है और डीमर के छोटे मुँह से ही लाइट की रोशनी निकलती है। जब डीमर नहीं लगाना हो तो कटर का उपयोग किया जाता है। ये कटर लकड़ी या ठप्पे के टुकड़े होते हैं, जिन्हें स्टैण्ड पर लगाकर जिधर की लाइट काटनी हो, वहाँ खड़ा कर दिया जाता है। लाइट को हार्ड या सॉफ्ट करने के लिए महीन जाली के बने हुए नेट का प्रयोग तो आमतौर पर किया जाता है। जरूरत के मुताबिक एक-दो नेट लाइट के मुंह के आगे लग जाते हैं। ज्यादातर प्रयोग कटर या नेट का ही किया जाता है। रंगीन लाल या पीला प्रभाव (इफेक्ट) देना है तो लाइटों के आगे उसी रंग के जिलेटिन पेपर लगाने पड़ते हैं। यह जिलेटिन पेपर आमतौर पर ज्यादा देर तक टिकते नहीं हैं। लाइट की गर्मी के कारण पिघल जाते हैं या जल जाते हैं और उन्हें बार-बार बदलना पड़ता है। कैमरामैन के पास 'सॉफ्ट इफैक्ट' देने के लिए एक हथियार और रहता है, जिसे 'फिल्टर' कहा जाता है। यह फिल्टर कई ग्रेड, कई किस्मों व कई रंगों में आते हैं। ये कैमरे के लेन्स के आगे लगाये जाते हैं, जिससे इन फिल्टरों से लाइट कट कर सॉफ्ट हो जाती है। इससे क्लोज अप बड़ा ही खूबसूरत आता है, मगर इन फिल्टरों को क्लोज-अप के लिए ही काम में लिया जाता है 'लाँग और मिड लाँग' में यह फिल्टर लगाया गया तो शॉट आऊट फोकस जैसा लगेगा। इसका एक उदाहरण 'थीफ ऑफ बगदाद' के कव्वाली के कुछ शॉट हैं। इस फिल्म में दारासिंह और निशी हीरो-हीरोइन थे। कव्वाली में कैमरामैन के लाँग शॉट धुंधले हो गए थे। निर्माता और निर्देशक ने इस शॉटों को दुबारा लेने की

जरूरत ही नहीं समझी। इसलिए उस फिल्म में अभी भी यह शॉट्स देखे जा सकते हैं।

### डे फॉर नाइट शूटिंग

रात्रि में शूटिंग जब बढ़िया ढंग से करनी हो तब तो रात्रि में लाइटें और जनरेटर ले जाकर करना चाहिए। शाम की धुँधली रोशनी में शूटिंग नहीं हो सकती। अँधेरी रात में तो हो सकने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसलिए लाइटों की आवश्यकता रहती है। रात को लाइटें कुछ निर्देशक लोग पसंद नहीं करते। इसलिए रात की शूटिंग दिन में ही कर ली जाती है। इस तरह की शूटिंग को डे फॉर नाइट शूटिंग कहते हैं। इस तरह की शूटिंग करने के कई तरीके हैं।

पहला तरीका यह है कि सामान्य शूटिंग करके लेबोरेट्री (प्रयोगशाला) में फिल्टर डालकर शॉट प्रिण्ट करवाये जाएं जिससे शॉट का चमकीलापन (ब्राइटनेस) कम हो जाए। वह मंद हो जाए और रात्रि जैसा प्रभाव नजर आए। दूसरा तरीका यह है कि एक विशेष फिल्टर जो इसी काम के लिए आता है उससे लगातार शूटिंग की जाए। इस फिल्टर में ऊपर नीले रंग का तथा नीचे का भाग सफेद थोड़ा करने में कोई तकलीफ नहीं है, लेकिन इसमें आकाश का रंग पकड़ा जाता है। दिन में आकाश का रंग नीला रहता है और रात्रि में सूर्य की रोशनी के अभाव में आकाश गहरा काला रहता है। दिन में शूटिंग हो जाएगी तो आकाश चमकीला (ब्राइट) नजर आएगा, मगर इस फिल्टर के लगाने से सूर्य की रोशनी कट जाएगी और आकाश गहरा अंधेरा भरा यानी डार्क हो जाएगा।

इसका तीसरा तरीका है जब भी 'डे फॉर नाइट' शूटिंग करनी हो तथा फिल्टर उपलब्ध नहीं हों तो आकाश को काटकर शूटिंग की जाती है। इस शूटिंग में भी रात्रि का आभास देने के लिए लेबोरेट्री में फिल्टर लगाकर शॉट प्रिण्ट करना पड़ेगा।

### पहला और आखिरी ब्लाक

जब कैमरामैन कोई शॉट लेता है तो निर्देशक से पूछता है कि शॉट का आरंभ कहां से होगा और शॉट का अंत कहाँ होगा। इस प्रारंभ को 'फर्स्ट फ्रेम' या फर्स्ट ब्लाक तथा अन्त को 'लास्ट फ्रेम' या आखिरी ब्लाक कहते हैं। हर फोटो ग्राफर चाहता है कि उसके शॉट का पहला व अन्तिम ब्लाक खूबसूरत और

डायनेमिक हो। अगर निर्देशक कुछ समझा नहीं पाता है तो कैमरामैन अपने हिसाब से फ्रेम को 'एडेजस्ट कर देता है। आमतौर पर कैमरामैन यह पूछता है कि शॉट कैसे ले रहे हैं और फिगर कहाँ रहेगा। वह उसी के हिसाब से अपना लेन्स तय करता है और लगाता है। पुराने जमाने में निर्देशक कैमरामैन यह कभी यह नहीं कहते थे कि आप कौन सा लेन्स लगाएंगे, सिर्फ फील्ड बतलाया करते थे। लेन्स तय करना पूर्णतया कैमरामैन का अधिकार था। मगर आजकल निर्देशक लेन्स कौ न-सा लगेगा यह भी बताने लगे हैं। कभी-कभी कैमरामैन भी फिल्म निर्देशक को पूछ लेते हैं कि लेन्स कौन-सा लगाऊँ। अभी भी पुराने फोटोग्राफर निर्देशक द्वारा लेन्स बताए जाने पर नाराज हो जाते हैं। दूसरे लेन्सों में फोटोग्राफरों को लेन्स लगाने में तकलीफ नहीं होती है, लेकिन जब सौ एम.एम. का लेन्स उन्हें लगाना पड़ता है तब कैमरामैन को तकलीफ होने लगती है क्योंकि अधिकांश कैमरों में सौ एम.एम. का लेन्स लगने पर कैमरैमैन को आर्ट केलोग्राफी करनी पड़ती है, मगर आजकल जूम लेन्स आने से सौ एम.एम. का काम भी जूम से निकाला जाने लगा है। इसलिए कैमरामैन जब एक बार जूम लग जाता है तो उसको उतारने में दिलचस्पी नहीं लेता।

## 4.8 कैमरामैन की समस्याएँ

चाहे आप दिन में शूटिंग करें चाहें गहन अंधेरी रात में, इन्डोर में करें, चाहे आउटडोर में, हर कैमरामैन को एक अहम समस्या का सामना करना पड़ता है, छाया (शेडो) की समस्या का। यहाँ इस तरह की छाया की भी दो समस्याएँ पहली तो सूर्य के प्रकाश अथवा विद्युत की लाइटों की रोशनी करने से कलाकारों की पृष्ठभूमि में बनने वाली छाया।

दूसरी होती हैं कलाकारों के एक-दूसरे को कवर करने से उनके चेहरे पर पढ़ने वाली छाया। इससे कलाकार पर पड़ने वाली रोशनी कट जाती है। उसका चेहरा रोशनी नहीं होने या कम होने की वजह से सही ढंग से फोटोग्राफ नहीं हो पाता है। वह ऐसी हालत में काला हो जाता है। हर फोटोग्राफर शूटिंग करते वक्त इस बात को ध्यान में रखता है कि यह छाया नहीं रहे।

सूर्य की रोशनी या लाइटें करने पर जो छाया बनती है, उसके लिए यह नियम बना हुआ है कि एक छाया रह सकती है। किसी कमरे में, शेड में या आउटडोर में शूटिंग करते समय रोशनी का स्रोत एक ही रहता है। इसलिए एक

स्रोत मानने की वजह से एक छाया ही वाजिब मानी जाती है, लेकिन इन्डोर में लाइटें कई कोणों से की जाती है। रोशनी करने के लिए भी कई लाइटें लगाई जाती है, इसलिए कई छायाएं पड़ती हैं। कैमरामैन हर हालत में उन छायाओं को काट देगा। अतिरिक्त रोशनी करके यह छाया काटना संभव होता है। आउटडोर में भी जब रिफ्लेक्टर कई कोणों से लगाएं जाते हैं, तब भी कई छायाएं पड़ने की संभावना रहती हैं। यह छाया नहीं रहे इसके लिए भी कैमरामैन को सावधान रहना पड़ता है। 'आउटडोर में इन्डोर के मुकाबले छायाओं की समस्या में एक समस्या और भी जुड़ जाती है। इन्डोर में आर्टीफिशियल (नकली) लाइटों से रोशनी की जाती है। इसलिए छायाओं की लम्बाई नियंत्रित रहती हैं, लेकिन आउटडोर में सूर्य के कोण के हिसाब से छायाओं की लम्बाई भी कम या ज्यादा होती रहती है। जैसे सुबह का सूर्य ऊपर आता जाएगा, त्यों-त्यों छाया की लम्बाई घटते-घटते सूर्य के सिर पर आ जाने पर एकदम लुप्त हो जाती है। इसी तरह जैसे-जैसे सूर्य अस्ताचल की तरफ जाएगा छाया छोटी से लम्बी होती जाएगी।

इस छाया की लम्बाई, छोटाई की वजह से शॉट किस कोण से लिया गया है और उसका वक्त क्या है पकड़ में आ जाता है। शॉट की दिशा बदलने पर छाया की दिशा भी बदल जाएगी। साथ ही यह पकड़ा जाएगा कि यह शॉट सुबह लिया गया था अथवा शाम के समय। इसलिए इन छायाओं को काटकर ही शूटिंग करना बहुत ही जरूरी होता है। इनके साथ ही साथ कैमरामैन को इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि सूर्य की रोशनी का तापमान भी घटता-बढ़ता रहता है और दिन चढ़ते-चढ़ते ही तेज होती जाती है। इसी तरह जब दिन ढलना शुरू हो जाता है, तब भी तापमान धीरे-धीरे घटता चला जाता है। हर कैमरामैन इस घटते-बढ़ते तापमान का ध्यान रखता है। साथ ही साथ सुबह-शाम के वातावरण का ध्यान रखकर सामान्य स्थिति रहे। इसके लिए कैमरे के माध्यम से ही रोशनी पर नियंत्रण रखता पड़ता है।

### कलाकारों का एक-दूसरे को कवर करना

छाया पड़ने का एक दूसरा कारण भी होता है। कलाकारों का एक दूसरे को कवर करना, जिससे कलाकार पर पड़ने वाली रोशनी कट जाती है और चेहरा काला पड़ जाता है, इसके लिए कलाकारों की पोशीजन और मूवमेन्ट दोनों ही जिम्मेदार होते हैं। इस समस्या को हल करने के लिए कैमरामैन कलाकार को आगे-

पीछे करता रहता है। उनका मूवमेन्ट नियंत्रित करता रहता है। कभी-कभी उसे अतिरिक्त रोशनी भी देनी पड़ती है। यह समस्या इतनी मुश्किल नहीं है। कभी-कभी मूवमेन्ट के वक्त जब कलाकार पर रोशनी कम रह जाती है, तब कैमरामैन कलाकारों को अपना मूवमेन्ट एडजस्ट करने के लिए कहता है। साथ ही किसी खास रोशनी को ले लेने के लिए कहता है।

**फ्रेम का एडजस्टमेन्ट–**

कैमरामैन के सामने एक और भी समस्या होती है। कलाकारों के मूवमेन्ट को ध्यान में रखकर अपने फ्रेम को उसी हिसाब से एडजस्ट करने की ताकि किसी कलाकार का सिर नहीं कटे, किसी की साइड का हिस्सा नहीं कटे, जब फिल्में बनना चालू ही हुई थीं तब शूटिंग के समय हर वक्त शॉट में कलाकारों का फुल फिगर लिया जाता था। उस वक्त न तो क्लोज अप होता था न मिड लाँग, सारी फिल्म लाँग शॉट में ही बनती थी। ऐसी फिल्म अब तो बस एक चार्ली चैप्लिन की 'किड' ही देखने को मिलती है। जिन्होंने भी 'किड' को देखा हो वे इस बात को जानते होंगे कि उस जमाने में फिल्मों की शूटिंग कैसे होती थी। पहली बार हॉलीवुड के बहुप्रशंसित निर्देशक ग्रीफिथ ने तब क्लोज अप लेना शुरू किया तो उस तकनीक को बहुत ही क्रान्तिकारी कदम माना गया था, मगर ग्रीफिथ साहब की फिल्म जब पर्दे पर लगी तो दर्शकों को ये क्लोजअप लगातार नागवार गुजरे। उन्होंने हाल में फिल्म देखते वक्त शोर मचा दिया कि कलाकारों की टांगे भी दिखलाई जानी चाहिए। मगर निर्देशक ने उन कलाकारों के पूरे चित्र तो खींचे ही नहीं थे, इसलिए टांगे दिखलाने का तो सवाल ही नहीं उठता था। धीरे-धीरे दशकों को यह नई तकनीक समझ में आ गई। इस तरह इसके जरिये निर्देशक के पास फिल्मी ड्रामे को अतिरंजित करने का एक और हथियार मिल गया। उसके साथ ही कैमरामैन के सामने एक समस्या आ गई कि कैमरे का आपरेशन बहुत ही कुशलतापूर्वक किया जाए। यदि वे अतिरिक्त सावधानी नहीं बरतेंगे तो कलाकारों के सिर अथवा शरीर के अन्य हिस्सों के कट जाने का खतरा रहेगा। इसलिए कैमरामैन को कैमरा फिट करते वक्त बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है।

## 4.9 फोटोग्राफी के विविध पहलू

फिल्टरों के बारे में पहले यह तथ्य बतलाया जा चुका है कि जब भी लाइट को सॉफ्ट करना हो तब वे लगा लिए जाते हैं। इन सामान्य फिल्टरों के अलावा

आजकल प्लास्टिक जैसे पदार्थ के बने हुए कई किस्म के, विभिन्न तरह के प्रभाव उत्पन्न करने वाले फिल्टर आने लगे हैं।

उदाहरण के लिए किसी कलाकार की आँख के दृश्य में हीरे की चमक की तरह तेज चमक दिखलाने के लिए कैमरे के सामने एक विशेष तरह का फिल्टर लगाया जाता है। इस विशेष तरह के फिल्टर के जरिए रोशनी पड़ने पर वैसी ही चमक कलाकार की आँख की पुतली पर भी आ जाती है। यह आँख तब एक स्फुलिंग की तरह चमकती रहती है। अगर आकाश में बादलों पर इन्द्रधनुष दिखलाना हो अथवा तारे दिखलाने हों तो उसके लिए इसी कार्य को अंजाम देने की गरज से बनाया गया फिल्टर लगाना पड़ेगा।

किसी के चेहरे पर दिव्य प्रभामंडल दर्शाना हो, दीपक की जलती हुई लौ के चारों तरफ रंग बिरंगा, लाल-पीला प्रभाव छोड़ना हो, तब भी फिल्टर का प्रयोग करना होगा। यह फिल्टर अलग-अलग प्रभाव वाले होते हैं। इनका पूरा सेट 25 या अधिक का मिलता है और हर फिल्टर का प्रभाव अलग-अलग पड़ता है। एक फिगर के कई फिगर दिखलाने के लिए, घूमते हुए फिगर दिखलाने के लिए प्रिज्म लेंस का एक सेट आता है। इस सेट को जरूरत पड़ने पर किराया देकर मंगवाया जाता है। यह प्रिज्म कैमरे के लेंस के आगे फिट किए जाते हैं। इन्हें एक हैंडिल की सहायता से घुमाया जा सकता है। फिल्टरों को कैमरे के आगे लेंस लगाने के लिए हाथ से पकड़कर या किसी माउण्ट में फिक्स करके लैंस के आगे रख दिया जाता है। कैमरे के आगे लगाने से सहायक कैमरामैन जरूरत के अनुरूप घूमता रहता है।

प्रिज्म लेन्सों का सेट बहुत महंगा आता था, मगर जब से प्लास्टिक के फिल्टर आए हैं, उनकी कीमत काफी कम हो गई है।

### फोटोग्राफी की बारीकियाँ

जाल मिस्त्री और फली मिस्त्री फोटोग्राफी की बारीकियों के लिए बहुत ही मशहूर रहे हैं। उनकी एक खासियत यह थी कि उनकी फोटोग्राफी में लड़कियों के सिर के बाल तक, एक-एक स्पष्ट दिखाई देते थे। इस तरह बालों की स्पष्ट फोटोग्राफी के लिए एक-एक बाल अलग-अलग करके उन पर पाउडर लगाया जाता था और लो लाइटिंग की जाती थी। पर्दे पर यही अलग-अलग बाल बड़े खूबसूरत लगते थे। वैसे क्लोजअप लेने में यह दोनों ही भाई अत्यन्त निपुण माने

जाते थे। महिलाओं के क्लोजअप ये इतने खूबसूरत लेते थे कि उनका कोई सानी ही नहीं था। फिल्म 'गाइड' में जाल मिस्त्री ने वहीदा रहमान को जिस खूबसूरती के साथ फिल्माया था, उतनी खूबसूरत वहीदा रहमान किसी भी अन्य फिल्म में दिखलाई नहीं दी।

## कैमरे में देखने का अधिकार

फिल्मांकन के दौर में कैमरे के व्यू फाउण्डर में झांकने का अधिकार कैमरामैन, उसके सहायकों तथा निर्देशक को ही होता है। अन्य किसी को भी कैमरे के अंदर झांकने का अधिकार नहीं होता। अगर गलती से कोई कलाकार अथवा अन्य आदमी कैमरे के अंदर झांक भी लेता है या कैमरामैन के स्टूल पर बैठ जाता है तो यूनिट के अन्य सदस्य तालियाँ बजा-बजाकर उसका स्वागत करते हैं, क्योंकि उस शख्स को स्टॉफ के सभी सदस्यों को जब कोकाकोला उपलब्ध था तब कोकालोला और जब यह नहीं मिलता है तब और कोई शीतल पेय पिलाना पड़ता है। इसका मतलब यह होता है कि स्टूल पर बैठते ही उस शख्स को 100 से 125 रूपए तक की चपत लग जाती है। वैसे फिल्म जगत में यह एक परम्परा बनी हुई है कि जब किसी कलाकार का पहला मेकअप होता है, तब उस मेकअप मैन को इनाम देना पड़ता है। सारे स्टॉफ को मिठाई खिलानी पड़ती है। वैसे यह परम्परा तभी निभ पाती है, जब वह कलाकार भी इसके लिए राजी हो।

## कैमरे की जाँच

वैसे फिल्मांकन का कायदा तो यह है कि फिल्म बगैर चढ़ाए कैमरा चलाया ही नहीं जाता। सिर्फ यह जाँचने के लिए ही कैमरा चलाया जाता है कि कैमरा ठीक से चल रहा है अथवा नहीं मगर हमारे ध्यान में एक ऐसा रोचक उदाहरण भी है जब एक फिल्म का मूहुर्त कैमरे में फिल्म चढ़ाए बगैर सिर्फ खाली कैमरा चला करके कर लिया गया था। फिल्म लाइन में एक किस्सा बहुत मशहूर है और किसी न किसी निर्माता के नाम से सुना दिया जाता है। एक कलाकार का निर्माता से झगड़ा हो गया और कलाकार ने अभिनय की डेट देने से इंकार कर दिया। लगातार समझा-बुझाकर भी, मिन्नतों के बाद भी जब वह कलाकार शूटिंग के लिए वक्त देने को राजी नहीं हुआ तो फिल्म निर्माता ने एसोसिएशन को यह प्रकरण पंच फैसले के लिए सौंप दिया। एसोसिएशन ने निर्माता को शूटिंग के लिए डेट दिलवा दी। कलाकार फिर भी अपनी हठ पर अड़ा ही रहा, तब निर्माता अपने इस मामले को अदालत में ले

गया। अदालत ने निर्माता को कलाकार की डेट दे दी। निश्चित समय पर कलाकार शूटिंग पर आ गया। मगर वह निर्माता को परेशान करने तथा नुकसान पहुँचाने की नीयत से हर शॉट को बिगाड़ता रहा। कभी वह गलत संवाद बोलता, कभी कैमरे की रेंज से अलग हो जाता। मेकअप के बाद कलाकार ने उस निर्माता से कहा - ''अरे डेट तो आप कोर्ट से आर्डर करवाकर ले ही आए हैं। मगर अदालत मुझसे शूटिंग के दौरान काम तो सही-सही नहीं करवा सकती है न दिन भर की शूटिंग का नतीजा देख लिया न। कितना निगेटिव बरबाद हो गया आपका।''

निर्माता भी पूरा घाघ था। उसने भी उसी अंदाज में नहले पर दहला जड़ते हुए कहा-''अरे तुम डाल-डाल तो मैं पात-पात। मुझको यह मालूम था कि तुम ऐसा ही कुछ करोगे। इसलिए मैंने दिन भर कैमरा बगैर फिल्म भरे ही चलवाया। जब तक तुम सही रास्ते पर नहीं आ जाओगे कैमरा ऐसे ही चलता रहेगा।'' आखिरकार कलाकार को अपनी गरदन नीची झुकाकर हार माननी पड़ी और दूसरे दिन से ही शूटिंग ठीक से करवाने की व्यवस्था करवा दी।

**निर्देशक की परेशानी -**

एक वाकया सोवियत रूप में ख्वाजा अहमद अब्बास के साथ ''परदेसी'' फिल्म के वक्त गुजरा। शूटिंग के लिए एक जाने-माने कलाकार ने दो डेट दी थीं। उनके पूरी होने पर आगे डेट देने से मना कर दिया और वापस भारत आ गए। अब्बास की समझ में नहीं आया कि वह क्या करें? उनको उदास देखकर उनके एक रूसी निर्देशक मित्र ने उनसे कहा-''अरे तुम तो लेखक भी हो, निर्माता भी हो। तुम एक लिख सकते हो तो दूसरी भी लिख सकते हो। इसलिए चिंता की जरूरत नहीं है। तुम अपनी सिक्वेन्स में तब्दीली करके शूटिंग पूरी करो।'' अब्बास ने फिर वैसा ही किया साथ ही परेशानी से भी मुक्त हो गए।

## 4.10 शूटिंग में लाइटिंग की प्रक्रिया

इसके पहले फोटोग्राफी के उपकरणों और उसमें आने वाली व्यावहारिक समस्याओं के बारे में बताया जा चुका है। अब सिर्फ यह बतलाना है कि फोटोग्राफी के लिए लाइटों की व्यवस्था तथा लगाने की प्रक्रिया कैसे पूरी की जाती है। साथ ही यह भी बतलाया जाना है कि लेसों का प्रयोग कैसे-कैसे किया जाता है।

आमतौर पर सेट तैयार हो जाने पर शूटिंग के समय से पहले जनरल

लाइटिंग, बैकग्राउण्ड लाइटिंग वगैरह करवाई जाती है। उसके पश्चात् जो भी शॉट देना हो तब उसके हिसाब से लाइटिंग करवाई जाती है। लाइटिंग करते वक्त इस बात का ध्यान खास तौर पर रखा जाता है कि अगर किसी का क्लोज अप लेना है। (खासकर अभिनेत्रियों का) तो उसके लिए कैमरामैन विशेष रूप से ध्यान रखता है। क्लोजअप की लाइटिंग में दो-तीन घंटे तक का समय ले लेता है। इस समय के दौरान फिल्म निर्देशक और उसका स्टाफ बेकार बैठा रहता है। कई बार तो लाइटमैन निर्देशक तक को कह देता है कि ''आप जरा बाहर बैठिए! जब लाइटिंग पूरी हो जाएगी तब आपको बुला लूंगा।''

क्लोज अप की लाइटिंग कई किस्म की, खास लाइटें जैसे बैकग्राउण्ड लाइट जो कलाकार के पीछे रखकर, सिर के पीछे का हिस्सा, साइड का भाग आदि रोशन करती है। फिर एक हाई लाइट होती है जो चरित्र के पार्श्व में उसके पास लाकर बाल आदि रोशन करती है। 'नोज लाइट' किसी भी पात्र के चेहरे का आगे का हिस्सा फिल्माते वक्त काम में ली जाती है और उस दौरान उसका अग्र भाग रोशन किया जाता है। 'चिन लाइट' जो जमीन पर रक्खी जाती है और टिल्ट अप होकर कलाकार की हिचकी को रोशन करती है। इन सब लाइटों को देने से आंखों पर छाया आ जाती है। इसलिए उसको मिटाने के लिए भी अलग से लाइटिंग की जाती है। इसके अलावा और भी कई लाइटें चेहरे की अच्छी तस्वीर खींचने के लिए की जाती है। श्वेत-श्याम फिल्मों के जमाने में तो ये लाइटें बहुत ही जरूरी मानी जाती थीं, मगर आजकल रंगीन फिल्मों के जमाने में इन सब लाइटों की जरूरत ही नहीं समझी जाती। अगर मीटर टेम्प्रेचर ठीक बतलाता है तो तस्वीर उतर जाएगी। कभी-कभी 'शेड लाइट में भी शूटिंग की जाती है। इससे शेड का कुछ भाग रोशन रहता है और कुछ भाग कम रोशन रहता है। ऐसी सूरत में जिस भाग को ज्यादा रोशन दिखलाना है उस पर ज्यादा रोशनी की जाती है। नाक को सीमा रेखा मानकर दूसरी तरफ कम रोशनी की जाती है। अगर कोई लड़की घूंघट में है और घूंघट के माध्यम से चेहरा दिखलाना चाहते हों तो उसके लिए अतिरिक्त रोशनी करनी पड़ती है। ऐसे समय में कैमरामैन लेन्स के आगे फिल्टर भी लगाएगा।

अन्य प्रकार के शॉटों में भी अगर सर्वत्र एक जैसी रोशनी है, तब पूरे के पूरे क्षेत्र में शूटिंग करते समय एक जैसी लाइट करवानी पड़ेगी, मगर उसमें भी शेड लाइट की शूटिंग है और लाइटिंग करवाते वक्त कहीं रोशनी और कहीं अंधेरा हो

तो उसके हिसाब से रोशनी करवानी पड़ेगी। नृत्यों में खास करके कैबरे, डिस्को आदि में आपने अक्सर घूमती हुई लाइटें, स्पॉट लाइटें अवश्य देखी होंगी, तो आप जानते होंगे कि उसके लिए फिक्स लाइटों की जगह घूमती हुई स्पॉट लाइटें लगानी पड़ती है।

बहुधा फिल्म निर्देशकों की शूटिंग योजना के हिसाब से भी लाइटिंग के तौर- तरीकों में कुछ फर्क पड़ ही जाता है। जैसे अगर फिल्म-निर्देशक अपनी शूटिंग क्लोज से शुरू करना चाहे तो उसके लिए सारे का सारा बैक ग्राउण्ड लाइट करवाना बहुत ही जरूरी नहीं होता है। उस क्लोज के साथ-साथ जितना बैक ग्राउण्ड दिखाई पड़ता है उसे लाइट करके काम चला लिया जाता है। जैसे-जैसे शॉट क्लोज, मिड लाँग पहुँचने लगते हैं वैसे-वैसे बैक ग्राउण्ड लाइटिंग होती रहती है। यूं सब लाइटों की लाइटिंग कराने की कोई वैज्ञानिक विधि नहीं है। बहुत कुछ कैमरामैन के अनुभव पर निर्भर करता है। हर कैमरामैन का लाइटिंग कराने का तरीका भी अपना अलग ही वैशिष्ट्य लिए हुए रहता है।

कई बार फिल्म निर्देशक और फोटोग्राफर के सामने विचित्र परिस्थितियाँ आ जाती हैं, जिस वजह से उनको यह मालूम नहीं रहता कि उनको कौन-सा सीन शूट करना है और कौन सा शॉट पहले लेना है। दिवंगत डी. एन. मधोक एक ऐसे जुबली हिट फिल्म लेखक थे जिन्होंने पूरी स्क्रिप्ट कभी भी फिल्म निर्देशक के हाथ में नहीं दी। उनका कायदा था कि स्टेज लगने के बाद शूटिंग के लिए वे स्टूडियो में जाते और पता करते कि क्या सेट लगा हुआ है। साथ ही यह भी देखते कि कौन-कौन कलाकार शूटिंग के लिए आए हुए हैं। फिर अपनी कार में बैठे-बैठे एक या दो सीन लिखकर वे फिल्म निर्देशक को दे देते। साथ ही यह कह जाते थे- ''आप फिलहाल यह सीन तो सूट करना शुरू करो। मैं वापस दो-तीन घंटे में लौटकर आता हूँ, तब कुछ सीन और लिख लाऊँगा।''

ऐसी सूरत में न तो फिल्म निर्देशक यह कह सकता था कि मैं उसे शुरू नहीं करवाता और न ही कैमरामैन। इसलिए दोनों को ही अंगुष्ठ न्याय प्रणाली (थम्भ रुल) से ही काम लेना पड़ता था। करीब-करीब यही हालत दिवंगत सी.एम. त्रिवेदी की थी। निर्माता त्रिवेदी कभी भी नहीं चाहते थे कि निर्देशक उन पर हावी हो जाए। चूंकि लेखक वे खुद ही होते थे, इसलिए सुबह उठकर सीन लिखकर फिल्म निर्देशक को देते हुए यह कह देते थे- ''इस सीन की आज ही शूटिंग करवा लो।''

आजकल हषिकेश मुकर्जी का भी करीब-करीब यही हाल रहता है। कहानी का एक खाका बन जाता है, फिर पटकथा शूटिंग के साथ ही साथ बढ़ती जाती है। फिल्म निर्देशक जब पशोपेश में हो तो फोटोग्राफर भी थोड़ा भ्रमित (कन्फ्यूज्ड) रहता ही है। यह तरीका न तो निर्देशक के लिए अच्छा है, न फोटोग्राफर के लिए। इनको समझ ही नहीं रहती कि वे क्या और क्यों बना रहे हैं। निर्देशक से ज्यादा मुसीबत तो तब फोटोग्राफर की होती है। इसलिए भी अधिक कि उसको मालूम ही नहीं रहती है कि सीन का मूड क्या है और उसको किस तरह की फोटोग्राफी करनी चाहिए। इसलिए उसको भी अक्सर ठोकमठोक स्टाइल की फोटोग्राफी करनी पड़ती है।

## 4.11 लाइटिंग की अलग-अलग प्रक्रिया

हॉलीवुड में फिल्मांकन के लिए लाइटिंग का तौर-तरीका भारत से बिल्कुल ही भिन्न है। हमारे देश में लाइटें हाथ से उठाकर रखनी पड़ती हैं। साथ ही तरापों पर चढ़ाने के लिए एक मजबूत किस्म की मोटी रस्सी से बाँधकर ऊपर खींचना पड़ता है। इसके बाद उन्हें हुक जैसे कलैम्पों के साथ बांधकर जहाँ फिक्स करना होता है, फिक्स कर देते हैं। शूटिंग के दौरान इन्हीं को आगे-पीछे करके कैमरामैन के आदेश के अनुसार फिक्स किया जाता है। ऊपर या नीचे भी सावधानीपूर्वक की जाती हैं। लाइटों की इस तरह की सारी व्यवस्थाएँ करने में काफी वक्त तथा श्रम लगता है। चूंकि लाइटें काफी बड़ी-बड़ी और वजन में भारी होती है, इसलिए लाइटमैनों को बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। थोड़ी-सी भूलचूक हुई नहीं कि या तो लाइटें या फिर लाइटमैन या कभी-कभी दोनों के ही धराशाई हो जाने का खतरा रहता है। लाइट यदि नीचे खड़े किसी आदमी पर आकर गिर जाए तो उसके तो चोट लग ही सकती है साथ ही लाइट के फूटने से बहुत ही मुश्किल होती है। उसकी किरणें उछल कर अन्य लोगों को भी नुकसान पहुँचाएंगी। अगर लाइटमैन भूल से फिसलकर नीचे आ जाए तो उसका जीवन बचना बहुत ही मुश्किल रहता है। कारण यह होता है कि तरापे काफी ऊंचाई पर बांधे जाते हैं। फिर भी यह काम काफी जोखिमों से भरा रहता है। किन्तु मजबूरी वश लाइटमैन को इस तरह के हर खतरे को नजरअन्दाज करके यह काम करना ही पड़ता है ऐसी कई दुर्घटनाएं हो चुकी हैं। इन घटनाओं में कई लाइटमैन जान गंवा चुके हैं अथवा विकलांग होकर जीवन भर दुख भोगने को विवश हो जाते हैं। कई को तो उचित मुआवजा तक भी नहीं मिलता है।

## हॉलीवुड में

इस स्थिति के विपरीत स्थिति है हॉलीवुड में। वहाँ पर फिल्मांकन के लिए लाइटें चाहे जमीन पर लगाई गई हों चाहे ऊपर कहीं। वे पुश बटनों के जरिए संचालित (आपरेट) की जाती हैं। ये अमूमन रेलों पर लगी रहती हैं। उनको आगे-पीछे करने, सीन की जरूरत के हिसाब से ऊपर-नीचे करने के लिए आदमियों की जरूरत ही नहीं पड़ती है। शूटिंग के पूर्व कैमरामैन को एक 'शूटिंग स्क्रिप्ट' दे दी जाती है। इसी विवरण के अनुसार लाइटमैन सेट के शिड्यूल की पूरी लाइटिंग करवा देता है। ये सब लाइटें एक ट्राली से जुड़ी रहती हैं और उनको एक आदमी बटन दबाकर जरूरत के अनुरूप ऑपरेट करता है। इस तरह की जाने वाली लाइटिंग में समय की बहुत बचत होती है और एक निश्चित किये गए समय में ही शूटिंग का काम पूरा करना आसान हो जाता है। अगर फिल्म निर्देशक ने कहीं गलती से अपना शूटिंग शिड्यूल बदल दिया तो कैमरामैन शूटिंग करने से इंकार कर देता है। तब शूटिंग नहीं करने के पीछे उसका तर्क यह रहता है कि उसे सारी की सारी लाइटिंग दुबारा करवानी पड़ेगी।

हमारे देश में इस तरह की बात कहने की कोई कैमरामैन हिम्मत ही नहीं कर पाता है। वह निर्देशक पर नाराज होता रहेगा और जो भी परिस्थिति तथा साधन उपलब्ध होंगे, उन्हीं से काम चलाता रहेगा। निर्माता-निर्देशक इन स्थितियों में भी उससे बढ़िया से बढ़िया फोटोग्राफिक परिणाम चाहते हैं।

## एक और अन्तर

भारत में हॉलीवुड के फिल्म जगत में लाइटिंग के तौर-तरीके में एक और मूलभूत अन्तर है। हॉलीवुड में वहाँ की प्रथा के अनुसार हर कलाकार को एक स्टैण्ड बाई मिला हुआ होता है। यह मूल कलाकार का लगभग डुप्लीकेट ही होता है। चाहे वह नारी कलाकार हो चाहे नर। यह स्टैण्ड बाई कलाकार उसकी ऊंचाई, कद, काठी, रंग और वेशभूषा में ही नहीं बल्कि बालों की स्टाइल तक भी मूल कलाकार के अनुरूप ही रखता है। यह स्टैण्ड बाई कलाकार शॉट का रिहर्सल भी मूल कलाकार की तरह ही करते हैं और इन्हीं के जरिये मूल कलाकारों का मूवमेन्ट भी फिक्स किया जाता है। कैमरामैन इन्हीं कलाकारों की पोजीशन तथा मूवमेन्ट की गति व प्रक्रिया के अनुसार अपनी फाइनल लाइटिंग करता रहता है। मूल कलाकार दूर खड़े रहकर यह तैयारी देखते हैं व जरूरत हुई तो सुधार के निर्देश भी देते रहते

हैं। यह इसलिए किया जाता है ताकि मूल कलाकार का मेकअप एकदम फ्रेश (ताजा) बना रहे तथा रिहर्सल में उनकी सारी क्षमता (एनर्जी) खर्च नहीं हो जाए। इसके बाद स्टैण्ड बाई का काम खत्म होने पर जब मूल कलाकार आता है तब फोटोग्राफर को मामूली सा एडजस्टमेन्ट करना पड़ता है। शूटिंग भी तब फटाफट हो जाती है। इसमें समय का अपव्यय भी कभी नहीं होता है। साथ ही साथ काम भी सुचारू रूप से चल जाता है। भारत में इसके विपरीत लाइटिंग की प्रक्रिया मूल कलाकारों से रिहर्सल के समय पर ही करवाई जाती है। कभी-कभी मूल कलाकारों की अनुपस्थिति में कोई भी सहायक खड़ा होकर लाइटिंग के लिए पोजीशन दे देता है। लाइटिंग करने में जो भी समय लगता है, उस वक्त पूरे समय तक के लिए कलाकारों को तेज रोशनी के सामने खड़ा रहना पड़ता है। इन लाइटों से गरमी बढ़ जाने से कलाकार परेशान होकर थक जाते हैं। गर्मी में जी घबराने से बेचैनी भी अक्सर बढ़ जाती है। मेकअप भी पसीना आने से खराब हो जाता है। इसलिए शूटिंग के पहले हर कलाकार को अपना मेकअप दुबारा ठीक करना पड़ता है जो कई बार ठीक नहीं हो पाता है।

समय के अपव्यय को भारतीय परिस्थितियों में चाहकर भी रोका नहीं जा सकता है। इसलिए जो फिल्म 40 दिन में सामान्य रूप से बन जानी चाहिए, वह भी कभी-कभी तो 60 दिन तक भी ले लेती हैं।

अक्सर निर्माता लोग यह कहते हैं कि अमुक फिल्म निर्देशक तो बहुत ही अधिक खर्च करवाने वाला है। अमुक निर्देशक तो शूटिंग में ही काफी वक्त खींच देता है। इसके विपरीत अमुक निर्देशक तो दूसरी फिल्म को बहुत ही कम शिफ्टों में बना देता है। पैसा भी वह कम ही खर्च करवाता है। निर्माता इन स्थितियों में निर्देशक तय करते वक्त इस बात का बहुत अधिक ध्यान रखते हैं कि कौन सस्ता व जल्दी निपटाएगा। इसी तरह आम तौर पर स्लो (धीमी गति वाला) तथा फास्ट (तेज गति वाला) कैमरामैन भी वर्गीकृत कर रखते हैं, अमूमन निर्माता की नीयत सदा ही थोड़ा चालू काम निपटाने वाला हो तब भी फास्ट कैमरामैन को ही काम देने की रहती है। उसके पीछे उसका उद्देश्य शूटिंग के पांच, सात दिन का समय बचाना ही रहता है। कभी अधिक समय यदि लग भी जाता है तो निर्माता इसके लिए दोषी फिल्म निर्देशक को ही ठहराता है। इन सब स्थितियों के चलते मेरी (लेखक की) मान्यता यह रही है कि कभी भी फिल्म निर्देशक की वजह से शूटिंग शिड्यूल में

देरी नहीं होती है। उसके पास शूटिंग शिड्यूल तैयार ही रहता है। एक शॉट के समाप्त होते ही वह तो दूसरा लेने के लिए काम करता ही रहता है। देरी का कारण और जिम्मेदारी हमेशा कैमरामैन की ही होती है। कारण यह है कि लाइटिंग की जिम्मेदारी पूरी उसी की रहती है। वह ठीक से करवा लेगा तो काम में बाधा कम से कम आएगी।

## 4.12 लाइटिंग के कुछ अन्य पहलू

फिल्म-निर्देशक जब शॉट की पूरी जानकारी कैमरामैन को करवा देता है तो उसकी लाइटिंग करने की प्रक्रिया चालू हो जाती है। इसके साथ ही शूटिंग स्थल पर कैमरामैन की आवाज सुनाई पड़ती है। 10-के डब्लू. तरापे पर उसके बाद लाइटमैन दो-तीन दिन इकट्ठे होकर 10-के डब्लू. को मोटी मजबूत रस्सी से बाँधते हैं। फिर एक जन तरापे पर चढ़कर लाइट को रस्से के जरिए ऊपर खींचता है। खींचने के बाद उसे क्लैम्प पर फिक्स करके अच्छी तरह लगा देता है। फिर लाइट का बटन ऑन कर दिया जाता है। लाइट जलने के बाद कैमरामैन फील्ड में लाइटिंग देखकर लाइट में दायें-बायें, ऊपर-नीचे करने का आदेश देता है। लाइट मैन, कैमरामैन के आदेशों पर लाइट को ऊपर-नीचे दायें-बायें घुमाते रहते हैं। अक्सर कैमरा मैन यह आदेश बहुत ही बेतकल्लुफी से देता रहता है जिससे कॉमेडी (हास्यमय वातावरण निर्मित) होती रहती हैं। जैसे कैमरामैन आदेश देगा- ''लाइट थोड़ी दायें'' लाइटमैन लाइट दाहिनी तरफ खिसका देगा। उसके बाद कैमरा मैन इधर-उधर देखेगा। फिर बोलेगा : ''लाइट जरा दो फुट बायें को'' तो लाइटमैन फिर लाइट को दो फुट बायें कर देगा। कैमरामैन को उसके बाद भी लाइटिंग पसन्द नहीं आएगी तो वह लाइटमैन को आदेश देगा कि दायें, दायें फिर कभी बायें, बायें कभी सेण्टर, सेण्टर करवा देगा। फिर लाइट को आलोचनात्मक दृष्टि से देखेगा और फिर यही प्रक्रिया दोहराता हुआ अन्त में कैमरामैन यह जुमला बोलकर छुट्टी कर लेगा-''फर्स्ट पोजिशन फिक्स।'' मतलब यह है कि हालात शुरूआत में जहाँ पर जैसी भी है वैसी ही करके लाइटें फिक्स कर दी जाएंगी।

लगभग यह प्रक्रिया फील्ड को रोशन करने के लिए काम में ली जाने वाली सभी लाइटों के साथ दोहराई जाती है। लाइटिंग होने के बाद ही शूटिंग का काम शुरू हो जाएगा। मगर जैसे ही निर्देशक ने रीटेक करने के लिए कहा-तभी कैमरामैन

फिर लाइटों को इधर-उधर घुमाना शुरू कर देगा। तात्पर्य यह है कि अगर शॉट रीटेक हुआ तो कैमरामैन मौके का फायदा उठाकर, ''सही लाइटिंग की गलतियों'' को सुधार कर उनमें फेरबदल करवाने लग जाएगा। निर्देशक की नाराजगी के बावजूद कैमरामैन दो-चार मिनट तो लाइटों को इधर-उधर करने में ले ही लेगा।

**लाइनों की बनावट** - हर लाइट कई अलग-अलग अंगों को मिलाकर एक इकाई बनती है। सबसे ऊपर एक खोल होता है जो कि लोहे का बनता है। उस खोल के अन्दर के भाग में काँच का पालिश किया हुआ एक रिफ्लेक्टर होता है। यह रिफ्लेक्टर बहुत ही तेज पॉलिश वाला होता है। जो रिफ्लेक्टर अन्दर होता है, वह लाइट के अन्दर की साइज का होता है। यह रिफ्लेक्टर आकार में गोल होता है। यह बल्ब की लाइट को एक जगह घनीभूत करके फील्ड में प्रसारित करता है। इस लाइट के मुहाने पर एक ढक्कन लगा रहता है। यह काँच का होता है और लोहे के फ्रेम में फिक्स हुआ रहता है और दूसरी ओर पर लाइट का मुंह बन्द करने की व्यवस्था रहती है। इस लाइट में रोशनी को मन्द करने, तेज करने आदि के लिए कंट्रोलर भी लगे रहते हैं। इन लाइटों को जिन डण्डों पर फिक्स किया जाता है, वह लोहे के बने हुए होते हैं। इनकी लम्बाई छह या सात फीट के करीब होती है। इन डण्डों के नीचे का पैंदा ठोस वजनदार और गोलाकार पैंदे वाला होता है। जिससे लाइट का वजन स्टैण्ड सहन कर सके और वह गिरे नहीं।

इन डण्डों में कई पेंच लगे रहते हैं। वह लाइट को पकड़ लेते हैं ताकि वह अपनी जगह से विचलित नहीं हो। छोटी-बड़ी सभी किस्म की लाइटों में इसी किस्म की बनावट होती है। अब जब अधिक शक्तिशाली लाइटें छोटी साइज में आने लगी हैं और एक-एक लाइट बोर्ड में चार-चार या छह-छह लाइटें लगी रहती हैं तब भी उनकी मूल बनावट में कोई फर्क नहीं आया है।

सिर्फ उनका वजन अवश्य कम हो गया है। इससे उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने-ले-जाने में सहूलियत होती है। पहले दस या पाँच हजार वाट की लाइटों को लाने या ले जाने के लिए 2-4 आदमियों की जरूरत पड़ती थी वहाँ इन छोटी-छोटी लाइटों का एक बोर्ड एक आदमी आसानी से ला या ले जा सकता है। इन लाइटों को करन्ट देने के लिए मोटे-मोटे केबल काम में लिये जाते हैं, मगर इन लाइटों को सीधे (डायरेक्ट) मेन लाइन से या मेन स्विच से संबंध नहीं किया जाता बल्कि इसके लिए एक अलग से ट्राली बनाई जाती है। यह ट्राली लकड़ी की बनी

होती है और उसमें प्लग स्विच की व्यवस्था रहती है। इस ट्राली में एक या एक से अधिक लाइटों को करन्ट देने की व्यवस्था रहती है। जब स्टूडियो में शूटिंग करनी हो तो यह ट्राली-स्टूडियो वाले ही शूटिंग करने वालों को सप्लाई करते हैं, मगर जब स्टूडियो से बाहर शूटिंग करनी हो तब ट्राली सप्लाई करने की जिम्मेदारी लाइटें सप्लाई करने वाले ही होती है। लाइटें सप्लाई करने वाले आम हिन्दुस्तानी कामगारों की तरह जिम्मेवारी की तरफ से बेपरवाह होते हैं। इसलिए आमतौर पर ट्राली सप्लाई करना भूल जाते हैं। इस आदत या लापरवाही की वजह से अधिकांश निर्माताओं को अपनी खुद की ही ट्रालियाँ बनवानी होती हैं।

## 4.13 कैमरे की बनावट

फोटोग्राफी करने वालों के लिए सबसे महत्वपूर्ण उपकरण होता है, कैमरा। कैमरे की बनावट लगभग आँख की बनावट के समान होती है, आँख एक गोल छोटी-सी गेंद की शक्ल की होती है, जिसका कुछ हिस्सा प्रत्यक्षतः दिखलाई देता है किन्तु अधिकांश हिस्सा आदमी के मस्तिष्क में छिपा रहता है। बाहर दिखलाई देने वाले भाग में अधिकांश हिस्सा वह हिस्सा है, जिसको 'आइबॉल' कहते हैं। आइबाल के मध्य में कुछ विशेष तन्तु रहते हैं जिनके माध्यम से प्रकाश आँख के अन्दरूनी हिस्सों में यात्रा करता हुआ रेटिना पर पड़ता है। जिस मार्ग से प्रकाश यात्रा करता है, उसके कई हिस्से में ऊपर एक पादरर्शी कवर (ओढ़नी) होता है। इसे चिकित्सक 'कॉर्निया' कहते हैं। यह कॉर्निया आइबॉल के तन्तुओं का कवर मात्र है। इस कोर्निया के पीछे लेन्स रहता है, जो तरल पदार्थ से भरा हुआ रहता है। इस लेन्स में दो तरह के रॉड्स, स्थित रहते हैं। इन रॉड्स में एक तरह की रॉड दूर के दृश्य देखने के काम में आती है, दूसरी तरह के रॉड नजदीक के दृश्य देखने में काम आती है। हमारी आँखों में इस तरह का स्वाभाविक प्रबन्ध रहता है कि नजदीक से दूर देखने से या दूर से नजदीक देखने की प्रक्रिया अपने आप हो जाती है। इसमें कोई भी वक्त का भाव नहीं होता है, कम या ज्यादा का लेन्स के पीछे पुतली रहती है, जो यह तय करती है कि कितनी रोशनी आँख के अन्दर प्रविष्ट हो और उसके मुताबिक यह प्रक्रिया (पुतलियाँ छोटी-बड़ी रहना) होती रहती है। रोशनी ज्यादा होगी तो पुतलियाँ फैल जाएंगी और रोशनी कम होगी तो संकुचित रहेंगी। सूर्यमुखी आँखो वालों की पुतली बड़ी होती है, इसलिए उनको दिन के तेज प्रकाश में देखने के लिए आँखें जोर देकर मिचमिचानी पड़ती हैं, मगर रात के समय घने अंधेरे में भी वे सुई में धागा तक भी सुविधापूर्वक पिरो लेते हैं।

आँख की गेंद यानी आइबाल के अन्दर का भाग एक नमकीन तरल पदार्थ से भरा रहता है, जो 'आइबॉल' को स्वरूप भी देता है और उसको पिचकने से रोकता भी है। प्रकाश की किरणें इस आई लिक्विड नामक तरल पदार्थ से यात्रा करते हुए आँख के पर्दे (रेटीना) पर पड़ती है। इस रेटीना के साथ एक नाड़ी जुड़ी रहती है जिसको आप्टिक नर्व कहते हैं।

यह ऑप्टिक नर्व ब्रेन (भेजा) के पीछे के भाग में स्थित ओप्थेल्मिक थेलमस से समग्रतया जुड़ी रहती है। आप्टिक नर्व द्वारा थेलमस तक पहुँचाई गई संवेदनाओं को आप क्या देख रहे हैं, यह बताता है।

एक बात और है-आँख की पुतली पर प्रतिबिम्ब उल्टा पड़ता है और ओप्थेल्मिक थेलमस इस प्रतिबिम्ब को आपको सीधा करके दिखलाता है। दूसरे मोटाई और गहराई तथा दूरियों का सही-सही निर्णय दोनों आँखों की पुतलियों पर पड़े हुए प्रतिबिम्ब के एक होने पर ही मालूम पड़ती है। एक आँख वाला इन चीजों को सही तौर पर नहीं देख पाता है।

**कैमरे की रचना का सिद्धान्त**

आँखों की रचना के इसी सिद्धान्त पर कैमरे की रचना की गई। कैमरा एक खाली डिब्बा होता है, जिसके एक छोर पर एक लेन्स लगा रहता है और पीछे के भाग में एक्सपोज फिल्म की पट्टी मैगजीन के दूसरे छोर पर सिमटती जाती हैं। लेन्स आगे रहता है और उसके ऊपर कोर्निया जैसी कोई चीज नहीं रहती। लेन्स को धूल, मिट्टी से बचाने के लिए ऊपर से अलग ढक्कन आता है। जब भी लेन्स का उपयोग नहीं हो रहा हो उस ढक्कन से लेन्स को ढक दिया जाता है। चूँकि अभी तक वैज्ञानिक ऐसा लेन्स ईजाद करने में असमर्थ रहे हैं तो अपने आप नजदीकियों से एडजस्ट कर सके, इसलिए नजदीक और दूर की शूटिंग के लिए अलग-अलग लेन्सों का उपयोग करना पड़ता है। इन लेन्सों के सन्दर्भ में हम पहले ही विस्तार से जानकारी दे चुके हैं।

लेन्स के पीछे एक शटर रहता है। इसको खोले बिना प्रकाश अन्दर नहीं आ पाएगा। यह शटर आजकल अधिकांश कैमरों में आटोमैटिक ही संचालित होता है। लाइट कितनी चाहिए, फिल्म पर बिना एंगल से कितनी पड़ेगी उसके लिए भी प्रबन्ध रहता है। इसके पीछे गेट रहता है, जिसके माध्यम से फिल्म उस गेट से पास होकर एक्सपोज होकर पीछे की तरफ बढ़ती जाती है। यह गेट रेटीना का काम करता है।

फिल्म को इस गेट तक पहुँचाने के लिए एक मैगजीन का सहारा लेना पड़ता है। इसके दो हिस्से रहते हैं जिनमें आगे के हिस्से में अनएक्सपोज्ड फिल्म रहती है और एक्सपोज होने के बाद पीछे के हिस्से में चली जाती है। मैगजीन में निगेटिव की भाषा में कैमरा लोड करने के लिए एक काले कपड़े के खोल में डालकर प्रकाश से उसको बचाते हुए निगेटिव उसमें लोड करना होता है।

मैगजीन लोड होने के बाद उसको कैमरे में फिट किया जाता है। फिल्म को गेट से पास करवाते हुए कैमरे में फिट किया जाता है। इस प्रक्रिया को 'थ्रेडिंग' कहते हैं। कैमरे में मैगजीन को चलाने के लिए कैमरे में एक मोटर लगी रहती है। यह मोटर 24 फ्रेम प्रति सेकेण्ड के हिसाब से चलती है। अगर इसकी स्पीड मोटर की स्पीड (फिक्स्ड स्पीड-24 फ्रेम) में फर्क आ गया तो फिल्म की गति धीमी या तीव्र हो जाएगी। यह दोनों ही स्थितियाँ जब तक जरूरत नहीं हो, तब तक बंद रहती हैं।

## 4.14 सारांश

इस इकाई में, कैमरे की बनावट के विषय में जानकारी दी गई। कैसे होती है फिल्म की फोटोग्राफी, यह बताया गया है। फिल्म फोटोग्राफी के विभिन्न स्तर के विवरण के साथ शूटिंग में, प्रकाश व्यवस्था के विषय में बताया गया। साथ में रोशनी के फैलाव एवं दिन में रात की शूटिंग कैसे होती है इसके विषय में बताया गया। स्वाभाविक है, जब हम शूटिंग की बात करते हैं तो शूटिंग करने वाले कैमरामैन की समस्याओं की चर्चा करनी पड़ती है तथा कैमरामैन अपनी समस्याओं को कैसे हल करता है, इसी से जुड़ा हुआ है सवाल फोटोग्राफी का और उसके तमाम पहलू जिनका समाधान अत्यावश्यक होता है। शूटिंग इनडोर हो या आउटडोर, रोशनी का आयाम अहम होता है। बिना रोशनी के या अंधेरे में, कैमरा चलाने का अर्थ क्या होगा अतः दिन की शूटिंग में, किस प्रकार लाइट का प्रयोग होता है और रात की शूटिंग में प्रकाश व्यवस्था कैसे की जाती है इसकी चर्चा विस्तार से की गई।

## 4.15 शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| 1. | ऑपरेटिंग कैमरामैन | फोटोग्राफी निर्देशक का सहायक |
| 2. | जूम लेन्स | क्लोज से वाइड या वाइड से क्लोज एक ही शॉट में जाने वाला लेन्स |

| | | |
|---|---|---|
| 3. | टेलीफोटो लेन्स | दूर की विषयवस्तु या क्लोज अप के लिए |
| 4. | वाइड ऐंगिल लेन्स | चौड़ाई या डेप्थ आफ फील्ड का लेन्स |
| 5. | फिल्टर | जिलेटिन पेपर लेन्स पर लगाया जाता है। |
| 6. | सोलर | 100 वॉट, 200 वॉट, 500 वॉट, 1000 वॉट |

## 4.16 संदर्भ ग्रन्थ


| | | |
|---|---|---|
| 1. | इलेक्ट्रानिक मीडिया और फिल्म प्रोडक्शन | राजकृष्ण मिश्र |
| 2. | फिल्म एज फिल्म | वी. पी. परकिन्स |
| 3. | सिनेमा एज एन आर्ट | जे. आर. डिबरिश |
| 4. | मूवी मुगल्स | फिलिप फ्रेन्च |
| 5. | फिल्म ऐण्ड रियलटी | राय आर्मेस |
| 6. | माय फेयर लेडी | एलेन जे लरनर |


## 4.17 प्रश्नावली

### लघुउत्तरीय प्रश्न

1. ब्रूट और सोलर में फर्क बताइये।
2. टेलीफोटो लेन्स किसलिए प्रयोग में आता है?
3. जूम लेन्स का मकसद बताएं।
4 डे फॉर नाइट शूटिंग का अर्थ बताएं ।
5. कैमरा में फिल्टर क्यों लगाया जाता है।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कैमरामैन की समस्याओं का वर्णन कीजिए।
2. लेन्स कितने प्रकार के होते हैं और उनका प्रयोग कहाँ-कहाँ किया जाता है?
3. शूटिंग के लिए प्रकाश व्यवस्था का विवरण कीजिए।
4. कैमरे की बनावट के विषय में आप क्या जानते हैं?

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(क) 100 वॉट, 200 वॉट, 500 वॉट
1000 वॉट, की लाइट को

(i) बेबी लाइट कहते हैं (ii) सोलर कहते हैं

(iii) की लाइट कहते हैं (iv) फोकस कहते हैं

(ख) निर्देशक फिल्म का कप्तान होता है और कैमरामैन—

(i) नाविक होता है (ii) राइटर होता है

(iii) मोटररिस्ट होता है (iv) मैकेनिक होता है।

(ग) क्लोजअप लेन्स सामान्यरूप से—

(i) 40-50 एम. एम. के होते हैं। (ii) 350 एम.एम. क्षमता के होते हैं।

(iii) 75 एम.एम., 90 एम.एम. और 100 एम. एम. के होते हैं।

(iv) 18 एम.एम. होता है।

(घ) फिल्म निगेटिव की क्षमता के प्रतिमान है—

(i) 100 ASA 400 ASA 1000 ASA

(ii) 50 ASA 75 ASA 1150 ASA

(iii) 60 ASA 200 ASA 1200 ASA

(iv) 300 ASA 800 ASA 1500 ASA

उत्तर -

(क) ii (ख) i (ग) iii (घ) i

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद



# खण्ड

# 04

# फिल्म का इतिहास

इकाई-1 5
विश्व फिल्म इतिहास

इकाई-2 27
फिल्मों की यात्रा

इकाई-3 52
फिल्म विकास की महत्वपूर्ण बातें

## परामर्श-समिति

| | |
|---|---|
| **प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव** | **कुलपति - अध्यक्ष** |
| **डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल** | **कार्यक्रम संयोजक** |
| **श्री एम0 एल0 कनौजिया** | **कुलसचिव - सचिव** |

## परिमापन

**1- प्रो0 राम मोहन पाठक** - वाराणसी

**2- डॉ0 अर्जुन तिवारी** - इलाहाबाद

## सम्पादन

**1- श्री राजकृष्ण मिश्र**

## लेखक मंडल

## PGDEM&FP - 02

**1- श्री राजकृष्ण मिश्र** - लखनऊ

**2- डॉ0 के0 के0 मालवीय** - इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से कुलसचिव, श्री एम0 एल0 कनौजिया, द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, मार्च 2008

मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद, मुद्रित। फोन - 2548837

## खण्ड-4 खण्ड-परिचय :

इस खण्ड में निम्नलिखित इकाइयाँ हैं :-

**इकाई - 1** 1920 से पूर्व का विश्व फिल्म इतिहास।

**इकाई - 2** विश्व में फिल्मों की गतिमय यात्रा।

**इकाई - 3** 1920 के पश्चात् विश्व फिल्म परिचय तथा विवरण

जब, हम विदेशों में हुए फिल्म के उद्‌भव एवं विकास की चर्चा करते हैं, हमें पता लगता है, सबसे-महत्वपूर्ण वैज्ञानिक एवं उनकी प्रयोगशाला का नाम था एडीसन। गहराई में जाने पर, लगता है काफी कुछ यहीं हुआ। फिल्म के मानक गेज 35 एम.एम. एडीसन ने तय किए और उसी पर फिल्में बनायी। थॉमस एडीसन ने पहला चलचित्र कैमरा भी बनाया तथा प्रोजेक्सन व्यवस्था का विकास किया।

1920 से टॉकी युग प्रारम्भ हुआ और सब कुछ बदलने लगा। अमेरिकी हॉलीवुड की व्यवस्था में अनेक परिवर्तन किए गए। उधर प्रयोगवादी फिल्मों और स्त्री सिनेमा का विकास हुआ।

## इकाई -1 सिनेमा और इतिहास

### इकाई की रूपरेखा


1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 1920 से पूर्व का फिल्मी इतिहास

1.2.1 सिनेमा की खोज में आवश्यक तत्व

1.2.2 1824

1.2.3 1832

1.2.4 1834

1.2.5 1877

1.3 19वीं सदी के अन्त में हुए प्रयोग

1.4 सिनेमा का जन्म

1.5 प्रथम स्टूडियो ब्लैक मारिया

1.6 ल्युमियर बन्धु

1.7 प्रेक्षक मशीन में उत्तरोत्तर सुधार

1.8 पहला स्थायी मूवी थियेटर

1.9 जार्ज मेलीज : फ्रांसीसी सिनेमा के जादूगर

1.10 पोर्टर की क्रान्तिकारी फिल्म 'फादर ऑफ दि स्टोरी फिल्म'

1.11 सारांश

1.12 शब्दावली

1.13 संदर्भ ग्रन्थ

1.14 सम्बन्धित प्रश्न

## 1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे—

- चलचित्र के विकास की प्रक्रिया क्या थी।
- 19वीं सदी के अन्त में, क्या नए प्रयोग किए गए।
- 1920 से पूर्व का फिल्म इतिहास क्या था।
- सिनेमा का जन्म कैसे हुआ।
- विश्व सिनेमा में ल्यूमियर बन्धु का योगदान क्या है।
- पहला स्थायी मूवी थियेटर कब बनाया गया।

## 1.1 प्रस्तावना

विश्व सिनेमा के इतिहास की जब हम बात करते हैं, संघर्ष की अविष्कार की ओर सतत् मानवीय प्रयास की कहानी है।

कई लोग सिनेमा की खोज में लगे थे। एक वर्ग था जो कैमरा तथा सम्बन्धित उपकरण की खोज के कार्य में लगा था और कई लोग चलचित्र के निर्माण में।

1920 के पूर्व मूक फिल्मों का दौर था। आपटिकल रिवॉले, जादुई चिराग, विधि प्रदर्शन, इन शब्दों का प्रयोग सिनेमा के लिए, दसियों साल तक चलता रहा। इस दौर की फिल्में, सम्पादित नहीं की जाती थीं। सम्पादन की प्रक्रिया का तब तक अविष्कार नहीं हुआ था। सम्पादन किसे कहते हैं, यह भी लोगों को मालूम नहीं था।

सम्पादन, फिल्म को क्या से क्या बना देता है, इसका ज्ञान लोगों को नहीं था। फीचर फिल्म का युग नहीं आया था, मूक फिल्मों के निर्माण के कारण, संवाद नहीं

होते थे, अतः नाटकीय परिपेक्ष्य के कथानक नहीं उठाये जाते थे। उधर डाकूमेन्ट्री का विकास तेजी से हो रहा था।

रेलगाड़ी, फायर स्टेशन, बाजार, हाट, स्कूल, कालेज, जहाँ भी भीड़ जुटती थी, उसी को आधार बनाकर डाकूमेन्ट्री वह भी बिना ध्वनि के बनाई जाती थी।

1893 में, ब्लैक मारिया मानक स्टूडियो की स्थापना हुई। वहाँ पर फिल्में बनने लगीं और एकाधिकार के लिए जमा की जाने लगीं।

1893 में ही एडीसन ने पहला शूटिंग का प्रदर्शन किया। 14 अप्रैल 1894 को, एडीसन ने, व्यापारिक ढंग से काम करना आरम्भ कर दिया और इस प्रकार फिल्म की विकास यात्रा तेजी से आगे बढ़ने लगी।

## 1.2 1920 से पूर्व का फिल्मी इतिहास

### 1.2.1 सिनेमा की खोज में आवश्यक तत्व

आपटिकल खिलौने, छाया वाले शो, जादुई चिराग, और दिखाई जाने वाले करतब, सालों-साल चलते रहे। वैज्ञानिकों ने यह देखा कि कई तस्वीरें यदि एक साथ सामने से गुजारी जाएं तो एक दृष्टि भ्रम पैदा होता है। कुछ और समय बाद तकनीकी विशेषज्ञों ने 19वीं सदी में इसे प्रयोग रूप में ले लिया। 'जादुई चिराग का बहुत प्रारम्भ का रूप 17वीं सदी में एथानासिमस किरचर (रोम) द्वारा खोजा गया। इसमें पारदर्शी चित्र एक लेन्स के जरिए एक स्क्रीन पर डाले जाते थे।

### 1.2.2 1824

थामाट्रोप (आपटिकल खिलौने के एकदम प्रारम्भिक रुप) की खोज डा0 जान एमरटन पेरिस द्वारा।

1831 - वैद्युत चुम्बकीय आकर्षण के नियम की खोज अंग्रेज वैज्ञानिक माइकल फैराडे द्वारा विद्युत पैदा करने में प्रयुक्त सिद्धान्त।

### 1.2.3 1832

फैंटास्कोप (फेनाकिस्टिस्कोप भी कहलाया) की खोज बेल्जियम खोजी जोसफ प्लेटू द्वारा की गई। इसमें एक ही वस्तु के कई चित्र लेकर उन्हें एक डिस्क के चारों ओर स्थित करके, डिस्क को एक शीशे के सामने रखकर घुमाया जाता था। देखने वाले को सारे चित्रों के हावभाव जुड़े हुए प्रतीत होते थे।

### 1.2.4 1834

एक अन्य तरीका डी डालम (सा जोट्रोप जिसे अमरीकी वैज्ञानिक विलियम लिन्कन ने नाम दिया) था। इसमें एक ड्रम के अन्दर सारे चित्र लगाए जाते थे, हर चित्र के बीच झिर्री होती थी। देखने वाला इस झिर्री के द्वारा भीतर झांकता था।

**1839** स्थिर क्षणों को सिल्वर या कॉपर धातु की प्लेट पर अंकित करना। यह प्रयोग फ्रांसीसी पेंटर लुई जैम्बेसमांडे डागुरे द्वारा किया गया।

**1841** अंग्रेज खोजी विलियम हेनरी फाक्स टाल्बाट ने निगेटिव फोटो अच्छे कागज पर छापने का प्रयोग किया।

**1869** जान वेसले हयात द्वारा सेल्युलाइड विकसित हुआ 1870 में। बाद में यही फिल्म बनाने का आधार बना।

### 1.2.5 1877

फ्रांसीसी खोजी चार्ल्स इमिल रेनाड द्वारा विकसित

प्राक्सिनोस्कोप के आधार पर ड्रम बना जिसके बीच में शीशा होता था बजाय झिर्रियों के। 1890 में 15 मिनट की चलती फिल्म या घटनाक्रम का प्रदर्शन हुआ।

**1879** थामस एडिसन की पहली प्रदर्शनी अच्छे बल्ब की, जिसका प्रयोग बाद में चित्रों को 'प्रोजेक्ट' करने में हुआ।

## 1.3 19वीं सदी के अन्त में हुए प्रयोग

### 1.3.1

19वीं सदी के अन्त में अंग्रेजी छायाकार एडवर्ड मेब्रिज (1830-1904) ने दौड़ते घोड़े के कई चित्र बनाए फिर उन्हें क्रम में बिठाकर 'चलचित्र' बनाने का प्रयास किया। 1870 में कैलिफोर्निया के एक रेसकोर्स में उसने घोड़ों की विभिन्न मुद्राओं को कैद करने के लिए 12 कैमरे पूरे ट्रैक पर जगह-जगह लगाए। वह यह दिखाना चाहता था कि किसी समय घोड़े के चारों पैर जमीन के ऊपर हैं। 1877-78 में उसने 24 कैमरे लगाकर फिर यही प्रयोग किया।

### 1.3.2

माइब्रिज के चित्र 1800 के अन्त में लम्बी पट्टियों के रूप में काटकर प्राक्सिनोस्कोप में लगा दिए जाते थे। यह पहली चलचित्र मशीन थी जो कई चित्रों की श्रंखला को स्क्रीन पर दिखाती थी। माइब्रिज ने इस प्रयोग को जारी रखा। आगे चलकर उसने जूप्राक्सिस्कोप बनाया जो सीसे की चकरी पर छपे चित्रों को एक पर्दे पर प्रदर्शित करता था।

### 1.3.3

उसी समय पारसी खोजी एटीन जूल मेरी जानवरों के

गतिवान होने के चित्र लेकर उन्हें चलाने के प्रयोग कर रहा था। 1882 में, मेरी ने दावा किया कि उसने सिनेमा खोज निकाला है। उसने एक कैमरा या 'फोटोग्राफिक बन्दूक' भी बना ली जो एक सेकेण्ड में 12 चित्र ले सकती थी चलते हुए जानवरों के। इसे क्रोनो फोटोग्राफी कहा गया। फिल्म की शूटिंग अभिव्यक्ति मेरी की खोज से निकली। उसने मेब्रिज के प्रयोग से एक कदम आगे निकलकर चलते हुए वस्तु के चित्र बखूबी लिए। कई चित्र एक सीसे की प्लेट पर लिए और उससे सेल्युलाइड फिल्म बनायी जो उसके द्वारा बनाए कैमरे के पास की जा सकती थी। शीघ्र ही एक सेकण्ड में 30 चित्र लेने में वह कामयाब हुआ।

## 1.3.4

शुरू के चलचित्र (दो लघु प्रयोग किए गए जिनमें से एक ट्रैजिक क्रासिंग लीड्स ब्रिज बची रही) कैमरे द्वारा 1888 में फ्रांस में जन्मे लुई ले प्रिंस द्वारा किए गए। माईब्रिज, मेरी और ली प्रिंस के कार्यों से आगे के चलचित्र संसार को काफी बल मिला। अमरीकी खोजी जार्ज इस्टमैन ने और स्थिर प्रकार की सेल्युलाइड फिल्म ईजाद की 1888 में, जिससे कागज में लिपटी फिल्म का इस्तेमाल शुरू हुआ सीसे की प्लेटे की जगह। छोटा कोडक कैमरा तभी विकसित हुआ जिसमें फिल्म रोल इस्तेमाल होता था। 1889 में इसमें और प्रगति हुई जब छिद्रयुक्त सेल्युलायड (संश्लेषित प्लास्टिक पदार्थ जिलेटिन में लिपटा) फोटोग्राफिक पदार्थ के साथ इस्तेमाल किया जाता था।

## 1.4 सिनेमा का जन्म

### 1.4.1

1880 के अन्त में मशहूर अमेरीकी खोजी थामस एडीसन (1847-1931) और उनका युवा अंग्रेज सहयोगी विलियम केनेडी लाटी डिक्सन (1860-1935) ने पश्चिम आरेन्ज (न्यूजर्सी) में अपनी प्रयोगशाला में और नए प्रयोग किए। उसका प्रयास था गतिवान चीजों की फिल्म बनाना और इसे वापस देखने वाली मशीन बनाना। डिक्सन के नए विचारों और उनके कार्यान्वयन की तारीफ की जानी चाहिए, एडीसन ने शोध कार्यक्रम उपलब्ध कराया और अपनी प्रयोगशाला, क्रान्तिकारी कामों के लिए।

उन्होंने पहले काइनेटोफोनोग्राफ (या काइनैटाफोन) विकसित किया जिसमें फिल्म प्रदर्शन, आवाज के साथ हो सका। प्रोजेक्टर को फोनोग्राफ से एक चरखी के द्वारा जोड़ा गया किन्तु इसने बहुत अच्छा काम नहीं किया। हालांकि एडीसन को भी श्रेय जाता है शुरू के चलचित्र कैमरा और प्रोजेक्ट बनाने में मदद करने का, लेकिन ये डिक्सन ही था जिसने नवम्बर 1890 में एक काम चलाऊ कैमरा बनाया जिससे चलते-फिरते चित्र लिए जा सकें। इसे काइनेटोग्राफ कहते थे। यह मुख्य कारण था चलचित्रों की 1890 में बढ़ोत्तरी का।

### 1.4.2

मोटर-चालित कैमरा ऐसे बनाया गया था जिसमें शटर से कई काम लिये जाते थे। इसमें विद्युत धारा से मोटर चलती थी जो रील को आगे बढ़ाती थी। काइनेटोग्राफ 35 मिमी चौड़ी फिल्म इस्तेमाल करता था,

और दांते वाला पहिया होता था जो फिल्म को खिसकाता था। इन दांतों से फिल्म का नया हिस्सा शटर के सामने आ जाता था। 1892 के अक्टूबर माह में काइनेटोग्राफ में चलचित्रों के मानक स्थापित किए गए जो आज भी प्रचलित हैं। धीरे-धीरे हाथ में पकड़े जाने वाले कैमरे प्रचलित हुए क्योंकि मोटर-चालित कैमरे भारी और महंगे थे।

### 1.4.3

1891 में डिक्सन ने शुरू के चलचित्र प्रोजेक्टर की डिजाइन बनायी इसे काइनेटोस्कोप कहा गया। डिक्सन ने पहले प्रयास 'मंकीशाइन' पर फिल्म बनायी। सिलिन्डर काइनेटोस्कोप जिसने प्रयोगशाला सहायक सैको अल्बानी की गति नोट की एडीसन प्रयोगशाला मध्य-1891 की प्रयोगशाला में बनाया।

### 1.4.4

जमीन पर खड़े होना, बक्से जैसी देखने वाली वस्तु वस्तुतः एक भारी-भरकम, सिक्के से चलने वाली 'पीप शो' है। काइनेटोस्कोप का 31 अगस्त, 1897 में पेटेन्ट हुआ (एडीसन ने पेटेन्ट के लिए 1891 में अर्जी दी थी। दिखाई देने वाली वस्तु महोत्सवों, काइनेटोस्कोप पार्लर, मनोरंजन स्थलों और नुक्कड़ सभाओं में प्रचलित हुई। (1897 तक दोनों, कैमरा (काइनेटोग्राफ) और फिल्मों को देखने का तरीका (काइनेटोस्कोप) में कमी आयी थी। क्योंकि आधुनिक प्रोजेक्टर आ गए थे।

## 1.5 प्रथम स्टूडियो ब्लैक मारिया

### 1.5.1

1893 में विश्व का पहला फिल्म निर्माण स्टूडियो

ब्लैक मारिया का काइनेटोग्राफिक थियेटर, न्यूजर्सी में एडिसन की प्रयोगशाला के भूतल पर स्थापित हुआ। 1893 के मई माह में कला और विज्ञान में बुकलीन संस्थान में एडीसन ने विश्व का पहला फिल्म शूटिंग का प्रदर्शन किया। इस फिल्म में तीन लोग जो लोहार हैं, को दिखाया गया है।

## 1.5.2

पहली चलचित्र जो ब्लैक मारिया में बनी, सर्वाधिकार के लिए अगस्त 1893 में कांग्रेस की लाइब्रेरी में जमा की गयी। जनवरी 1894 के शुरू में दि एडीसन काइनेटोस्कोपिक रिकार्ड आफ ए स्नीज़ (या फ्रेड आर स्नीज) डिक्सन द्वारा बनायी फिल्मों में से एक थी। यह लघु फिल्म प्रचार के लिए बनायी गयी थी जो 'हार्पर के सप्ताह पर' आधारित थी।

## 1.5.3

ब्लैक मारिया पर शूटिंग हुई पहली फिल्में बिना कहानी के, बिना सम्पादित, केवल डाक्यूमेन्ट्री, सड़क के किनारे के दृश्य, एक पुलिस वाले या अग्नि शमन अधिकारी की गतिविधियां या एक रेलगाड़ी की फिल्म ही होती थीं। ('ब्लैक मारिया' स्टूडियो यूनिवर्सल के हास्य चित्र, एबाट और कास्टेलो की स्टोन काप्स से मिलते हैं- 1955 में वर्णित है)

## 1.5.4

14 अप्रैल 1894 को शनिवार को एडिसन के काइनेस्टोस्कोप ने व्यावसायिक कार्य प्रारम्भ किया। हालैण्ड बन्धुओं ने पहला काइनेटोस्कोप पार्लर 1155

बाडवे, न्यू यार्क शहर में खोला। उन्होंने व्यावसायिक रुप से फिल्में दिखायीं जैसा कि हम आज देखते हैं। दर्शकों ने 25 सेंट दिए दो पंक्तियों में रखे पांच काइनेटोस्कोप से फिल्में देखने के लिए। लगभग 500 लोग सिनेमा के पहले दर्शक हुए। फिल्में जो दिखाई गयी थीं—बार्बर शॉप, ब्लैकस्मिथ्स, काक फाइट, रेसलिंग, और ट्रैपीज़। एडिसन का फिल्म स्टूडियो से रोमांचक फिल्में निकल कर आयीं और काइनेटोस्कोप पार्लर दूसरे शहरों तथा सैन फ्रांसिस्को, अटलांटिक शहर, शिकागो में खुले। शुरू में काइनेटोस्कोप पार्लर में दर्शक आश्चर्यचकित होते थे इन फिल्मों को देखकर जो 30 से 60 सेकेण्ड की होती थीं। आती हुई ट्रेन या परेड, नृत्यरत स्त्री, कुत्ते, चूहों पर झपटते हुए, आदि दृश्य रोमांच पैदा करते थे। 1895 में एडीसन ने हाथ से रंग भरी हुई फिल्में तथा मनोबल, द डान्सर अटलांटा, जार्जिया के काटन स्टेट प्रर्दशनी में प्रदर्शित की। एडीसन की 1896 की फिल्मों में से एक दि किस में इर्विन और जान सी. राइस ने चुम्बन का दृश्य फिल्माया। इससे आहत होकर डिक्सन ने एडीसन को छोड़ दिया। अपनी कम्पनी बनाने के लिए 1895 में यह कम्पनी अमरीकी म्यूटोस्कोप कं0 कहलाई।

## 1.6 ल्युमियर बन्धु

### 1.6.1

फ्रांस के प्रतिभावान ल्युमियर बन्धु लुई और ऑगस्ट (जो आधुनिक फिल्मों के संस्थापक पिता कहलाए) एक ल्यान फैक्टरी में काम करते थे जो फोटोग्राफी के उपकरण बनाती व आपूर्ति करती थी। वे लोग एडीसन के

काम में काफी प्रोत्साहित थे। उन्होंने अपना कॉम्बो मूवी कैमरा और प्रोजेक्टर बनाया। यह अधिक सरल, हाथ में ले जाने वाला और हल्का था। कई लोग इससे फिल्म देख सकते थे। इसे सिनेमेटोग्राफ कहा गया और फरवरी 1895 में पेटेन्ट किया गया। बहु-उद्देशीय उपकरण, कैमरा, प्रिंटर और प्रदर्शित की जाने वाली क्षमताएँ फायदेमंद थीं क्योंकि बहुत से दर्शक इससे लाभान्वित हो सकते थे। 35 मिमी. की फिल्म इस्तेमाल की जाती थी। जिसकी गति 16 चित्र प्रति सेकेण्ड होती थी। 1920 में बोलती फिल्में आने से 24 चित्र प्रति सेकण्ड मानक बना।

## 1.6.2

ल्यूमियर के कैमरा-प्रोजेक्टर तन्त्र का पहला जन प्रदर्शनी मार्च 1895 में हुआ। 'वर्करस लीविंग द ल्युमियर फैक्ट्री' फिल्म ने रोमांच पैदा कर दिया जबकि इसमें कुछ यथार्थ जैसे फैक्टरी कर्मी घर जाते हुए या लंच के लिए जाते हुए से ज्यादा कुछ न था।

## 1.6.3

जैसा कि स्वीकार किया गया, सिनेमा 28 दिसम्बर 1895 को जन्मा, पेरिस में। सैलोन इंडियन, ग्रैंड कैफे, पेरिस में ल्युमियर ने पहली व्यावसायिक फिल्म की प्रदर्शनी की। 20 मिनट का 19 लघु फिल्मों का कार्यक्रम हुआ। दि स्प्रिंकलर स्प्रिंकिल्ड, वाटर और वाटर्ड, ल ऐरासर एरोज आदि। फैक्ट्री श्रमिक की गतिविधियां, घोड़ागाड़ी का चलना, ट्रेन का स्टेशन पहुंचना आदि दृश्यों सके फिल्मांकन चाव से देखने जाते थे।

## 1.7 प्रेक्षक मशीन में उत्तरोत्तर सुधार

बर्लिन, जर्मनी में दो भाई एमिल और मैक्स स्क्लाडानोस्की ने अपनी ही खोज की फिल्में दिखाने की, नवम्बर 1895 में। 1895 में ही अमरीकी खोजी मेजर बुडविल लाथम ने एक लोकप्रिय प्रोजेक्टर ईजाद किया। इसे इडोलोस्कोप या पैनोप्टिकान प्रोजेक्टर कहा गया। सबसे ज्यादा जो ताजातरीन बात थी वह इसका लाथम लूप थी। यह दांतेदार पहिए से फिल्म को होने वाले नुकसान से बचाता था। यह तीन मिनट से अधिक देर तक फिल्म चलने में भी मदद करता था। (लूप आज भी फिल्मी कैमरा और प्रोजेक्टर में इस्तेमाल होता है। अमरीकी खोजी थामस अर्मर और चार्ल्स फ्रांसिस जेन्किंस ने 1895 में फैंटास्कोप विकसित किया जो पर्दे पर प्रदर्शन की एक परिमार्जित तकनीक थी। सितम्बर 1895 में उन्होने अटलांटा काटन स्टेट एक्सपोजीशन में प्रदर्शन किया और इसे पेटेन्ट कराया।

लन्दन में जनवरी 1896 में बर्ट एकर और राबर्ट डब्लू पॉल ने भी फिल्में दिखाने की मशीन बनायी। पॉल ब्रिटेन का पहला मशीन निर्माता, साथ ही बड़ा फिल्म निर्माता हुआ। 1896 में एडीसन की कम्पनी (जो एक अच्छा प्रोजेक्टर नहीं बना पायी थी) ने अर्मर की संशोधित प्रोजेक्शन मशीन (फैंटास्कोप) खरीद ली। इसे वीटास्कोप नाम दिया गया। 23 अप्रैल 1896 को न्यूयार्क सिटी में कोस्टर और बियाल के संगीत कक्ष में दर्शकों ने एडिसन की कम्पनी का वीटास्कोप प्रोजेक्टर पर देखा।

## 1.8 पहला स्थायी मूवी थियेटर

फिल्में बराबर वैरायटी शो के रूप में दिखाई जाती

थीं, ज्यादातर समारोह या महोत्सवों में। दर्शकों को बड़े थियेटर की जरूरत महसूस हो रही थी। शुरू के सिने थियेटर परिवर्तित गिरजाघर या छत थे जो एक रील 10-12 मिनट की (यही प्रोजेक्ट की तब क्षमता थी) दिखाते थे। शुरू की फिल्में यथार्थ को दिखाती थीं या दृश्य को।

1897 में पेरिस में पहली सिनेमा की इमारत बनी जो सिर्फ फिल्म प्रदर्शन के लिए बनी थी। 1902 तक दोबारा ऐसा न हुआ। 1902 में लॉस एंजेल्स में थामस एल. टैली के भवन में 200 सीटों का थियेटर बना कर अमरीका का पहला सिनेमा घर था। 1898 तक ल्युमियर की कम्पनी ने छोटी-छोटी 1000 फिल्में बनायीं।

## 1.9 जार्ज मेलीज : फ्रांसीसी सिनेमा के जादूगर

### 1.9.1

तकनीकी उपलब्धियों के अलावा एक और फ्रांसीसी जार्ज मेलीज़ ने अपनी कल्पना से फिल्मों के विकास में योगदान दिया। जब ल्यूमियर बन्धुओं ने सिनेमेटोग्राफ उन्हें नहीं बेचा तब उसने अपना कैमरा (काइनेटोग्राफ का एक संस्करण) बनाया और यूरोप का पहला फिल्म स्टूडियो 1897 में बनाया। उसने करीब 500 फिल्में बनायी (एक रील वाली) 15 सालों में और उन्हें अपने ही थियेटर में दिखाता था। 1911 के अन्त में उसने फ्रांसीसी फिल्म कम्पनी पाथे से करार किया अपनी फिल्मों के वित्त पोषण और वितरण के लिए। 1913 में वह इस धंधे से बाहर हो गया।

एक कल्पना से परे जाने वाला और स्टेज का जादूगर, मेलीज ने 14 मिनट की वैज्ञानिक फिल्म बनायी

ले वोयेज, डास, ला लूने- चन्द्रमा की सैर (1902), यह उसका सर्वश्रेष्ठ व लोकप्रिय काम था। चांद पर जाने की कल्पना को उसने साकार रूप में दिखाने का प्रयास किया था। मेलीज़ ने अच्छी कहानियों, कथानक, चरित्र विकास, कल्पना, कल्पनातीत, ट्रिक छायावादी, शीशे का प्रयोग, धीमीगति, रोक देना, आदि प्रयोग भी किए। हालांकि वह नए तरीकों का इस्तेमाल करता था किन्तु कैमरा स्थिर रहने से एक कोण से ही चित्र बनता था।

## 1.9.2 अमरीकी प्रयोग -

1800 के अन्त में और 1900 के शुरू में अमरीका में सिने जगत में काफी सुधारवादी प्रयोग हुए जब एडीसन कं0 और उभर रही कम्पनियों से सीधे प्रतियोगिता में आ रही थी। फिल्मों के निर्माण की मुख्य कम्पनियाँ ज्यादातर पूर्वी तट पर थीं।

## 1.9.3 एडिसन कम्पनी :-

इसने फिल्में बनाना 1891 में शुरू किया काइनेटोस्कोप से। इसका मुख्यालय वेस्ट आरेन्ज, न्यू जर्सी में था। बाद में एडिसन ने अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए दूसरों से पेटेन्ट खरीदना, उन्हें जलील करना, आदि हर हथकण्डा अपनाया।

## 1.9.4 अमरीकी क्यूटोस्कोप कं0

1895 में न्यूयार्क में विलियम के0 एल0 डिक्सन, हर्मन कास्टर, हैरी मार्विन और इलियास कूपमैन द्वारा स्थापित, उनकी प्रथम चल चित्र मशीन क्यूटोस्कोपी थी। फिल्म की जगह इसमें ड्रम पर लेग चित्र चलने पर एक घूमती हुई फिल्म का आभास देते थे। इसके बाद एक

प्रोजेक्टर-बायोग्राफ आया। यह 1896 में न्यूयार्क सिटी में प्रदर्शित किया गया। एक कैमरा क्यूटोग्राफ जिसमें दांते नहीं होते थे। चल-चित्रों में इस्तेमाल होता था। हाल ही में एक मशहूर सर्वाधिक लोकप्रिय कं0 हुई अमरीका की। एडिसन ने इनके खिलाफ 1898 में कानूनी लड़ाई छेड़ी। अमेरिकन क्यूटोस्कोप एण्ड बायोग्राफ कं0 1899 में बनायी। 1903 में उन्होंने 35 मिमी. (70 मिमी. के बजाय) पर फिल्म बनाना शुरू किया। डी. डब्ल्यू. ग्रिफिथ को 1908 में (जो शान्त फिल्मों का सिरमौर हुआ) को साथ लिया गया और नया नाम बायोग्राफ कं0 रखा गया 1909 में।

### 1.9.5 अमरीकी विट्राग्राफ कं0 1896

ब्रिटेन में जन्मे अमरीकी जे. स्टुआर्ट ब्लैकटन और अल्बर्ट ई. स्मिथ द्वारा बनायी गयी थी। इसकी पहली फिल्म थी दि हर्डलर आन द रूफ जो 1897 में बनी और प्रदर्शित हुई।

### 1.9.6

सेलिग पालीस्कोप कं0 (मूल रूप से म्यूटोस्कोप और फिल्म कम्पनी) स्थापित हुई 1896 में, शिकागो में। शुरू में कम्पनी ने हास्य और यात्रा फिल्मों में महारत हासिल की।

## 1.10 पोर्टर की क्रान्तिकारी फिल्म 'फादर आफ दि स्टोरी फिल्म

### 1.10.1

चलचित्र लम्बाई में बढ़ते जा रहे थे। खोजी एडविन एस. पोर्टर (1869-1941) जिसने 1898 में एक

संशोधित बंडनेल प्रोजेक्टर का पेटेन्ट लिया था, भी फिल्म कैमरा इस्तेमाल करता था, नई घटनाओं को दर्ज करने के लिए। पोर्टर निवासी काइनेटोस्कोप, आपरेटर्स में एक था और 1900 के शुरू में एडिसन कं0 स्टूडियो में निदेशक भी। एडिसन की कम्पनी में उसने लम्बी फिल्मों के प्रयोग किए। उसे पहली अमरीकी डाक्यूमेन्ट्री फिल्म 'दि लाइफ आफ एन अमेरिकन फायरमैन' (1903) बनाने का भी श्रेय प्राप्त है। छः मिनट की फिल्म में इधर-उधर के दृश्य फिल्माए गए थे। एडिसन दरअसल परेशान था पोर्टर की सम्पादन तकनीक से। जैसे मनोरंजन कहानी बताने के लिए क्लोजअप लेना। फिल्म सम्पादन और कथात्मक कहानी के बल पर पोर्टर ने एक बहुत महत्वपूर्ण और प्रभावशाली फिल्म बनायी। एक रील, 14 दृश्य और 10 मिनट की यह फिल्म 'दि ग्रेट ट्रेन रॉबरी (1903) एक चर्चित नाटक का रूपान्तरण थी। उसकी दृश्य फिल्म न्यू जर्सी में बनी। इसने उस समय कई मील के पत्थर गाड़े।

## 1.10.2

- यह पहली विवरण सहित फिल्म थी जिसमें कहानी भी थी, रेस, भाग दौड़, सभी कुछ (नोट पहले 21 मिनट की फिल्म किट कारसन (1903) द्वारा भी यही दावा किया गया था।)
- यह एक चौंकाने वाली फिल्म थी और दो बड़ी घटनाओं को साथ लेकर चलती थी।
- ट्रेन के अच्छे दृश्यों से भरी थी।
- यह सच्ची में एक पाश्चात्य फिल्म थी।

- यह इस बात को बल प्रदान करती थी कि फिल्म व्यावसायिक रूप से एक सशक्त माध्यम हो सकता है।
- इसमें पाश्चात्य हीरो गिल्बर्ट एम एन्डरसन (या ब्रांचो बिली) था।

एक प्रभावकारी बड़े क्लोज अप में एक डाकू दर्शकों की ओर तानकर बन्दूक चला देता है। फिल्म में घोड़े पर पीछा करना, डाकुओं की लड़ाई, ट्रेन पर भाग-दौड़ आदि दृश्य हैं।

पोर्टर ने फिल्म सम्पादन की विद्या का विकास भी किया। अभी तक की फिल्में स्टेज शो जैसी लगती थी। फिल्मों में कलाकार बिना किसी ट्रेनिंग के काम करते थे बहुत से स्टेज कलाकार ही होते थे जिन्हें अपनी आय बढ़ाने का एक और जरिया मिल गया था।

### 1.10.3 1903

दि ग्रेट ट्रेन रॉबरी (1903) 12 मिनट, निदेशक एडविन पोर्टर, पहली रचना में कहानी समेटे फिल्म जिसमें एक्शन, मारधाड़, अपराधियों की पकड़ सभी कुछ था। डाकू द्वारा दर्शकों की ओर बन्दूक चलाना रोमांच पैदा कर देता था।

### 1.10.4 1914

दि पेरितास ऑफ पालिन (1914 में शुरू)- मूल श्रृंखलाबद्ध, रहस्य से भरी श्रृंखला, हीरोइन पालिन (पर्ल व्हाइट) खरतनाक दृश्यों में।

### 1.10.5 1915

दि बर्थ ऑफ नेशन (1915) 187 मिनट, नि0 - डी डब्लू ग्रिफिथ, पहली अमरीकी कहानी पर बनी फिल्म,

सिविल वार की स्थितियों का बयान करती, विवादित किन्तु अच्छी मिसाल कायम करने वाली फिल्म, क्रास-कटिंग और सम्पादन के अच्छे प्रयोग किए गए।

## 1.10.6 इनटालरेन्स (1916)

183 मिनट (मूल 238 मिनट) नि0-डी0 डब्लू ग्रिफिथ- महान कथा पर आधारित फिल्म कथानक बेबीलोन, रोम पर आधारित, जीसस के सूली पर चढ़ने के समय का 16वीं सदी का फ्रांस और 1916 का अमरीका अमानवीयता, मानव का संग्राम, असहनीयता आदि पर चार कहानियों पर बनी फिल्म, ग्रिफिथ का दूसरा अच्छा प्रयास। यह अब तक की सबसे महंगी फिल्म (1.9 मिलियन डालर) थी। बेबीलोन की सभ्यता की झलक इसमें मिलती है, एक्स्ट्रा खूब हैं, लांग शाट, क्लोजअप, क्रास कटिंग की तकनीक से भरी थी यह फिल्म।

## 1.10.7 बोक्रेन ब्लासम्स (1919)

95 मिनट, नि0डी0 डब्लू ग्रिफिथ- मूक बढ़िया फिल्म, विवादित विषयों तथा रंगभेद और बाल समस्याओं पर फोकस, एक जवान लड़की लूसी बरा (लिलियन गिश) शराबी पिता बैटलिंग बरो (डोनाल्ड क्रिस्प) द्वारा पीटे जाने पर घर से भाग जाती है। लन्दन की एक चीनी दुकान पर वह एक युवा चीनी कवि (रिचर्ड बार्थेलमेस) से टकराती है। वह उसे छुपाकर साथ में रखता है। उसे वस्त्र पहनने को देता है। वे दोनों प्रेम में पड़ जाते हैं। लूसी के पिता को जब यह जानकारी मिलती है तो वे आग बबूला हो जाते हैं। जगह का पता लगाकर वह अपनी बेटी को मार देता है।

## 1.11 सारांश

विश्व के फिल्म इतिहास की जब हम चर्चा करते हैं तब हमें, 19वीं शताब्दी में जाना पड़ता है।

सिनेमा की खोज 1824 में या उससे पहले आरम्भ हो गयी थी। 1824 से परिणाम आना शुरू हो गए थे।

सिनेमा का आधारभूत तत्त्व होता है कैमरा। वही कैमरा जो मूवी बना सके।

सिर्फ कैमरा काफी नहीं होता है। आवश्यकता होती है, फिल्म के फिल्मांकन की, फिल्म प्रदर्शन की।

सब कुछ जैसी प्रक्रिया से हुआ था, ऐसा लगता था वह प्रक्रिया, वह नियम, वह खोज, अनेक दिनों से चल रही थी।

अन्ततोगत्वा 19वीं सदी के अन्त में प्रयोग होने लगे थे।

1882 में मैरी ने दावा किया उसने सिनेमा खोज निकला।

उधर 1880 के अन्त में मशहूर अमेरिकी खोजी एडीसन ने 1893 में विश्व का प्रथम फिल्म स्टूडियो ब्लैक मारिया बनाया तब फिल्म निर्माण का कार्य आगे बढ़ा।

अन्त में 1920 तक मूक फिल्मों का दौर चला, उसी के बाद 1920 में आवाज सहित फिल्म और 24 फ्रेम की तकनीक पेश की गई।

## 1.12 शब्दावली

| | |
|---|---|
| शटर | कैमरा में, प्रकाश अन्दर ले जाने वाला हिस्सा, जो खुलता-बंद होता रहता है। |

| | |
|---|---|
| ब्लैक मारिया | विश्व का पहला स्टूडियो |
| ल्यूमियर बन्धु | फ्रांस के थे, इन्होंने प्रथम फिल्म प्रदर्शन किया। |
| मूवी कैमरा | जिससे चलचित्र खींचा जाता है। |
| प्रोजेक्टर | इससे, फिल्म का प्रदर्शन किया जाता है। |
| पहला स्थायी मूवी थियेटर | 1897 में पेरिस में बना। |
| एडीसन कम्पनी | 1891 में फिल्म बनाना आरम्भ किया। |

## 1.13 संदर्भ ग्रन्थ


—इलेक्ट्रानिक मीडिया और फिल्म प्रोडक्सन राजकृष्ण मिश्र

—फिल्म ऐज फिल्म वी0 पी0 परकिन्स

—सिनेमा ऐज ऐन शार्ट जे0 आर0 डिबरिक्स, रैल्फ स्टीफेन्सन

—मूवी मुगल्स फिलिप फ्रेन्च

—माय आटो बाय ग्राफी चार्ल्स चैपलिन

—माय फेयर लेडी ऐलन जे लरनर

—कम्टेमपोरी सिनेमा 1945-1963 पेनीलोप हाऊस्टन

—फिल्म ऐण्ड रियल्टी राय आर्मस


## 1.14 सम्बन्धित प्रश्न

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पहले, सबसे पूर्व, विश्व का प्रथम स्टूडियो कब बना था और उसका नाम क्या था?
2. एडीसन कम्पनी क्या करती थी और यह कब बनाई

गई ?

3. ल्यूमियर बन्धु का क्या योगदान था?

## दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 1824 से 1895 तक का फिल्म का इतिहास एवं उसकी विवेचना कीजिए।

2. पहला मूवी कैमरा कब बनाया गया उसमें कितना समय लगा और उससे पहले क्या प्रयोग किए गए।

3. 1900 से 1920 तक किस प्रकार की फिल्में बनती थीं, उनका विवरण कीजिए।

## वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(क) पहली वैज्ञानिक फिल्म —

(i) 1900 में बनी थी

(ii) 1902 में बनी थी

(iii)1912 में बनी थी

(vi)1950 में बनी थी

(ख) पहली वैज्ञानिक फिल्म का नाम था—

(i) चन्द्रमा की सैर

(ii) सूर्य का गोला

(iii) मंगलग्रह

(vi) जूपिटर की सैर

(ग) द ग्रेट ट्रेन रॉबरी, फिल्म

(i) 1905 में बनी थी

(ii) 1924 में बनी थी

(iii)1903 में बनी थी

(vi)1908 में बनी थी

(घ) डी0 डब्लू0 ग्रिफिथ ने बर्थ ऑफ नेशन फिल्म —

(i) 1915 में बनायी थी

(ii) 1928 में बनायी थी

(iii)1908 में बनायी थी

(vi)1945 में बनायी थी

उत्तर — (क) (i) (ख) (i) (ग) (iii) (घ) (i)

# इकाई-2 फिल्मों की यात्रा

## इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 फिल्म का जन्म

2.3 मूक युग

2.4 मूक युग और विश्व की फिल्में

2.5 ध्वनि का उद्योग पर प्रभाव

2.6 1940 युद्ध और युद्ध के बाद का समय

2.7 1950 के बाद

2.8 1960 का युग

2.9 1970 का युग

2.10 हिट फिल्में और बी0सी0आर

2.11 डिजीटल युग

2.12 सारांश

2.13 शब्दावली

2.14 संदर्भ ग्रन्थ

2.15 सम्बन्धित प्रश्न

## 2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे–

- फिल्मों का जन्म कैसे हुआ।

- तकनीकी पूर्वज कौन थे और उनका योगदान क्या था।
- एडीसन की प्रयोगशाला में क्या होता था।
- फिल्म प्रोजेक्सन का कार्य कब और कैसे, आरम्भ हुआ।
- हालीवुड का प्रादुर्भाव कैसे हुआ।
- ध्वनि का उद्योग पर क्या प्रभाव पड़ा और उससे क्या क्रांतिकारी परिवर्तन आए।
- ध्वनि का रचनात्मक प्रभाव क्या था।
- विश्व युद्ध और उसके बाद की स्थिति।
- 1950 के दशक में क्या हुआ।
- 1960 के दशक की स्थिति क्या थी।
- 1970 में क्या प्रयोग हुए।

## 2.1 प्रस्तावना

विश्व फिल्म का इतिहास, जिस तकनीकी दौर से गुजरा, उसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) कैमरा का आविष्कार।

(ii) फिल्म पट्टी की खोज– रॉ स्टाक कहा जाता है इसे।

(iii) फिल्म निर्माण तकनीकी विकास

(iv) फिल्म निर्माण की प्रक्रिया को, स्वयं तीन भागों में बांटा जा सकता है-

(A) डाकूमेन्ट्री, कवरेज का युग यह, मूक हुआ करती थी।

(B) मूक फीचर फिल्मों का युग

(C) ध्वनि का प्रयोग

ध्वनि का प्रयोग फिल्मों में 1920 में आरम्भ हुआ और उसी के साथ आधुनिक फिल्मों के युग के प्रवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हुई।

सबकुछ निरन्तर हो रहा था। सिनेमा से दर्शक जुड़ चुके थे और उसी के साथ व्यापार ने अपनी पकड़ बना ली थी।

## 2.2 फिल्म का जन्म

फिल्मी इतिहास पर नजर डालने से पता चलता है कि सिनेमा अपने प्रारम्भिक दौर से तरक्की करके आज कहां पहुंच गया है। फिल्में 19वीं सदी में प्रारम्भ होकर आज उनका प्रभाव कला, तकनीक और यहां तक की राजनीति में भी देखने को मिलता है।

### 2.2.1 फिल्मों का जन्म - तकनीकी पूर्वज

सदियों तक मनुष्य दो आधारभूत चीजों से जूझता रहा– प्रकाश द्वारा चित्रों का फैलाव (कैमरा और कारामाती लालटेन की मदद से), और चित्रों के लगातार क्रम बनाने की विधि का प्रयोग (जोट्रोप की मदद स) 1830 में प्रयोग में आया। लगातार खोज से 19वीं सदी के मध्य में सारी चीजें पटरी पर आ पायीं।

फिल्मों का जन्म वस्तुतः एक धीमी गति से चलने वाली प्रक्रिया थी जो दशकों में अपने पूर्ण-सुधरे रूप में सामने आयी। इसमें यूरोप, अमरीका, इंग्लैण्ड हर देश के लोगों का सहयोग रहा जो 1860 से इस क्षेत्र में प्रयासरत थे। एडवर्ड माइब्रिज, लुई ले प्रिंस और ओटोमार एन्सचुज

उन प्रमुख व्यक्तियों में से थे जिन्होंने जल्दी-जल्दी बदलती तस्वीरों की श्रृंखला को उभारने की मशीन विकसित की। जार्ज इस्टमैन, इस्टमैन कोडक का अमरीकी संस्थापक, हनीबल गुडविन और विलियम फाइल ग्रीन – सभी ने फिल्मों के प्रारम्भिक प्रारूप पर काम किया है।

## 2.2.2 दर्शकों के लिए तैयार

डब्लू0 के लारी डिक्सन, एडीसन प्रयोगशाला में एक शोधार्थी को फिल्म के निगेटिव बनाने का श्रेय जाता है। 1894 में थामस एडीसन ने काइनेटोग्राफ का इस्तेमाल किया। यही पहला चलचित्र कैमरा था। उसने काइनेटोस्कोप भी बनाया जिसमें एक बिजली का मोटर लगता था। प्रकाश की सहायता से पारदर्शी फिल्म के चित्र एक शीशे पर दिखाई देते थे। लोग छेद से इन चित्रों का अवलोकन करते थे। काइनेटोस्कोप पार्लर में 50 फिट की फिल्म डिक्सन बना कर देते थे अपने 'ब्लैक मारिया' स्टूडियो में बनाकर। ये फिल्में सामान्यतया किसी नट की हरकतों का क्रम या संगीत के कार्यक्रम की झलक होती थी या मुक्केबाजी का प्रदर्शन। काइनेटोस्कोप जल्द ही लोकप्रिय हुए और यूरोप तक फैले।

## 2.2.3

एडीसन का मत था कि उसका इस क्षेत्र में एकाधिकार है क्योंकि एक उसी के पास कैमरा था। दो ग्रीक व्यक्ति राबर्ट पॉल, एक अंग्रेज बिजली का काम करने वाला और हॉटन गार्डेन, लंदन का एक उपकरण बनाने वाला सभी ने उसे काइनेटोस्कोप की एक प्रतिमूर्ति बनाने को कहा। आश्चर्यजनक था कि अभी तक एडीसन ने अपनी खोज को इंग्लैण्ड में पेटेन्ट नहीं कराया था। ऐसे में एक फिल्म

जार्ज मेलीज तक पहुंची। चूंकि इन फिल्मों की आपूर्ति काफी कम थी, पॉल ने बर्ट एकर की मदद से एक अन्य कैमरे की खोज की। उनकी पहली फिल्मों में एक डर्बी भी थी जो वेल्स की रानी के घोड़े द्वारा जीता गया था।

## 2.2.4

एडीसन ने प्रोजेक्शन या प्रसारण का कोई नया विचार प्रस्फुटित नहीं किया। पॉल ने यह विचार पकड़ा और एक फिल्म प्रोजेक्टर बनाया जिससे 1895 में जनता में प्रदर्शन हुआ। ठीक उसी समय जब आगस्त और लुई ल्यूमियर जो कि काइनेटोस्कोप से उत्साहित थे, ने सिनेमेटोग्राफ की खोज की। यह एक आसानी से ले जाया जा सकने वाला थ्री इन वन कैमरा, डेवलेपर और प्रोजेक्टर था। देर 1895 में फ्रांस में ल्यूमियर बन्धुओं ने पैसे लेकर फिल्मों का प्रोजेक्शन शुरू कर दिया था। वे जल्द ही लोकप्रिय हुए। 6 माह के अन्दर एडीसन अपने वीटास्कोप के साथ उनसे जा मिला। निकोला टेसला जो कभी एडीसन के साथ काम करता था ने रेडियो की खोज की। उसके नाम पर टेस्ला क्वॉयल बनी जो रेडियो में इस्तेमाल हो रही है।

इस समय फिल्में अस्थायी स्टोररूम, बरामदे आदि में दिखा दी जाती थी। शुरू में फिल्में एक मिनट का शॉट होती थीं और एक ही दृश्य होता था। यह कोई सार्वजनिक घटना, कोई खेल भी हो सकता था। सिनेमा की तकनीक उसमें कम या न के बराबर होती थी। कोई सम्पादन नहीं, कैमरे की गतिशीलता भी नहीं। सीधी सपाट स्टेज की घटना जैसी। धीरे-धीरे यही बढ़कर शताब्दी के अन्त तक काफी बड़े और परिवर्धित रूप मे सामने आयी।

## 2.3 मूक युग

खोजी शुरू से लगे थे कि चित्र और आवाज का मिलाप किस प्रकार किया जाए। किन्तु देर 1920 तक कोई प्रायोजित तरीका इजाद नहीं किया जा सका। इसलिए पहले 30 वर्षों के इतिहास में फिल्में मूक ही रही। संगीत ने पहले प्रवेश किया या ऐसा ही कुछ मिलता-जुलता संगीत का प्रभाव। वार्तालाप या संवाद तो काफी बाद में आया।

### 2.3.1 तकनीक प्रारूप का प्रारम्भिक विकास

पेरिस स्टेज जादूगर जार्ज मेलीस ने 1896 में फिल्म बनाना व प्रदर्शित करना शुरू किया। फैंटेसी उसका पसन्दीदा विषय था। ए ट्रिप टू द मून 1902 में बनी। यह अन्तरिक्ष के बारे में बनी पहली फिल्म थी। उसने विशेष तकनीकी प्रभावों का इसमें इस्तेमाल किया। फिर 15 मिनट की फिल्में बनने लगीं, जिनमें कुछ कथानक भी होने लगा।

एडविन एस0पोर्टर, एडिसन के प्रमुख निर्देशक हो गए। उन्होंने फिल्म संपादन की अच्छी तकनीक विकसित की जो 'लाइफ आफ एन अमेरिकन फायरमैन' दोनों ही फिल्में 1903 में बनीं। पोर्टर ने यह पाया कि बल्कि उसे कैसे शूट किया गया है, वह तकनीक है।

इन बातों से निकिल ओडियनों (शुरू के फिल्म थियेटर) में भीड़ बढ़ना शुरू हुई। कुक (1990) के अनुसार 1908 तक अमरीका मे 10,000 ऐसे थियेटर थे। शुरू में उपेक्षित फिल्म उद्योग अब पसन्द किया जाने लगा था और लोगों में अपनी जगह बना रहा था। फ्रांस की पाथ फ्रेस क0 पेटेन्ट और थियेटरों की मालकियत

बटोरकर फिल्म उद्योग पर हावी हो गयी। अमरीका में एडिसन ने भी मोशन पिक्चर पेटेन्ट क0 के द्वारा यही काम करने का प्रयास किया। (पारकिन्सन 1995)।

### 2.3.2 फिल्म एक कला

फिल्म की सामान्य लम्बाई एक रील होती थी जो 10-15 मिनट की होती थी। क्वीन एलिजाबेथ (फ्रांस, 1912), क्वो वाडिस (इटली, 1913) और कैबिरिया (इटली 1914) की बाक्स ऑफिस सफलता के बाद एकदम क्रान्ति हुई।

उधर अमरीका में डी डब्लू0 ग्रिफिथ अपनी ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि वाली कहानी से 'दि बर्थ ऑफ ए नेशन (1915) और 'इन टालरेन्स' (1916) से उद्योग में धाक जमा रहे थे। सम्पादन की तकनीक व कहानी को कहने की क्षमता का विकास भी शनैः शनैः हो रहा था।

साहित्य रचनाओं को आधार बनाकर फिल्म बनाना तो आम बात थी ही। इन फिल्मों के माध्यम से फिर मध्य वर्गीय लोगों को आकर्षित करने के तरीके ढूंढे जाने लगे; ऐसा इसलिए की मध्यवर्ग में लोकप्रिय होने से ही पकड़ बनती थी, एक पहचान बनती थी। 20वीं सदी का प्रादुर्भाव भी यहीं से हो चुका था।

### 2.3.4 हॉलीवुड उत्सव

अभी तक फ्रांस और इटली का सिनेमा विश्व में लोकप्रिय और मजबूत होता जा रहा था। अमरीका भी अधिक मजबूती पकड़ सका प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) के बाद जब यूरोपीय फिल्म उद्योग में उसकी घुसपैठ हुई। अमरीकी उद्योग या हालीवुड कैलीफोर्निया में फिल्म गतिविधियां बढ़ने से काफी लोकप्रियता प्राप्त कर सका।

हालीवुड विश्व के लिए फिल्म बनाने वाली फैक्ट्री के रूप में मशहूर हुआ। यहीं से विश्वभर के देशों को फिल्में निर्यात होने लगीं और वहीं से सारा नियंत्रण किया जाने लगा।

1920 तक अमरीका 800 फीचर फिल्में वार्षिक बनाने वाला नं0 एक देश हुआ। यह विश्व के कुल फिल्म उत्पादों का 82% शेयर ले गया (आई मैन 1997)। चार्ली चैपलिन और बस्टर कीटन की कॉमेडी, डोगला फेयरबैंक के रोमांच और क्लारा बो का रोमांस ये सब मसाले विश्व भर में सिनेमा को लोकप्रिय बना रहे थे।

फिल्म बनाने की सलाहिमत पश्चिम से धीरे-धीरे पृथ्वी के दूसरे हिस्सों में गतिवान हुई। हालांकि जापान जैसे देशों में इसका प्रवेश बहुत थोड़ा या न के बराबर हुआ।

यह विस्फोट वस्तुतः स्टूडियो तन्त्र को विकास से जुड़ा हुआ था। स्टूडियो में अच्छी तकनीक और कुशल प्रणाली स्थापित करने की होड़ सी चल रही थी जिससे बड़ी तेजी से विकास देखने को मिल रहा था। फिर व्यावसायिकता ने भी अपने पाँव पसारना शुरू किया क्योंकि अच्छी तकनीक व उपकरण लगाने के लिए पूंजी की आवश्यकता हुई। पूंजी कमाने के लिए ग्लैमर को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करना जरूरी हो गया।

## 2.4 मूक युग और विश्व की फिल्में

किन्तु अभी हॉलीवुड मजबूती नहीं पकड़ सका था। दूसरे केन्द्र भी काम कर रहे थे और अपना स्थान भी बनाए हुए थे।

उदाहरण के लिए जर्मनी। जर्मनी अमरीका का प्रतिद्वन्दी

था। जर्मन अभिव्यक्ति के मामले में बाजी मारे हुआ था।

अभी-अभी जन्मा सोवियत सिनेमा अपने आप में मौलिक था अपने खुद खोजी और नए प्रयोगों से। सम्पादन की कला विकसित करने में सोवियत संघ आगे रहा। सर्गेइ आइन्सटीन ने कुछ प्रयोग किए तकनीक, सम्पादन, शूटिंग को लेकर जो काफी लाभप्रद रहे और दर्शकों द्वारा पसन्द किए गए।

प्रयोगवादी छोटी फिल्में पसन्द की जा रही थीं जिसमें यथार्थ उजागर हो। इससे फिल्मी दुनिया थोड़े घुमाव के साथ दो पाटों में बंट गयी– लोकप्रिय फिल्म और कला फिल्म।

इसी बीच भारत में पहली लम्बी फीचर फिल्म (मूक) दादासाहब फाल्के ने बनायी। फाल्के भारतीय सिनेमा के पिता जाने जाते थे। फिल्म राजा हरिश्चन्द्र (1913) एक देशकाल से जुड़ी फिल्म थी और सराही गयी। अगले दशक से भारत में 27 फिल्में प्रतिवर्ष बनने लगी।

किन्तु मुख्यधारा में भी बदलाव व सुधार तेजी से हो रहा था। मूक फिल्मों का न बोलना सभी को खल रहा था जैसे। सिनेमेटोग्राफी की कला बढ़ती ही गयी और कैमरा अधिक गतिवान और कार्यशील हुए। अभिनय एक कला के रूप में उभरना शुरू हुआ। एफ0एम0मुरनाऊ की 'द लास्ट लाक' (जर्मनी 1926) में आयी। मूक फिल्मों का युग यहीं पर समाप्त हो रहा था।

बोलती फिल्मों की तकनीक के साथ प्रयोग दरअसल मूक फिल्मों के युग में ही शुरु हो गए थे परन्तु आवाज की रिकार्डिंग और उसे बढ़ाकर उसे पुनः प्रस्तुत करना

अभी मुश्किल हो रहा था (आई मैन, 1997)। 1926 में हॉलीवुड के स्टूडियो वार्नर बन्धुओं ने वीटाफोन प्रणाली को लगाया जिसमें छोटी फिल्में अधिक मनोरंजन और ध्वनि प्रभाव के साथ बनायी जाती थीं। असली मोड़ 1927 में आया जब वार्नर बन्धुओं ने 'दि जैज सिंगर'जारी की। यह मूक तो थी किन्तु संवाद और गाने इसमें कहीं-कहीं डाले गए थे। बाद में आयी वार्नर की ही 'दि लाइट्स आफ न्यूयार्क (1928)। यह संदेश अब फैल चुका था कि बोलती फिल्में या टाकीज ही भविष्य में दर्शक जुटा पाएंगी।

## 2.5 ध्वनि का उद्योग पर प्रभाव

### 2.5.1

परिवर्तन बहुत तेज था। 1929 के अन्त तक हालीवुड में सभी बोलती फिल्में थीं। विश्व में और स्थानों पर गति धीमी थी। प्रमुखतः आर्थिक कारणों से। सांस्कृतिक कारण भी थे चीन और जापान जैसे देशों में जहां मूक और बोलती फिल्में 1930 तक साथ-साथ बनती देखी गयीं। कुछ यादगार फिल्में जो तब बनीं है– वू यांगैंग की 'दि गाडेस' (चीन, 1934) और यासुजीरो ओजू की आई वाज बार्न, बट...' (जापान 1932)। जापान में भी मूक फिल्मों का दौर खत्म हो चला था।

### 2.5.2

आवाज का जादू बड़े-बड़े स्टूडियो में सर चढ़कर बोला। अमरीका में कुछ इतिहासकार या इतिहासज्ञ हॉलीवुड स्टूडियो प्रणाली को श्रेय देते हैं ग्रेट डिप्रेशन (पाकिन्सन 1995) जैसी रचनाओं के लिए। हॉलीवुड की सुनहरी उम्र अब शुरू हुई थी। देर 1944 तक यह सिलसिला

चलता रहा। इसी समय अमरीकी सिनेमा तड़क-भड़क और चारों ओर लोकप्रियता से ओत-प्रोत हुआ।

बड़े अभिनेता जैसे क्लार्क गाबले, कैथरीन हेयबर्न, हम्फ्री बोगार्ट स्टार बन रहे थे। 1930 का बाल कलाकार शर्ले टेम्पुल भी उन्हीं में से एक था।

## 2.5.3 ध्वनि का रचनात्मक प्रभाव

फिल्मों में ध्वनि का जुड़ाव बराबर बढ़ रहा था। ध्वनि के साथ नए-नए प्रयोग हो रहे थे। पुराने ध्वनि उपकरणों की कुछ सीमाएं थी। फिल्मों में काम करने वालों की भीड़ बढ़ रही थी। कई मूक फिल्म निर्माता और अभिनेता परेशान थे क्योंकि उनके कैरियर को ग्रहण लग गया था। बदलाव का दौर चलता रहा। विलियम वेलमैन की चाइनाटाउन नाइट्स और दि मैन आई लव, रूबेन मैमोलियन की 'एप्लाज', एल्फेड हिचलॉक की 'ब्लैकमेल' (ब्रिटेन की पहली बोलती फिल्म), आदि यादगार बोलती फिल्में थीं। (आईमैन 1997)। तकनीकी प्रयोग आवाज या ध्वनि को और परिमार्जित करने के होते रहे।

बोलती फिल्मों ने दर्शकों पर अच्छा प्रभाव छोड़ा। संगीत ने तब पदार्पण किया। पहली संगीतमय हॉलीवुड फिल्म 'दि बॉडवे मेला डी' 1929 में बनी। यह तकनीक कोरियोग्राफर निर्देशक बस्बी बर्कले की 42nd स्ट्रीट, (1933) और डेक्स (1934) में भी देखने को मिली। फ्रांस में रेन क्लेर जैसे निर्देशक नृत्य और गीत की सम्मिलित कामेडी बना रहे थे जैसे अन्डर दि रुफ्स ऑफ पेरिस (1930) और लो मिलियन (1931), यह लहर भारत में ज्यादा देखने को मिली। जहां गीत और नृत्य की एक परम्परा कायम हुई।

डकैतों पर बनी अमरीकी फिल्म लिटिल सीजर और वोल्मैन की 'दि पब्लिक एनेमी (1931) भी गीत-संगीत के आगे फीकी पड़ने लगी। संवाद भी ध्यान देने वाली प्राथमिकता बन गए। हॉलीवुड हास्य 'दि फ्रंट पेज' (1931) या 'इट हैपन्ड वन नाइट' (1935), लिंगभेद पर बनी 'शी डन हिम रांग, 1933, या मार्क्स बन्धुओ की खिचड़ी 'डक सूप' (1933) फिल्में इसी बीच आयी। 1939 सिनेमा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण वर्ष था जब यादगार फिल्में 'दि विजर्ड आफ ओज' और 'गॉन विद द विंड' आयीं।

## 2.6 1940 युद्ध और युद्ध के बाद का समय

### 2.6.1

द्वितीय विश्व युद्ध में अमरीका का हस्तक्षेप फिल्मी संसार पर भी पड़ा। देशभक्ति वाली तो महज प्रचार वाली फिल्में भी बनी। अमरीकी प्रचार वाली फिल्मों जैसे डेस्परेट जर्नी, मिसेज मिनिवर, फारेवर एण्ड ए डे, और आब्जेक्टिव बर्मा, बनीं। युद्ध विषयक वाच ऑन द राइन (1943) बनी जिसकी स्क्रिप्ट डेशियल हैमेट ने लिखी थी। फिर भार्नटन बाइल्डर की लिखि और हिचकॉक द्वारा निर्देशित 'शैडो ऑफ ए डाउट' आयी। इसके बाद यंकी डूडल डैंडी (1942) और कासाब्लैका आयीं। बोगार्ट ने 1935 से 1942 के बीच 36 फिल्मों में अभिनय किया जिसमें दि मालटीज फैल्कन (1941) सम्मिलित थी।

### 2.6.2

युद्धकाल का प्रचार-प्रसार ब्रिटेन की फिल्मी दुनिया में भी देखने को मिला। 1941 में बनी पोर्टी नाइन्थ पैरेलेल और 1942 में 'वेन्ट द डे वेल', 1944 में दि

वे अहेड आयीं। 1942 में नेवी पर बनी फिल्म 'इन व्हिच वी सर्व ने तो विशेष अकादमी पुरस्कार भी जीता। 'दि लाइफ एण्ड डेथ आफ कर्नल ब्लिम्प' (1943), ए कैन्चरबरी टेल (1944), ए मैटर आफ लाइफ एण्ड डेथ (1946) और लारेंस ओलिवर की फिल्म हेनरी पंचम (1944) चर्चित फिल्मों में से रही।

## 2.6.3

युद्ध के दौरान फैंटेसी में भी लोगों की रुचि बढ़ी। दि मैन इन ग्रे और दि विकेड लेडी, हियर कम्स मि0 जोर्डन, हैवेन कैन वेट, आई मैरीड ए बिच, ब्लिथस्पिरिट फिल्मों में विविधता देखने को मिली। वाल ल्युटन ने वातावरण से प्रभावित कम बजट की फिल्में भी बनायीं। कैट पीपुल, आइल आफ दि डेड, 'दि बाडी स्नैचर' उसी श्रेणी की फिल्में थी। स्त्री-विषयक फिल्में नाऊ, बोयेजर, रैंडम हार्वेस्ट और मिल्ड्रेड पियर्स लोकप्रियता के शिखर पर रहीं।

## 2.6.4

1946 में आर.के.ओ. रेडियो की इट इज ए वंडरफुल लाइफ (फ्रैंक कैपरा) द्वारा निर्देशित फिल्म आयी। युद्ध से लौटे सैनिकों से प्रेरित होकर 'दि बेस्ट इयर्स ऑफ अवर लाइव्स' जैसी फिल्म बनी। मजेदार बात यह थी कि फिल्म उद्योग से जुड़े बहुत से लोगों ने किसी न किसी रूप में युद्ध में भाग लिया या सहयोग देकर वे युद्ध से जुड़े रहे। सैमुएल पुलर के विश्व युद्ध घ्घ के अनुभवों पर उभरी आत्म कथात्मक फिल्में आधारित रही जैसे 'दि बिग रेड वन। एक्टर्स स्टूडियो अक्टूबर 1947 में एलिया काजन, राबर्ट लुई, चेरिल क्राफोर्ड द्वारा स्थापित किया गया। उसी वर्ष आस्कर फिशिंगर ने 'मोशन पेंटिंग नं01' बनायी।

### 2.6.5

1943 में 'आशेशियोन' इटली में प्रदर्शित की गयी, यह नव यथार्थवाद की शुरुआत थी। 40वें दशक में और यादगार फिल्में जो आयी, वे थी बाइसिकल थीव्स, रोमः ओपन सिटी, और ला टेरा ट्रेमा। 1952 में अम्बर्टो डी जारी हुई जो नव यथार्थवाद फिल्म की आखिरी फिल्म थी।

देर 40 के दशक में ब्रिटेन में ईलींग स्टूडियो से कई हास्य फिल्में निकल कर आयीं जैसे व्हिस्की गैलोर, पासपोर्ट टु पिक्लिको, काइन्ड हार्ट्स एण्ड कोरोनेट्स और दि मैन इन द व्हाइट सूट। कैरोल रीड ने थ्रिलर आड मैन आउट, दि फालेन आइडल और दि थर्ड मैन निर्देशित की। डेविड लीन विश्व सिनेमा में एक शक्ति बनता जा रहा था ब्रीफ एनकाउन्टर, ग्रेट एक्सपैक्टेशंस और ओलिवर ट्विस्ट के साथ। मकेल पावेल और इमरिक प्रेसबर्गर अपने संरचनात्मक कार्यों की चरम सीमा का आनन्द लेते हुए ब्लैक नारसिसस और दि रेड शूज में कुलकर प्रतिभा का प्रदर्शन कर पाए।

## 2.7 1950 के बाद

### 2.7.1

हाउस यू एन अमेरिकन एकटिविटीज कमेटी ने 1950 के शुरू में हॉलीवुड की छानबीन की। हालीवुड द्वारा विरोध किया गया किन्तु छानबीन के बाद कई अनियमितताएं प्रकाश में आयीं। बहुत से अभिनेता, लेखक और निर्देशक जिनमें प्रतिष्ठित नाम जैसे चायस्की, चार्ली चैपलिन, डाल्टन ट्राम्बो भी शामिल थे। इनमें से कई यूरोप या इंग्लैण्ड को पलायन कर गए। युद्ध के बाद की शांति

फिल्मों में झलक रही थी। 'इनवेजन आफ दि बॉडी स्नैचर्स, दि वार आफ दि लार्ड्स और दि मन्चूरियन कैन्डीडेट फिल्में इसका उदाहरण हैं। युद्ध के बाद के वर्षों में हॉलीवुड में एक और चुनौती सामने आयी। रहने के कमरों में टीवी का प्रयोग हो चुका था। टीवी के लोकप्रिय होने का अर्थ था कुछ थियेटर दिवालिया होंगे और बन्द होंगे। स्टूडियो प्रणाली के खत्म होने का दंश सन्सेट बोलेवार्ड (1950) और दि बैड एण्ड दि ब्यूटीफुल (1952) में देखने को मिला।

## 2.7.2

1950 में जब कान्ह फिल्म समारोह में इसीडोर इसाउ की एक फिल्म प्रदर्शित की गयी तो इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। उस दौर में बनी गाई डिबोर्ड की बॉम्बस इन फेवर ऑफ डिसेड (1952) चर्चित रही।

## 2.7.3

बन्द हो रहे थियेटरों से त्रस्त होकर स्टूडियो और कम्पनियाँ इस प्रयास में जुट गयीं कि दर्शकों को वापस थियेटर तक कैसे लाया जाए। इसके लिए पर्दे का नया प्रारूप तय किया गया। सिनेमास्कोप जो 1967 तक 20th सेन्चुरी फॉक्स का एकाधिकार था और फिल्मों जैसे 'दि रोब' में भी देखने को मिला। विस्टा विजन, सिनेरामा ने बाजार में नयी जगह बनाना शुरू की। इससे नए पर्दे के प्रारूप पर पौराणिक भाषाओं पर बनी फिल्मों को दिखाने का एक दौर शुरू हुआ। ऐसी कुछ धार्मिक - ऐतिहासिक फिल्मों में दि टेन कमान्डमेंट्स (1956), दि वाइकिंग्स (1958), बेन टूर (1959), स्वारटेकस (1960) और एल सिड (1961) थीं।

रिमिक्स का प्रयोग भी किया गया दर्शकों को बांधे रखने के लिए। उन्हीं फिल्मों का जादू भी चला किन्तु केवल दो वर्ष (1952-1954) चलकर खत्म हो गया। इसी बीच 'दि ब्रिएचर फ्राम दि ब्लैक लैग्स' आयी।

ब्राउन बनाम शिक्षा बोर्ड (1954) ने 'दि ब्लैक बोर्ड जंगल' (1995), मार्टो और टवेलव एंग्री मैन के लिए एक भूमि जैसे तैयार की। डिस्नी की स्लीपिंग ब्यूटी 29 जनवरी, 1959 को रिलीज हुई बुएना विस्टा वितरण द्वारा जो एक दशक से निर्माण में थे।

## 2.7.4

1950 का दशक भारतीय सिनेमा के लिए सुनहरा काल रहा है। इस समय 200 फिल्में बन चुकी थी। भारतीय फिल्में विश्व में स्थान पा रही थीं। जैसे पथेर पांचाली (1955), जो अकादमी पुरस्कार प्राप्त निर्देशक सत्यजीत रे की फिल्म थी। टीवी, थियेटर से प्रतिद्वन्द्विता में उतर आया था। किन्तु आश्चर्यजनक यह था कि टीवी के आने से थियेटरों में भीड़ बढ़ी थी, कम होने के बजाय।

## 2.7.5 नया हॉलीवुड

नया हॉलीवुड या पोस्ट क्लासिकल सिनेमा का अर्थ है स्टूडियो तन्त्र के पतन का समय 50 से 60 के दशक में। नियम-कानून ताक पर रह गए। कामुकता और हिंसा को बढ़ावा मिला और यही फिल्में बाक्स आफिस पर हिट रही। 'पोस्ट-क्लासिकल सिनेमा' से तात्पर्य न्यू हॉलीवुड में बदलते तौर-तरीकों से है। नयी मान्यताएं जन्म ले रही थीं। दर्शकों की अपेक्षाओं पर भी ध्यान देना

जरूरी हो रहा था। नए समीकरण बनाने की दिशा में प्रयत्न जारी थे। नए परिवेश में आयी 'रिबेल विद आउट ए काज और हिचकॉक की 'साइको'

## 2.8 1960 का युग

### 2.8.1

1960 में हॉलीवुड में स्टूडियो प्रणाली का और पतन हुआ। बहुत सी फिल्में दूसरे देशों में जाकर वहां बनायी जाती थीं, जैसे इंग्लैण्ड में पाइनवुड और रोम में सिने सिटा। हॉलीवुड फिल्मों का निशाना अभी भी बड़ी दर्शक संख्या थी। पुरानी लीक पर बनी फिल्में अधिक सफल हो रही थीं। मैटी पापिन्स (1964), माई फेयर लेडी (1964), दि साउन्ड ऑफ म्यूजिक (1965) दशक की सफलतम फिल्में थीं। अमरीकी फिल्में अपना आकर्षण खो रही थीं। स्वतंत्र निर्माता और कम्पनियां बढ़ रही थीं और व्यक्तिगत अभिनेता भी। इससे हॉलीवुड का परम्परागत स्टूडियो निर्माण एकदम समाप्त प्राय हो गया।

### 2.8.2

विदेशी भाषा की अच्छी फिल्मों के प्रति जागरूकता बढ़ रही थी। 1950 और 60 में फ्रांस में नयी लहर के चलते 'लेस क्वात्रे सेन्ट्स कूप' और 'जूल्स एट जिम' जैसी फिल्में आयी। इटली की फिल्में जैसे फेडेरिको फेलिनी की 'ला डोल्सी वीटा' और स्वीडन के इन्गमार बर्गमैन की फिल्मे अपने देश से बाहर भी दर्शक पकड़ने में कामयाब थी।

### 2.8.3

ब्रिटेन में लिंडसे एण्डरसन, टोनी रिचर्डसन और

दूसरों का 'मुक्त सिनेमा' पैर जमा रहा था। सैटरेड नाइट एण्ड संडे मार्निंग, ए काउन्ड ऑफ लिविंग, दिस स्पोर्टिंग लाइफ नए परिवेश की फिल्में थीं। दूसरी ब्रितानी फिल्में रिपल्सन, डार्लिंग, अल्फी, ब्लोअप और गिआर्गी गर्ल (1965-66) पर्दे पर सेक्स और नग्नता को तोड़ने में सफल हुई। हालांकि कभी-कभार के दृश्य जैसा कि जेम्स बांड फिल्मों (डा0नो0 1962) में दिखाए जाते थे सर्वमान्य थे।

अफ्रीकी लोगों को दशकों तक फिल्म बनाने की मनाही रही। 60 के दशक में आउसमाने सेम्बेन ने कई फ्रेंच और बेलोफ भाषा की फिल्में बनी थीं। वह अफ्रीकी सिनेमा का पिता कहलाया।

लैटिन अमरीका में हॉलीवुड की संप्रभुता को कई निर्माताओं ने धूल चटायी। फरनांडो सोलानास और ओक्टावियो गेटिनो ने 'तीसरे सिनेमा' का नारा दिया जो हालीवुड के वर्चस्व को एक चुनौती था।

60 के दशक में डाक्यूमेंटरी फिल्मों में सीधा सिनेमा भी उभरने लगा। दि इयर आफ दि पिग जो वियतनाम युद्ध पर थी एमिल डे एन्टोवियो की फिल्म थी।

1960 के अन्त तक हॉलीवुड ने पुनः जोर मारा और बोनी और क्लाइड (1967), दि ग्रेजुएट (1967) मिडनाइट काउबॉय (1969), दि वाइल्ड बंच (1969) फिल्में आयीं। बोनी और क्लाइड नए हॉलीवुड की रोशनी सिद्ध हुई।

## 2.9 1970 का युग

### 2.9.1

इस दशक में फिल्मों का प्रशिक्षण प्राप्त अमरीकी

निर्माताओं की बाढ़ सी आ गयी। इनमें फ्रांसिस फोर्ड कोपोला, स्टीवेन स्पिलबर्ग और बायन डे पाल्मा थे। इन्होंने नए तरीके से माहौल को देखते हुए काम किया। कोपोला की दि गॉडफादर, स्पीलबर्ग की जाज और क्लोज एन्काउन्टर आफ दि थर्ड काइन्ड, जार्ज लूकस की स्टार वार्स व्यावसायिक सफलता प्राप्त फिल्में थीं। कुछ फ्लॉप भी बनीं जैसे पीटर बागडानोविच की एट लांग लास्ट लव और माइकेल सिमिनो की 'हैवनस गेट'।

### 2.9.2

जाज़ और स्टार वार्स की सफलता के बाद हॉलीवुड स्टूडियो में बड़े बजट की कम फिल्में बनाने का रिवाज शुरू हुआ जिनसे बाजार में जगह बनाने की कोशिशें भी की जाएं। यह काम आज भी जारी है। अमरीका में 1970 के मध्य तक `A' फिल्में जिनमें सेक्स परोसा जाता था, बनने लगी। डीप थ्रोट बनी और क्रम आगे भी जारी रहा। 1980 में वी सी आर के आने तक यह क्रम जारी रहा। 70 के शुरू में अंग्रेजी भाषी दर्शकों पर पश्चिम जर्मनी का सिनेमा भारी पड़ा। कई फिल्में जर्मन निर्माताओं की प्रशंसित हुईं। आस्ट्रेलियाई सिनेमा भी इसी बीच कुछ पहचान बनाने की कोशिश कर रहा था। पीटर वेयर की फिल्म पिकनिक एट हैंगिग रॉक और दि लास्ट वेव और फ्रेड शेपिसी की दि चैन्ट ऑफ जिमी ब्लैक स्मिथ को काफी प्रशंसा मिली। जार्ज मिलर की हिंसात्मक फिल्में मैड मैक्स 1979 की हिट फिल्म थी। यह आस्ट्रेलियन सिनेमा का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रवेश का सूचक भी था।

## 2.10 हिट फिल्में और वीसीआर

थियेटर से वी सी आर की ओर रूझान बढ़ रहा था। फिल्म स्टूडियो मालिकों ने वी सी आर पर रोक लगवाने

हेतु कानूनी दांवपेंच का सहारा भी लिया। हालांकि बाद में वी सी आर के चलन से भी निर्माताओं की कमाई बढ़ी। 1982 में टी एच एक्स लि0 स्थापित किया गया। मार्टिन स्कोरसेस की रेजिंग बुल (1980), आफ्टर आवर्स (1985), दि किंग ऑफ कामेडी (1983) सराही गयीं।

## 2.11 डिजीटल युग

1970 के बाद हॉलीवुड ने अपने आप को बदला। फिल्में अब कई थियेटर में एक साथ लगीं। यह घर के वी0सी0आर0 के जवाब में था।

नई फिल्मों में जाज और स्टार वार्स अभी भी अपनी धाक जमाए हुए थीं।

### 1990 : तकनीक के बढ़ते कदम

फिल्म और वीडियो का ऑन लाइन वितरण 1994 में शुरू हुआ। पहली फिल्म क्वेन्टिन तारान्टिनो की पल्प फिक्शन थी। 1990 में सिने जगत में एक और क्रान्ति आयी भौतिक भंडारण में डिजीटल सिनेमा तकनीक की ओर। डी वी डी ने घर में जगह बनायी।

### नयी शताब्दी

पीटर ग्रीनवे की 'दि तुलसे लूपर सूटकेसेज' को मीडिया के नयी तकनीकी प्रयोग करने का श्रेय जाता है। सुपर हीरो फिल्में बनना शुरू हुईं जिनमें आधुनिक तरीकों का प्रयोग किया गया था। एक्स मैन की सफलता सर चढ़ कर बोली। डाक्यूमेंट्री फिल्म को भी व्यावसायिक रूप दिया गया। दि लार्ड आफ दि रिंग्स, ट्राईलोजी रिलीज हुई। एपिक शब्द को नया अर्थ दिया गया।

21 वीं सदी की एक और महत्वपूर्ण बात यह भी कि लेखक, अभिनेता व दूसरे व्यक्तियों के लिए सिनेमा में

काम करना आसान हो गया था। इस बात की झलक क्रिस एण्डरसन की 'दि लांग टेल' में मिलती है। फिल्म निर्माण के लिए प्रभुक्त नयी तकनीक को मशीनिमा कहा गया जिसका प्रत्यक्ष दर्शन होता है रेड बनाम ब्लू और नाट्य श्रृंखला 'दि कोडेक्स' में।

हॉलीवुड में कम बजट की फिल्में बनाने की 'पीछे' की परम्परा भी रही। कभी-कभार ये फिल्में व्यक्तिगत स्तर पर भी बनायी जाती थी जिनमें मजदूर संघों का हस्तक्षेप नहीं होता था।

### चलते-चलते

'स्वतन्त्र या इन्डीपेन्डेन्ट फिल्म का तात्पर्य ऐसी फिल्म से है जो किसी स्टूडियो की सहायता के बिना बनी हो। ऐसी फिल्में बराबर बनती ही रहीं और आगे भी बनती रहेंगी। प्रमुख स्वतन्त्र फिल्म निर्माताओं में डी0डब्लू0 ग्रिफिथ, जान कसावेट, वूडी एलेन, माया डेरेन, आरसन वेल्स, रस मेयर, जॉलन सेलेस, जिम जार्मुश, जान वाटर्स और रोजर फोरमैन प्रमुख थे।

## 2.12 सारांश

जब हम विश्व फिल्म के इतिहास का सर्वेक्षण करते हैं तो हमें पता लगता है कि इसका क्रमिक विकास हुआ है।

सिनेमा के तीन आवश्य अंग होते हैं–

(i) कैमरा

(ii) रॉ स्टाक तथा मुद्रण

(iii) प्रोजेक्सन

यह सब एक दिन या एक दशक में कहाँ हुआ था। अनेक दशक लगे थे इसमें। पहले फीचर फिल्म की अवधारणा नहीं थी।

लोग साधारण कवरेज को फिल्म समझ बैठते थे। ऊपर से, उसमें ध्वनि नहीं होती थी। समय के साथ फीचर फिल्म की अवधारणा बनी। मूक फिल्मों के प्रयोग 1902 से 1919 के मध्य किए गए। 1920में, ध्वनि के अवतरण के साथ फिल्म एक आकर्षक माध्यम बनने लगा। एक प्रकार से, मास मीडिया, प्रिन्ट मीडिया के पश्चात् फिल्म का सबसे सशक्त माध्यम बन गया।

एक बार तो फिल्म मीडिया ने प्रिन्ट मीडिया को चुनौती देना आरम्भ कर दिया और इसमें, विजय, फिल्म मीडिया की हुई, जो आज तक कायम है।

सदियों तक मनुष्य दो आधारभूत चीजों या तत्त्वों से जूझता रहा

(i) प्रकाश द्वारा चित्रों का फैलाव

(ii) चित्रों को लगातार क्रमबद्ध करने की प्रक्रिया।

19 वीं सदी के मध्य में, सब कुछ पटरी पर आ सका। वास्तव में, फिल्मों का जन्म, एक धीमी गति से चलने वाली प्रक्रिया थी।

प्रोजेक्सन, उस समय तक महत्त्वपूर्ण बन चुका था। एडीसन से पूर्व पॉल ने उस पर काफी काम किया था।

1914 के आते-आते, कैबिरिया नामक फिल्म जो इटली में बनी थी ने तहलका मचा दिया। स्वाभाविक था, दर्शक फिल्म से जुड़ने लगे, पैसा आने लगा। उसी के साथ, फिल्म उद्योग की नींव पड़ी। दर्शकों के जुड़ने के

साथ, पैसा लगाने वाले सामने आने लगे।

फिल्म व्यापार का जन्म हो चुका था। 1920 में ध्वनि के प्रयोग के साथ फिल्म परिपक्वता की ओर बढ़ चली और फिर पीछे मुड़कर देखने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

## 2.13 शब्दावली

| | |
|---|---|
| वैमरा | चलचित्र की मशीन |
| रॉ स्टॉक पहिया | फिल्म का कच्चा माल–फिल्म |
| प्रोजेक्सन | फिल्म प्रदर्शन की मशीन |
| मूक युग | मूक फिल्म ध्वनिरहित। |
| हॉलीवुड | अमेरिका का फिल्म उद्योग केन्द्र |
| बोलती फिल्में | ध्वनिमय फिल्म |
| स्टूडियो प्रणाली निर्माण | फिल्म निर्माण केन्द्र में फिल्म का |

## 2.14 संदर्भ ग्रन्थ


- इलेक्ट्रानिक मीडिया और फिल्म प्रोडक्सन राजकृष्णमिश्र
- फिल्म एज फिल्म — वी0एल0 परकिन्स
- सिनेमा एज आर्ट — जे0आर0डिवरिक्स रैल्फ स्टीवेन्सन
- मूवी मुगल्स — फिलिप फ्रेन्च
- माय आटोबायग्राफी — चार्ल्स चैपलिन

- माय फेयर लेडी — एलन जे लरनर
- कनटेम्पोरेरी सिनेमा 1945-1963 — पेनीलॉप हाउस्टन

## 2.15 सम्बन्धित प्रश्न

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(i) मूक सिनेमा का प्रादुर्भाव कब हुआ, स्पष्ट कीजिए।

(ii) फिल्म में ध्वनि कब डाली गयी, यानी बोलती हुई फिल्मों का युग कब से आरम्भ हुआ, स्पष्ट कीजिए।

(iii) बॉक्स ऑफिस में सफल फिल्म किस वर्ष में और कहाँ बनी।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(i) बोलती फिल्मों के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए 1920 से 1940 के मध्य काल का विवरण दीजिए।

(ii) हॉलीवुड के विकास, स्टूडियो प्रणाली की स्थापना तथा स्टूडियो प्रणाली के अंत का वर्णन कीजिए।

(iii) 1950 से 1970 के दशकों में फिल्मों में परिवर्तन प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

(iv) 1940 विश्वयुद्ध और विश्वयुद्ध के बाद की फिल्म उद्योग की स्थिति का वर्णन कीजिए।

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(क) मूक फिल्में कब बनना शुरू हुई–

(i) मूक फिल्में 1902 से बनना शुरू हुई

(ii) मूक फिल्में 1920 से बनना शुरू हुई

(iii) मूक फिल्में 1950 से बनना शुरू हुई

(iv) मूक फिल्में 1930 से बनकर शुरू हुई

(ख) बोलती फिल्मों का दौर आया–

(i) 1910 से

(ii) 1920 से

(iii) 1930 से

(iv) 1940 से

(ग) स्टूडियो प्रणाली का पतन हुआ–

(i) 1930 में

(ii) 1970 में

(iii) 1950 से 1960 में

(iv) 1913 से 1920 में।

(घ) प्रकाश द्वारा छायाचित्रों का फैलाव तथा फिल्मों को क्रमबद्ध बनाने की विधि का विकास–

(i) 1920 में हुआ

(ii) 1910 में हुआ

(iii) 1905 में हुआ

(iv) 19वी सदी के मध्य में हुआ

**उत्तर**

(क) (i) (ख) (ii) (ग) (iii) (घ) (iv)

# इकाई-3 फिल्म विकास की महत्त्वपूर्ण बातें

## इकाई का रूपरेखा


3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 प्रयोगवादी फिल्म

3.3 कहानी प्रधान फिल्म

3.4 प्रशंसनीय हॉलीवुड

3.5 अमेरिका का सिनेमा

3.6 हॉलीवुड का उदय

3.7 यूरोप का सिनेमा

3.8 साइज

3.9 फिल्म साइज में विविधता

3.10 सुरक्षित फिल्म

3.11 28 एम.एम.

3.12 ग्रामोफोन रिकार्ड

3.13 दूसरे प्रारुप

3.14 न्यूफ-सिंग (9.5)

3.15 16 एम.एम

3.16 17.5 एम.एम.

3.17 8 एम.एम. बूटलेस

3.18 सुपर 8 और सुपर 9

3.19 सारांश

3.20 शब्दावली

3.21 संदर्भ ग्रन्थ

3.22 सम्बन्धित प्रश्न

## 3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे–

- प्रयोगवादी फिल्मों के दौर के विषय में
- व्यवसायिक फिल्मों से अलग, प्रयोगवादी फिल्मों ने किस प्रकार अपना स्थान बनाया
- इनकी फिल्म प्रर्दशन वितरण की व्यवस्था क्या थी।
- प्रयोगवादी फिल्में किस प्रकार बनती थीं।
- इनका निर्माण 16 एम.एम. गेज पर क्यों होता था।
- सामान्य व्यवसायिक फिल्मों की प्रयोगवादी फिल्में, किस प्रकार प्रभावित करती थीं।
- विज्ञान परक फिल्मों के निर्माण की प्रक्रिया क्या थी।
- महिला निर्देशकों की कार्य विधि क्या थी और उनकी फिल्मों को मुख्यधारा की फिल्मों में, किस प्रकार समाहित किया गया।

## 3.1 प्रस्तावना

विश्व सिनेमा के इतिहास के दौर की जब हम विवेचना करते हैं, तो हमें पता लगता है—

(i) कलात्मक फिल्मों के संघर्ष की कहानी

(ii) व्यवसायिक फिल्मों के दौर को किस प्रकार कलात्मक या प्रयोगवादी फिल्मों ने चुनौती दी।

(iii) महिला निर्देशकों ने किस प्रकार अपना स्थान बनाया।

1920 के बाद सब कुछ बदलने लगा। इसका कारण था, फिल्मों में आवाज डाली जाने लगी। हॉलीवुड की कम्पनियों पर, सैकड़ों मूक फिल्मों के निर्माण के बाद बैंकों के नियंत्रण का शिकंजा कसने लगा।

उधर आवाज के आने से, सम्पूर्ण फिल्म निर्माण की प्रक्रिया बदलने लगी। काम बढ़ने लगा। निर्माण नियंत्रक, सुपरवाइजर और अन्य कई काम देखने वाले, जैसे कास्टिंग निर्देशक, कहानी का चयन, कलाकारों का संयोजन तथा निर्माण समन्वय की व्यवस्था बनानी पड़ी।

उधर फिल्म गेज की समस्या, सामने खड़ी थी। मानक नहीं बन पा रहे थे, अनेक प्रकार के गेज पर काम चल रहा था। अंत में, हालात बदले, गेज के मानक बने 16 एम.एम. और 35 एम.एम.

## 3.2 प्रयोगवादी फिल्में

### 3.2.1 प्रयोगवादी फिल्में

प्रयोगवादी फिल्में वे फिल्में होती हैं जो न तो परम्परागत फीचर फिल्म हैं और न ही बिना कथानक से हैं। इनमें एक अलग तरह का प्रयोग देखने को मिलता है। ये फिल्में भी डाक्यूमेन्ट्री, कहानी प्रधान, एनीमेशन फिल्मों के साथ-साथ बनती रहती हैं।

ये फिल्में कई बार दर्शकों की प्रतिक्रिया किसी विषय-विशेष पर जानने के लिए भी सिने बाजार में डाली जाती है। ये फिल्में कई बार दर्शकों को चौंका भी देती हैं

तो कभी झटका भी देती हैं- यह जानकर भी हो सकता है या अनजाने भी। पर दृश्य कला की और विधाओं की तरह विषय और दर्शक में सीधा संवाद ये फिल्में भी स्थापित करती हैं। प्रयोगवादी फिल्मों के प्रमुख निर्माता कौन हैं और श्रेष्ठ प्रयोगवादी फिल्में कौन सी हैं इसको लेकर भी विवाद है। सही तथ्य और सबूत ढूंढने पर शायद न मिले।

### 3.2.2 वितरण

इस बात को लेकर भी विवाद रहा कि किन फिल्मों को इस श्रेणी में माना जाए ताकि वे कुछ विशेष फायदों की हकदार हों। हालांकि संग्रहालय निदेशकों की समीक्षा और उनके विचार इस सम्बन्ध में काफी मददगार सिद्ध हुए हैं।

### 3.2.3 प्रदर्शन

सिनेमा 16 के मॉडल का अनुकरण करते हुए प्रयोगवादी फिल्में व्यावसायिक थियेटरों से हटकर छोटे हॉल, संग्रहालयों, कला विथिकाओं और फिल्म समारोह में दिखायी जाती हैं। कुछ फिल्म महोत्सव जो ऐसी फिल्में दिखाते हैं- एन आखर फिल्म महोत्सव जो हर वर्ष अमरीका में होता है- न्यूयार्क का भूमिगत फिल्म समारोह, शिकागो का भूमिगत फिल्म समारोह, दि ला फ्रीवेन्स प्रायोगिक मीडिया कला महोत्सव, न्यूयार्क फिल्म महोत्सव, मिक्स एन वाई सी, न्यूयार्क का समलैंगिक प्रयोगवादी फिल्म/वीडियो महोत्सव और रोटरडम फिल्म महोत्सव।

### 3.2.4 व्यावसायिक माध्यम पर प्रभाव

हालांकि प्रयोगवादी फिल्मों की पहुंच थोड़े से ही

दर्शकों जो एक खास पसन्द वाले हैं, तक है किन्तु यह सिनेमेटोग्राफी, दिखने वाले प्रभाव, सम्पादन पर अपना प्रभाव जरूर छोड़ती है।

संगीत के अलबम जो आज प्रचलित हैं भी व्यवसायीकरण का एक प्रयोग ही है। शीर्षकों का प्रारूप, टीवी विज्ञापन भी प्रयोगवादी फिल्मों से प्रभावित हुए हैं।

बहुत से प्रयोगवादी फिल्म निर्माताओं ने फीचर फिल्में भी बनायी हैं, या इसका उल्टा भी होता है। प्रमुख उदाहरण में कैथरीन बिगेलो, पीटर ग्रीनअवे, डेरेक जार्मन, जीन काकटू, इसाक, जूलिएन, सल्ती पाटर, गुस वान सन्त और लुई बुनेल आदि हैं। उनका अनुपात व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग है।

## 3.3 कहानी प्रधान फिल्म

### 4.3.1 कहानी प्रधान फिल्में

कहानी प्रधान फिल्म घटनाओं को क्रमवार पिरोती हुयी चलती हैं। फिल्मी विशेषज्ञ इस विधा को प्रमुख माध्यम मानते हैं। प्रयोगवादी और डाक्यूमेन्ट्री फिल्मों के साथ।

साहित्य कथानकों से अलग कहानी प्रधान फिल्मों में घटनाओं की एक शृंखला होती है। 20वीं सदी के प्रारम्भ से ही हालीवुड स्टाइल की फिल्मों में कहानी मुख्य रही है। कुछ फिल्मों में हालांकि प्रयोगवादी कहानी भी देखने को मिलती है। जैसे कि एलेन रेसनाइस को मिमेन्टो में।

### 3.3.2 विज्ञान विषयक फिल्में

फिल्मी दुनिया में विज्ञान-विषयक फिल्में भी साथ-

साथ बनती रही। हालांकि दर्शकों ने इन फिल्मों को काफी बाद में नोट किया। 1960 के बाद इन फिल्मों की मांग बढ़ी और ये फिल्में भी भीड़ खींचने लगीं। विशेष प्रभाव तकनीक को इन फिल्मों में बखूबी इस्तेमाल किया जा सकता था।

### 3.3.3 स्त्री सिनेमा

स्त्री सिनेमा से तात्पर्य बहुधा ऐसी फिल्मों से होता है जिन्हें महिला निदेशकों ने निर्देशित किया हो। इसमें, हालांकि, पर्दे के पीछे से काम करने वाली महिला कर्मियों जैसे सिनेमेटोग्राफर और स्क्रीनलेखकों को भी सम्मिलित किया गया। महिला फिल्म संपादक, कास्ट्यूम डिजाइनर और प्रोडक्शन डिजाइनर सामान्यतया स्त्री सिनेमा की परिभाषा के दायरे से बाहर हैं।

### 3.3.4 मूक फिल्में

एलिस गाई-ब्लेश ने 1890 में पहली फीचर फिल्म 'ला फी आक्स चॉक्स' बनायी थी। 300 से भी अधिक फिल्में फिर बनीं। वह एक महिला होते हुए भी बड़े उत्साह और लगन से काम करती थी। उसने फ्रांस और अमरीका में काफी काम किया। लुई वेबर सफलतम फिल्म निर्देशकों में से एक थे उस (मूक) युग के। लिलियन गिश, मेरी पिकफोर्ड आदि मूक युग की फिल्मों की अभिनेत्रियाँ थीं।

## 3.4 प्रशंसनीय हॉलीवुड

### 3.4.1 हॉलीवुड

1920 के दशक में बड़े बैंकों ने हालीवुड की

निर्माता कम्पनियों पर नियंत्रण बनाना शुरू कर दिया था। निर्माण सुपरवाइजर फिल्मों के निर्माण में अच्छा रोल, निभाना शुरू कर दिया था। आवाज के आने से फिल्म बनाने का खर्च बढ़ा जिनके लिए पुनः बैंकों पर निर्भरता बढ़ी। 1929 में हॉलीवुड ने काफी बदलाव देखे। अपरम्परागत फिल्म निर्माताओं का सख्त समय था। महिला फिल्म निर्माताओं में आर्थिक हानि सहने की कम क्षमता देखने को मिली। डोरोथी आर्जनर एकमात्र महिला निर्माता थी जो इस अस्वस्थ वातावरण में भी पैर जमाए रही। वह ऐसा परम्परागत फिल्में बनाकर कर सकी। हालांकि वह स्त्री सम्बन्धी तत्व फिल्मों में डालती थी।

## 3.4.2 स्त्रीवाद के द्वितीय लहर का प्रभाव

देर 60 में स्त्रीवाद की द्वितीय लहर शुरू हुई, न्यू लेफ्ट चरम पर था। दोनों आंदोलन में सिनेमा में हावी पुरुष वर्चस्व का विरोध किया गया। हॉलीवुड में बदलाव के दृश्य दिखे। स्त्रीवाद फिल्मों में दिखा। व्यक्तिगत अनुभवों के खट्टे-मीठे स्वाद फिल्मों में उभरे। इस सबका एक अच्छा उदाहरण थी बारबरा लोडेन की 'वानडा', जिसकी चहुँ ओर प्रशंसा हुई।

## 3.4.3 कामुकता का प्रदर्शन

स्त्रीवाद की दूसरी लहर का मुख्य उद्देश्य स्त्री लिंगभेद को समाप्त करना था। बहुत से पाश्चात्य देशों में गर्भपात बहुत ही विवादास्पद था और स्त्रियों ने सरकार व गिरजाघरों का नियन्त्रण भी संदेह की नजर से देखना शुरू किया। लिंगभेद का और खुलासा होने पर निम्न बातें उभर कर आयीं। कामुकता के विभिन्न रचरुप जो अभी तक सेंसर थे, सामने आने लगे।

बिरगिट हेन, एल्फी मिकेश, नेल्ली काप्लान, कैथरीन ब्रेलैट और बारबरा हेयर कुछ याद रहने वाले निर्देशक हैं।

### 3.4.4 हिंसा का विरोध और हिंसात्मक विरोध

स्त्रीवाद के द्वितीय लहर की बहुत सी स्त्रियों ने 80 के शान्ति आन्दोलन में भाग लिया। हालांकि इस आन्दोलन को काफी आलोचना का सामना भी करना पड़ा। स्त्री फिल्म निर्देशकों ने इस विरोध - प्रतिरोध को फिल्म में रिकार्ड किया। अपनी फिल्मों में बिर्गिट और विल्हेम हेन ने कुछ झलक आक्रांत स्त्रीजाति की अवश्य दी।

## 3.5 अमरीका का सिनेमा

### 3.5.1 हॉलीवुड

अमरीका का सिनेमा जिसे हॉलीवुड कहना ज्यादा श्रेयस्कर है, इसी नाम से ज्यादा लोकप्रिय था। अमरीकी लोकप्रिय संगीत की भांति अमरीकी फिल्म उद्योग का भी विश्वव्यापी प्रभाव था, 20वीं सदी के प्रारम्भ से ही। इसका इतिहास चार बातों से जाना जाता हैः मूक युग, शास्त्रीय हॉलीवुड सिनेमा, नया हॉलीवुड और 1980 के बाद का परम्परागत काल।

### 3.5.2 प्रारम्भिक विकास

सिनेमा का जन्म देखने चलें तो अमरीका के इतिहास की तहों में जाना पड़ेगा। पहला अवसर, जब तस्वीरें ली गयी किसी घटना को दर्शाने के लिए, इडवर्ड माईब्रिज द्वारा लिए गए दौड़ते घोड़े के लगातार चित्र थे। जो उसने पालो आल्टो, कैलिफोर्निया में लिए थे। यह काम उसने

कई स्थिर कैमरे एक पंक्ति में रखकर किया था। माईब्रिज के इस प्रयोग की बाद में कई लोगों ने नकल की। अमरीका में, थामस अल्वा एडिसन पहला व्यक्ति था जिसने काइनेटोस्कोप का इस्तेमाल किया जिससे प्रेरणा लेकर दूसरे उपकरण भविष्य में विकसित हुए।

अमरीका में शुरू की फिल्मों का प्रदर्शन शहर-शहर जाकर हुआ। पहला बड़ा शो 'दि ग्रेट ट्रेन रॉबरी' था। इस फिल्म को एडविन एस. पोर्टर ने निर्देशित किया था।

## 3.6 हॉलीवुड का उदय

### 3.6.1

1910 के शुरू में निर्देशक डी. डब्लू. ग्रिफिथ को अपनी टीम के साथ बायोग्राफ कम्पनी ने पश्चिमी तट पर भेजा। इस टीम में ब्लांच स्वीट, लिलियन गिश, मेरी पिकफोर्ड, लायोनेल बैरीमोर जैसे अभिनेता थे। उन्होंने लास एंजेल्स के जार्जिया स्ट्रीट पर शूटिंग प्रारम्भ की। कम्पनी ने ऐसे ही अन्य स्थानों की तलाश करते हुए उत्तर की ओर सैकड़ो मील बढ़ना मुनासिब समझा। उस गांव में लोग मैत्री भाव के थे और उन्होंने शूटिंग में सहयोग देने का आश्वासन दिया। यह स्थान हॉलीवुड कहलाता था।

ग्रिफिथ ने तब हॉलीवुड में पहली फिल्म की शूटिंग की-'इन ओल्ड कैलिफोर्निया'। यह दर्शाती है 1800 में कैलिफोर्निया कैसा था जब यह मेक्सिको के अन्तर्गत था। बायोग्राफ वहां रुका कई महीनों तक और कई फिल्में वहाँ बनायी न्यूयार्क में लौटने से पहले। इस आश्चर्यजनक स्थान के बारे में जानने के बाद 1913 में बहुत से फिल्म बनाने के शौकीन वहाँ आए क्योंकि वे थामस एडिसन के त्रस्त थे जो फिल्म बनाने पर एकाधिकार किए हुए था।

लास एंजेल्स, कैलिफोर्निया में स्टूडियो और हालीवुड का विकास हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के पहले फिल्में अमरीका के कई शहरों में बनी लेकिन फिल्म निर्माता दक्षिण कैलिफोर्निया की ओर ज्यादा आकर्षित हुए। इसका कारण हल्की जलवायु और विश्वसनीय सूरज की रोशनी थी जिससे वे सालों भर बाहर के स्थानों पर शूटिंग कर सकते थे। अमरीकी सिनेमा में कई शुरूआती नाम हैं किन्तु ग्रिफिथ का 'बर्थ आफ ए नेशन' का नाम प्रमुख है जो आज भी एक नजीर माना जाता है।

## 3.6.2

1900 के शुरू में बहुत से बाहरी व्यक्तियों को यहाँ रोजगार के अवसर दिखे अतः वे यहीं जम गए। इनमें यहूदी भी थे। अपने धर्मों को एक किनारे रख वे इस नए काम धंधे में मशगूल हो गए। लघु फिल्मों का प्रदर्शन छोटे हॉल जैसे थियेटरों में जो निकिल-ओडियन कहलाते थे और जिनमें प्रवेश एक निकिल (5 सेंट) से होता था। कुछ ही वर्षों में महत्वाकांक्षी व्यक्ति जैसे सैमुएल गोल्डविन, कार्ल, लेमले, एडोल्फ जुकोर, लुई बी. मेयर और वार्नर बन्धु (हैरी, अल्बर्ट, सैमुएल, और जैक) निर्माण की ओर मुड़ चुके थे। शीघ्र ही वे फिल्म स्टूडियो के मालिक बन गए।

यह नोट करने योग्य बात है कि अमरीका में अभी भी एक स्त्री निर्माता, निर्देशक, स्टूडियो की प्रमुख थी-एलिस गई। इन घटनाओं से एक अन्तर्राष्ट्रीय सिने जगत का माहौल बना। उद्योग में यह भ्रम था कि केवल अमरीकी लोगों का ही यह रोजगार है किन्तु बहुत से बाहरी व्यक्ति भी वहाँ काम कर रहे थे। जैसे स्वीडन की अभिनेत्री ग्रेटा

गार्बो, आस्ट्रेलिया की निकोल किडमैन, हंगरी के माइकेल कर्टिज, मेक्सिको के अल्फांसो क्यूस।

### 3.6.3

यूरोप से दूसरे फिल्म निर्माता प्रथम विश्वयुद्ध के बाद आए। अर्नेस्ट ल्युबिश, अल्फ्रेड हिचकॉक, फ्रिट्ज लैंग और जीन रेनायर जैसे निर्देशक और रूडोल्फ वैलेन्टिनो, मार्लिन डाइट्रिच, रोनाल्ड कोलमैन और चार्ल्स बोयर जैसे अभिनेता भी उनमें थे। देश-विदेश का टेलेन्ट एक जगह एकत्र होने से फिल्म उद्योग में बड़ी तेजी से विकास हुआ। 1940 के मध्य तक ये स्टूडियो 400 फिल्में प्रतिवर्ष देने लगे थे। जो 90 मिलियन अमरीकी दर्शकों द्वारा हर हफ्ते देखी जा रही थीं।

## 3.7 यूरोप का सिनेमा

### 3.7.1

यूरोप का सिनेमा, अमरीका की तुलना में नग्नता, कामुकता का ज्यादा प्रदर्शन कर रहा था। हां, हिंसा का प्रदर्शन कम होता था। अमरीका में यूरोप का सिनेमा आर्ट हाउस थियेटरों में दिखाया जाता था। कुछ याद रखने लायक यूरोपीय फिल्मी आंदोलन में, जर्मन अभिव्यक्तिवाद, इटली का नवयथार्थवाद, फ्रांस की नयी लहर, नया जर्मन सिनेमा और डोग्मे 95 प्रमुख हैं। यूरोपीय सिनेमा को पुरस्कृत करने हेतु उनका एक 'यूरोपीय फिल्म पुरस्कार' भी है।

### 3.7.2 यादगार यूरोपीय फिल्म समारोह

यूरोप में फिल्म समारोह :

- वेनिस

- बर्लिन
- कान्ह
- सिट्गेस

## 3.7.3 पूर्व एशियाई सिनेमा

पूर्व एशियाई सिनेमा जिसे कई बार सुदूर पूर्व सिनेमा, पूर्वी सिनेमा, एशियन सिनेमा या ओरिएन्टल सिनेमा भी कहते हैं। फिल्म उद्योग में एक प्रचलित नाम है जो पूर्वी एशिया के लोगों द्वारा बनायी फिल्मों के लिए जाना जाता है। यह विश्व सिनेमा के एक भाग के रूप में देखा जा सकता है।

पूर्वी एशियाई सिनेमा मुख्य रूप से बड़ी और प्रतिष्ठापित चीन, हांगकांग, जापान की फिल्मी दुनिया से है या फिर ताईवान, उत्तरी कोरिया, दक्षिणी कोरिया के विकासशील उद्योग से है। इसमें मंगोलिया, वियतनाम और मकाऊ जैसे देशों का फिल्म उद्योग भी शामिल है।

एशियाई सिनेमा पूर्वी सिनेमा या ओरियन्टल सिनेमा एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं और इन्हें सम्मिलित रूप से पूर्वी एशियाई सिनेमा भी कहा जाता है, विशेषकर अमरीकी जगत में।

## 3.7.4 अफ्रीकी सिनेमा

अफ्रीकी सिनेमा से तात्यर्प उन देशों के सिनेमा उद्योग से है जो सहारा के दक्षिण में स्थित देशों में स्थित है। कुछ देशों जैसे इजिप्ट ने काफी पहले राष्ट्रीय फिल्म उद्योग विकसित कर लिया था। अफ्रीकी सिनेमा से तात्पर्य उस सिनेमा से भी है जिन्हें अफ्रीकी निर्देशकों ने अपनी

कला से सींचा है। ये निर्देशक अपने देश से बाहर कहीं ठहरे हैं।

## 3.8 साइज

### 3.8.1

- 35 मिमी., स्तर हेतु संघर्ष
- बहुत से शुरूआती फिल्म आकार
- परम्परागत फिल्मों का आकार
- सुरक्षित अज्वलनशील फिल्में
- 28 मिमी.
- ग्लास-और अर्ध-ग्रामोफोन रिकार्ड
- दूसरे प्रारूप
- न्यूज-सिंक, 9.5 मिमी.
- 16 मिमी. 16 मिलीमीटर
- 17.5 मिमी.
- 8 मिमी. बूटलेस
- सुपर/सिंगल 8 और सुपर 16 मिमी.
- चौड़ा पर्दा
- नाप से बाहर के उपकरण व फिल्मों का एकत्रीकरण
- और आकार : 8.75, 11.38 मिमी.
- साहित्य और सम्पर्क

### 3.8.2 स्तर हेतु संघर्ष

सिनेमा के 100 साल हो गए, क्योंकि एक प्रचलित नाप सब कहीं स्वीकार की गयी। जहाँ फिल्म उपकरणों में भारी परिवर्तन आए, यह एक चमत्कार ही है कि फिल्म

35 मिमी. के स्वीकृत माप पर ही बन रही है। यदि वीडियो की नकल फिल्मों ने की होती तो इतना विकास भी संभवतः नहीं हो पाता।

—जो प्रारूप हम प्रयोग करते हैं वह एडिसन की देन है- बोल्ड 35 मिमी. को एडिसन साइज़ ही कहा जाता था।

— 1890 की मांकीशाइन एडिसन फिल्म देखें

— 18 जून, 1891 की एडिसन काइनेटोग्राफ फिल्म पट्टिका देखें।

मई 1889 में थामस एडिसन ने इस्टमैन कम्पनी से एक कोडक कैमरा आदेश किया और उन्हें 70 मिमी. की एक रील यूहीं दी गयी। फिर डब्लू. के. एल. डिक्सन, उन्हीं की प्रयोगशाला के थे, ने $1\frac{3}{8}$" (35 मिमी.) की फिल्म इस्टमैन से आदेश की। यह कोडक कैमरा का आधा साइज था। यह एक नए प्रकार के काइनेटोस्कोप में इस्तेमाल की जानी थी।

## 3.8.3

ल्यूमियर बन्धुओं ने 35 मिमी. का सिनेमेटोग्राफ मार्च 1895 में बाजार में डाला। उसी साल के 28 दिसम्बर के पहले शो में भी उसका इस्तेमाल किया गया। उनकी पट्टिका में एक तस्वीर में केवल एक गोल छेद होता था। जबकि एडिसन की फिल्म में हर फ्रेम (चित्र) में चार आयताकार छेद होते थे।

कई और चौड़ाइयां भी तब प्रचलित थीं:

- 54 मिमी. (फाइज़-ग्रीन 1887 में)
- 54 मिमी. पेपर फिल्म (ले प्रिंस,1888)

- 54 मिमी. (स्लाडानोबस्की, 1895), स्लाजनोवस्की फिल्म क्लिप भी देखें।
- 60 मिमी. (प्रेस्टविच, डिमेने, 1893-96)

  डेमेने फोनोस्कोप 1983

  गामोंट - डेमेनी क्रोनोफोटोग्राफ, 1896
- 38 मिमी. (कासिमिर सिवान/इ. डाल्फिन, जेनेवा, 1896)

  ली एवं टर्नर, रंगीन फिल्म, 1902
- 63 मिमी. वेरिस्कोप, 1897
- 65 मिमी. (हुजेज मोटो फोटोस्कोप, (1897) 3'' चौड़ी फिल्म के लिए भी।
- 68 मिमी. (बायोग्राफ 1897 कैमरा)
- 70 मिमी. बिना छेद वाली प्रयोगवादी फिल्म बर्ट एकर 1894

ऊपर वर्णित विलियम डिक्सन, ने एडिसन को छोड़ने के बाद (70 मिमी.) फिल्म इस्तेमाल की अपनी क्यूरोस्कोप और बायोग्राफ कम्पनी के लिए। इस कम्पनी के कैमरामैन पूरे यूरोप का दौरा करके अच्छी छवि वाली फिल्में बनाने लगे।

---

**3.8.4**

---

चौड़ा पर्दा सुविधाजनक लग रहा था।

— 1897 में 10,000 फिट से भी अधिक 63 मिमी. फिल्म की शूटिंग हुई।

— एक परामर्श की जाने वाली समस्या थी फिल्म आधार की शक्ति क्योंकि फिल्म हाई टेन्शन में आने पर फिल्म गेट की ओर खिंचती थी। कई बार छेद

फट जाते थे। ईस्टमैन ने नाइट्रेट बेस की मोटाई बढ़ाकर इस कमी को दूर किया। यह 1896 के बाद इस्तेमाल में रहा।

— सदी के अन्त तक फिल्मों के धंधे को देखते हुए एकाधिकार जमाने के प्रयास जारी रहे। लम्बी कानूनी लड़ाई से बचने के लिए नौ बड़े निर्माताओं ने 1909 में मोशन पिक्चर पेटेन्ट कम्पनी में आपसी समझौता किया। इस समूह ने बाहरी निर्माताओं को प्रवेश बन्द सा कर दिया।

हो-हल्ले के बावजूद 35 मिमी. फिल्म बेल और हावेल के मानकों पर भी खरी उतरी। इसे पेरिस में उसी साल हुए अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म सम्मेलन में मान्यता मिली। इसे स्टैन्डर्ड साइज, स्टॉक, नार्मल फिल्म (जर्मन में) या 'पेलिक्यूल फार्मेट' मानक (फ्रेंच में) कहा गया। ईस्टमैन कोडक प्रमुख फिल्म सप्लायर हुआ।

इसका यह मतलब कदापि नहीं कि साइज के प्रयोग फिर हुए ही नहीं। किन्तु यही मान्य रहा-आर्थिक, व दूसरे कारणों से।

## 3.9 फिल्म साइज में विविधता

प्रचलित बाजार में एक प्रतिस्पर्धा जारी थी। अर्थ और आकार चुनौतियाँ थीं। व्यावसायिक रूप से 35 मिमी. साइज के रोल तैयार किए गए जो सस्ते होने के कारण लोकप्रिय रहे। फिल्म 2 या 3 लम्बाइयों में काटी गयी। इसे जर्मन में 'स्मॉल फिल्म' कहा गया।

1898 में इग्लैण्ड में बर्ट एकर द्वारा पहला प्रयास किया गया। उसका कैमरा, प्रोजेक्टर मिमी. फिल्म जिस पर केवल एक ओर छेद हों, के लिए फिट था।

कुछ माह बाद 1899 में बायोकॉम आया जिसकी कीमत £6.6 थी यह मिमी. की फिल्म लेता था किन्तु छेद चित्र के मध्य में थे। यह सफल नहीं हुआ। उसी वर्ष जे0 ए0 प्रेस्टविच का 13 मिमी. का उपकरण आया किन्तु यह भी प्रचलित न हो पाया।

ज्यादा लोकप्रिय हुआ हेनरिच इसेमैन का काइनो-। जो 1903 में आया। इसमें वही फिल्म प्रयुक्त होती थी जो बायोकैम में होती थी। यह उपकरण भी चित्र खींचने और फिर उन्हें दोबारा प्रस्तुत करने में इस्तेमाल होता था। यह मिश्रण पसन्द किया गया।

1900 में गामोंट-डेनेमी ने एक अनोखा साइज 15 मिमी. विकसित किया जिसमें बीच में छेद होते थे। उसी साल एक और फ्रेंच फर्म ने माइरोग्राफ खोजा जिसमें 20 मिमी. फिल्म लगती थी। इसमें छेद की जगह एक तरफ खांचे होते थे। इसका उदहारण ढूंढे से भी नहीं मिलता।

अमरीका में मानक के इतर फिल्म इस्तेमाल करने वाले प्रोजेक्टर की झलक 1902 मे दिखाई दी। इसमें कार्बाइड लैम्प इस्तेमाल होता था। जिसे विटाक कहते थे। इसमें 17.5 मिमी. फिल्म इस्तेमाल होती थी। कुछ साल बाद एक और प्रोजेक्टर- इससे मिलता-जुलता दिखाई दिया। इसे इकोनोग्राफ कहते थे जिसमें बीच में बड़े छेद वाली 17.5 मिमी. फिल्म लगती थी।

1923 में अमरीका में 11.5 मिमी. फिल्म दोबारा इस्तेमाल में आयी डुप्लेक्स प्रोजेक्टर के साथ।

## 3.10 सुरक्षित फिल्म

1897 में एक भयानक अग्नि ने पेरिस के चैरिटी बाजार में एक सिनेमा के पैवेलियन को राख कर दिया

जिसमें 124 लोगों की जानें भी गयी। तुरंत ज्वलनशील सेल्युलोज नाइट्रेट के विकल्प की तलाश शुरू हो गयी। 1908 में अज्वलनशील एसिटेट फिल्म बनी। 1950 में जाकर उस स्तर की ट्राई-नाइट्रेट फिल्म बन सकी। इसका इस्तेमाल तुरंत शुरू हो गया। 1912 में एडिसन ने सुरक्षित फिल्मों के लिए होम काइनेटोस्कोप विकसित किया। इसमें 22 मिमी. फिल्म प्रयुक्त होती थी। इसमें तीन पंक्तियों में तस्वीर होती थी। जिसका साइज 4×6 मिमी. होता था। 2 पंक्ति में छेद होते थे। एक स्तम्भ या पंक्ति आगे चलती थी। दूसरी पीछे, तीसरी फिर आगे। 10-14 मीटर लम्बी फिल्में डिब्बे में बन्द एडिसन डिपो से मिल जाती थीं जिन पर शूटिंग होती थी।

10 साल बाद यानि 1922 में स्ते गैलस ने एक प्रोजेक्टर बनाया। 'सिनेब्लॉक' इसमें उसी साइज की फिल्म फर्क तरीके से प्रयुक्त होती थी। दोनों ओर छेद (परफोरेशन) वाली 22 मिमी वाली ओजाफैन सेलोफेन फिल्म होती थी। सिनेब्लाक के बारे में बाद में कम ही सुना गया।

## 3.11 28 मिमी

1912 में पेथ ने ज्यादा सुरक्षित 28 मिमी. फिल्म की खोज की। इसकी चौड़ाई फर्क हुई सामान्य साइज की फिल्म को और सुरक्षित बनाने में। यह 28 मिमी. फिल्म पेथ काक प्रोजेक्टर में चलायी गयी।

फ्रांस में फिल्म के बाएं तरफ तीन पंक्तियों में छेद होते थे, और दाएं ओर एक। जब प्रथम विश्व युद्ध के समय फ्रांस से अमरीका में सामान जाना बन्द हो गया विक्टर ने सुरक्षित घर के सिनेमा वाले प्रोजेक्टर बनाए जिसमें 28

मिमी. की फिल्म जिसके दोनों किनारों पर तीन पंक्तियों में छेद होते थे। इस्तेमाल होती थी।

पेथ को वितरक डब्लू. बी. कुक ने एक मोटर से चलने वाला प्रोजेक्टर बनाया जिसे 'न्यू प्रीमियर पाथेस्कोप' नाम दिया । हालांकि वे कुछ ही बिक पाए। कीस्टोन और दूसरे निर्माताओं ने भी 28 मिमी. प्रोजेक्टर बनाया लेकिन जल्द ही वापस पुनः 35 मिमी साइज पर चले गए।

पेथ काक प्रोजेक्टर में एक मोटर लगा होता था। 28 मिमी. कैमरे भी बाजार में चल रहे थे। जोर इस बात पर था कि थियेटर की फिल्में पेथ की लाइब्रेरी से कापी की जा सकें। नया साइज होम सिनेमा के लिए सफल प्रयोग सिद्ध हुआ। 1918 तक 10,000 प्रोजेक्टर बेचे जा चुके थे।

यह प्रोजेक्टर नापसंद किया गया। अमरीका में 28 मिमी. की फिल्म को इधर-उधर ले जाने वाले प्रोजेक्टर के लिए सोसाइटी ऑफ मोशन पिक्चर इन्जीनियर्स द्वारा मान्यता मिली। 935 किराए पर चल रहे थे।

बाद के विकास से लोकप्रियता का ग्राफ और कम हुआ। काक प्रोजेक्टर आज शो पीस बनकर केवल संग्रह में स्थान पाए हुए हैं। शायद अपनी डिजाइन के कारण जो एक सिलाई मशीन जैसी लगती है।

## 3.12 ग्रामोफोन रिकार्ड

### 3.12.1

फिल्म बेस के पदार्थ के अलावा सेल्युलाइड और सीसे की प्लेट पर भी प्रयोग किए गए। अभी भी जादुई

लालटेन और अज्वलनशील सीसे की स्लाइड में प्रतिस्पर्धा चलती रहती थी।

- 1890 में रूज ने चलती तस्वीरों को कांच की प्लेट से प्रदर्शित किया, बाथ फोटोग्राफिक सोसायटी के लिए।
- 1892 में डेमेनी फोनोस्कोप बनाया इससे एक कांच की प्लेट पर 18 चित्रों वाले क्रम को प्रदर्शित किया जा सका।
- 1897 ई. एण्ड एच.टी. एन्थोनी ने स्पाइरल कैमरा विकसित किया जो एक कांच की प्लेट पर 200 चित्रों को प्रदर्शित कर सकता था। उसी वर्ष ब्रेटीनी बन्धुओं ने प्लाटेन-काइनेमेटोग्राफ बनाया जो एक कांच की प्लेट पर 576 चित्र उकेर सकता था।
- 1898 में लिओ काम ने 30 सेमी. की एक गोल कांच की प्लेट अपने कामाटोग्राफ के लिए ईजाद की, जिस पर 350 से 550 चित्र लिए जा सके।

  बेटीनी प्लैटेन्कामेरा, जर्मनी, में 1900 में 576 चित्र फोटोग्राफिक प्लेट पर लेने के प्रयोग जारी रहे।

---

**3.12.2**

---

- सिनेफार आफ ह्यूएट एण्ड साइ ने 1904 में 2×24 फ्रेम वाली 6'' की डबल मैगजीन वाली डिस्क की खोज की।
- फ्रांस के ओलिकोस ने 1912 में 9.5×9 सेमी की कांच की प्लेट (आयताकार) बनायी जिस पर 7 चित्रों की 12 पंक्तियाँ दर्ज की जा सकीं।
- मिलता-जुलता उपकरण था फ्रांस का ले सेडुल, जिसमें 9 × 12 सेमी का कांच का निगेटिव

इस्तेमाल होता था।

### 3.12.3

- अमरीकी अरबन स्पाइरोग्राफ (1915) लोकप्रिय ग्रामोफोन से ही आगे की मात्रा है इसमें 1200 फ्रेम वाली सेल्युलाइड डिस्क इस्तेमाल होती थी। प्रत्येक डिस्क में 2 मिनट का प्रस्तुतीकरण समय होता था। एक डिस्क वाचनालय सैकड़ों संग्रहों के साथ तैयार रखी जाती थी। कुछ समय बाद इस खोज का ज्यादा पुरसाहाल रहा नहीं।
- पोलैंड के खोजी काजीमिर्ज प्रोसिन्स्की ने 1915 में एक प्रोजेक्टर ओको ईजाद किया, 12 सेमी. फिल्मों के लिए 15 की पंक्ति में छवि बनती थी। यह फिल्म तब बाएं से दाएं चलायी जाती थी। 3 फिट की फिल्म 20 मिनट तक शो देती थी।

### 3.12.4

- आज ये सारी वस्तुएं संग्रहालय में शोभा बढ़ा रही हैं। क्रिस्टीज द्वारा एक कामेटोग्राफ ≠ 3850 में 1993 में नीलाम किया गया। आज उसकी कीमत कहीं ज्यादा होगी।

### 3.12.5

- 1915 में डुप्लेक्स निगम ने एक और सस्ता तरीका बताया 35 मिमी फिल्म के इस्तेमाल का फ्रेम या दो भागों में तोड़कर राप फ्रेम को 35 मिमी. फिल्म पर कापी करके। इसके लिए विशेष डुप्लेक्स प्रोजेक्टर लेन्स लाए गए जो 10×19 मिमी. के आधे फ्रेम को पर्दे पर प्रदर्शित करता था। इस को भी लोगों ने गम्भीरता से नहीं लिया।

1922 में एक अन्य जर्मनी कं0 ट्राइरगान का प्रस्ताव आया जिसमें 35 मिमी. की फिल्म के साथ 7 मिमी. ध्वनि मार्ग के लिए जोड़कर 42 मिमी. पर फिल्म बनायी गयी।

## 3.13 दूसरे प्रारूप

- 1915 में डुप्लेक्स निगम ने एक और सस्ता तरीका बताया 35 मिमी. फिल्म के इस्तेमाल का फ्रेम को दो भागों में तोड़कर टॉप फ्रेम को 35 मिमी. फिल्म पर कापी करके। इसके लिए विशेष डुप्लेक्स प्रोजेक्टर लेन्स लाए गए जो 10×19 मिमी के आधे फ्रेम को पर्दे पर प्रदर्शित करता था। इस को भी लोगों ने गम्भीरता से नहीं लिया।

  1922 में एक अन्य जर्मनी कं0 ट्राइरगान का प्रस्ताव आया जिसमें 35 मिमी. की फिल्म के साथ 7 मिमी. ध्वनि मार्ग के लिए जोड़कर 43 मिमी. पर फिल्म बनायी गयी।

## 3.14 न्यूफ-सिंग ( 9.5 )

- 30 वर्षों तक फिल्म की चौड़ाई के प्रयोग होते रहने के बाद 1922 में पाथे ने होल सिनेमा 'ले सिनेमा चेज़ सोई' या पाथे बेबी बाजार में डाला। 35 मिमी. फिल्म पर 9.5 मिमी. की तीन पंक्तियाँ बनायी गयीं। पहले प्रोजेक्टर आया। इसका चलाना ल्मुमियर सिनेमैटो ग्राफ जो 1895 में आया था के जैसा ही था। 6 बार की रोशनी में उपकरण ने बहुत साफ चित्र बनाए। डिपो से 9 या 15 मीटर लम्बी 9.5 मिमी. फिल्म ली गयी। विषय जिन पर काम

होना था, बहुत थे-न्यूजरील, डाक्यूमेट्री, कामेडी, और फीचर फिल्म। कुछ स्टेंसिल विधि द्वारा रंगीन भी बनायी गयीं। प्रोजेक्शन समय को बढ़ाने के प्रयास भी किए गए। यह तकनीक भी आजमायी गयी कि फिल्म में खांचो के माध्यम से किसी चित्र-विशेष को कैसे कुछ समय के लिए स्थिर किया जा सकता है।

1923 में एक कैमरा हत्थे के साथ बना। यह छोटा, कहीं भी ले जाने योग्य, सस्ता था। यह लोकप्रिय हुआ। अनुमानतः 300,000 प्रोजेक्टर बिके। उन सबका बाद में क्या हुआ, यह एक अलग विषय है। वे दोबारा बिक्री हेतु भी उपलब्ध हों, ऐसी जानकारी नहीं।

बाद की तब्दीलियों में अमरीका में यह साइज़ स्वीकृत नही हुई। यूरोप में यह प्रचलित हुआ। जापान में 9.5 मिमी. फिल्म कैमरे और प्रोजेक्टर युद्ध से पहले ही बनाए जाने लगे थे (सिने रोला)। 1938 में 9.5 मिमी. आवाज वाली फिल्में आयीं पेथ बाक्स ध्वनि प्रोजेक्टर के साथ।

यह कुछ लोगों के लिए आश्चर्य हो सकता है किन्तु 9.5 मिमी. स्थिर चित्र आज भी लोकप्रिय हैं। कैमरा और प्रोजेक्टर आज भी बनाए जाते हैं या आधुनिक उपकरण और भी परिष्कृत किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 9.5 मिमी. के चहेते एक समुदाय बनाकर रहते हैं। 9.5 मिमी की फिल्में बनाकर प्रदर्शित की जाती हैं।

## 3.15 16 एम एम

### 3.15.1

कोडक भी पेथ से पीछे नहीं रहा। कोडक के जान

कैपस्टाफ एक दूसरे साइज के साथ प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि 10 मिमी न्यूनतम चौड़ाई है अच्छी तस्वीरों के लिए। दोनों ओर छेद की एक-एक पंक्ति 6 मिमी. जगह लेगी इस प्रकार 16मिमी. की नाप बनाते हुए। एक अच्छाई यह भी थी कि 35 मिमी. के दो हिस्से नहीं बनाए जा सकते थे।

### 3.15.2

1923 में 16 मिमी. का पर्दापण हुआ। प्रतिस्पर्धा में पेथ ने यह प्रचार किया कि उसकी साइज सस्ती थी, कम ऊंचाई की वजह से। इसकी कीमत सभी को ठीक लगी। बिक्री में पेथ ने 9.5 मिमी. में उसी साइज का फ्रेम इस्तेमाल किया अर्थात-8 मिमी. की कीमत में 16मिमी. का मजा।

### 3.15.3

कोडक ने इस बात का विरोध किया कि बीच के छेद छाया पर पट्टिका बनायेंगे। हाँ, यदि प्रोजेक्टर के खांचे छेदों में सही नहीं बैठे तो चित्र खराब होंगे।

### 3.15.4

16 मिमी. की दानेदार किस्म ज्यादा अच्छी थी। कोडक ने द्वितीय एक्सपोजर वाली 16 मिमी. फिल्म विकसित की। इससे निगेटिव से पाजिटिव बनाने वाली विधि में बदलाव आया। परिमाणस्वरूप, कीमत निगेटिव से पाजिटव की कीमत का 1/6 रह गयी थी। बाद के सालों में आवाज का मार्ग फिल्म के एक ओर चिन्हित किया गया। एक पंक्ति छंदों को बचाते हुए। 1932 में इसे एस.एम.पी.ई मानक के रूप में मान्यता मिली।

## 3.16 17.5 मिमी.

35 मिमी. का आधा यानी 17.5 मिमी. एक विकल्प के रूप में रहा। 1915 में अमरीकी कैमरा सिनेमाट ने इसे एक तरफ छंदों के साथ इस्तेमाल किया। दो साल बाद मोवेट कैमरा और प्रोजेक्टर में भी 17.5 मिमी. प्रयुक्त हुई इस फिल्म में दोनों किनारों पर गोल छेद थे।

1920 में पेथ एन नयी साइज की तलाश करते हुए 17.5 मिमी. को ही प्रयोग करता रहा। चित्र का दायरा बढ़ाकर छेदों के लिए सीमित स्थान कर दिया गया था।

1926 से पेथ रूरल भी उपलब्ध था। पाथेस्कोप (ग्रेट ब्रिटेन) के बाद 1932 में पेथ रेक्स आया। उसी समय एक फिल्मों का वाचनालय स्थापित किया गया। 1932 में ध्वनि फिल्में आयीं। एक ओर के छेद खत्म करके वहाँ ध्वनि रिकार्ड होती थी। 17.5 मिमी. की फिल्म फ्रांस में, 4823 सिनेमा घरों में इस्तेमाल हो रही थी। 1939 में यह ग्रेट ब्रिटेन से गायब हो गयी। फ्रांस में प्रथम विश्व युद्ध के समय जर्मनी में सेंसर की दृष्टि से प्रचलित साइज से इतर फिल्मों के इस्तेमाल की अनुमति नहीं दी।

## 3.17 8 मिमी. बूटलेस

1930 में कोडक ने अमरीका में 16 मिमी की कीमत काफी कम करने का दावा किया। उसने 16 मिमी के फ्रेम पर चार चित्र लेकर सफलता भी पाई। केमको होम मूवी कैमरा के अलावा एक प्रोजेक्टर 16मिमी. और × 16 मिमी. के इस्तेमाल के लिए निर्मित हुआ।

यह प्रयोग धरा रह गया जब कोडक ने 1932 में 8 मिमी. फिल्म ईजाद की। 16 मिमी. में दुगनी संख्या में छेद बनाए गए। पहला आधा भाग चित्रों के लिए था, फिर फिल्म को पलटकर बाकी आधे पर चित्र लिए जाते थे। प्रोसेसिंग के बाद फिल्म को बीच से दो भागों में बांटकर 8 मिमी. के दो रोल तैयार किए जाते थे। इस प्रक्रिया से 25 फिट छोटी रील पर इतने फ्रेम उपलब्ध हो जाते थे जितने 100 फिट लम्बी 16 मिमी. की फिल्म पर होते थे।

क्योंकि रील को बीच में पलटना एक मुश्किल काम था, बहुत से निर्माताओं ने 50 फिट की 8 मिमी. रील का प्रयोग ही बेहतर समझा। (यूनिवेक्स, बेल और हावेल) या कैसेट में (अगफा), एक समान न होने की दशा में 8 मिमी वाला प्रयोग ज्यादा गति नहीं पकड़ सका।

कुछ फायदे होने के बावजूद 9.5 भी आधार नहीं बना सका। कोडक ने देर 1920 में पेथ के अधिकार ले लिए। इसका इरादा उसी पुराने साइज के चलाने को हर्गिज नहीं था। 8 और 16 मिमी. का प्रभुत्व कई सालों तक चलता रहा।

पेथ ने 1955 में एक अन्तिम प्रयास करते हुए डुप्लेक्स और मोनोप्लेक्स प्रारूप निर्मित किया। 9.5 मिमी पर दुगने छेद थे और यह बीच में $4^{3}/_{7}$ मिमी पर कटी हुई थी। यह विचार भी अच्छा नहीं लगा। $4^{3}/_{7}$ मिमी लिडो डुप्लेक्स कैमरा और मोनेको प्रोजेक्टर संग्रह की वस्तु बन गए।

## 3.18 सुपर 8 और सुपर 9

### 3.18.1

8 मिमी ने एक जबरदस्त परिवर्तन 1965 में देखा।

फ्रेम का चित्र 50% बड़ा कर दिया गया छोटे लम्बे छेदों का प्रयोग करके। तथाकथित सुपर 8 फिल्म 50' के 8 मिमी कैसेट में उपलब्ध करायी गयी (यह सालों पहले आए मिओप्टा कैसेट से काफी कुछ मिलता-जुलता था। 1973 से ध्वनि की चुम्बकीय पट्टिका आने से फ्यूजी ने 8 मिमी का एकल तन्त्र विकसित करने की कोशिश की किन्तु कोडक के सामने टिक नहीं पाया।

## 2.18.2

अर्ध-व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए डबल सुपर 8 करायी गयी। 8 या 16 मिमी के 100 फिट रील पर इसे उपलब्ध कराया गया। इसके अच्छे परिणाम आए क्योंकि फिल्म को फिल्म बड़े फ्रेम साइज और परिवर्धित इमल्सन के कारण सुपर 8 1950 के 16 मिमी. की तुलना में अच्छा बैठा। आश्चर्य नहीं कि 16 मिमी. का प्रयोग काफी कम हो गया।

## 3.18.3

16 मिमी जो व्यावसायिक लोगों द्वारा प्रयुक्त हो रही थी को प्रोत्साहित किया गया और 1971 में सुपर 16 ईजाद की गयी। 17 मिमी की तस्वीर बड़ी की गयी ध्वनि के लिए बने स्थान को सम्मिलित करके। इसे बड़ा करके 35 मिमी. बनाया गया। अच्छी चौड़ाई और दृश्य के कारण यह आधुनिक टी.वी. तन्त्र पाल प्लस में फिट बैठी। सुझाव आए कि तस्वीर के साइज को और बड़ा किया जाए छेदों को लम्बा बनाकर जैसे कि सुपर 8 मिमी. मे किया जाता था।

## 3.18.4 चौड़ा पर्दा

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, चौड़ी स्क्रीन या

पर्दा 50 के दशक में लोकप्रिय हुआ। इसमें आगे तरक्की होती रही।

- 1900 - 75 मिमी चौड़ी फिल्म ल्यूमियर की।
- 1900 - 70 मिमी सिनेरामा, राओल ग्रिमायन-सैमसन का
- 1914 - 70 मिमी पैनोरायिका (फिलोटिओ एलबेरिनी का)
- 1926 - 63.5 मिमी नेचुरल विज़न, आर.के.ओ.
- 1929 - 70 मिमी 20 सेंचुरी फाक्स का ग्रैंडेमोर
- 1930 - 56 मिमी मैग्नाफिल्म, पैरामाउंट
- 1930 - 70 मिमी रियलाइफ, एम.जी.एम.
- 1930 - 65 मिमी वीटास्कोप वार्नर बन्धु

ये सभी खोजें एक वर्ष से अधिक नहीं चलीं। 50 के दशक में और प्रयास किए गए चौड़े स्क्रीन के लिए बड़े फिल्म साइज बनाने के। कुछ उदाहरण निम्न हैं :

- 1954 - 65 मिमी टाड - ए ओ
- 1955 - 55, 62.5 मिमी सिनेमास्कोप - 55
- 1956 - 65 मिमी सुपर पैनाविजन

70 के दशक में आईमैक्स (1970), ओमनी मैक्स (1973), सिनेमा 180 और दूसरे उपकरण आए जिनमें समानान्तर 65 मिमी. निगेटिव फिल्म लगती थी। विशेष थियेटर बनाए गए प्रोजेक्टर और चौड़े स्क्रीन के लायक, विशेष प्रोजेक्टर जरूरी हो गए थे क्योंकि पंजे की मदद से फिल्म खींच पाना संभव नहीं हो पा रहा था। आईमैक्स तन्त्र में लहर विधि से चलायी जाती है। हवा के दबाव वाली विधि को धन्यवाद, जिसकी मदद से $180^0$ 100 फिट चौड़े पर्दे पर प्रोजेक्ट कर पाना संभव हो पाया था।

यह अब स्पष्ट हो चला था कि मामकों का निर्णय निर्माताओं की ताकत कर रही थी। सार्वजनिक स्वीकृति भी

कुछ भूमिका निभा रही थी।

### 3.18.4 माप से इतर उपकरण

मानक से अलग फिल्म या उपकरण का संग्रह एक चुनौती भरा काम था। कम कीमत से फायदा हो सकता था। 8, 16, 35 मिमी. उपकरण/ फिल्में बिक्री के लिए उपलब्ध थीं। मुश्किल थी 9.5, 17.5 22 या 28 मिमी साइन के साथ।

### 3.18.5 3 से 75 मिमी

100 साल के सिनेमा के इतिहास में 3 मिमी से 75 मिमी की 100 माप अवश्य आयी होंगी। सबसे छोटी (3 मिमी) इरिक बर्नड द्वारा 1960 में नासा के लिए विकसित की गयी थी। इसमें मध्य में छेद होते थे। सबसे बड़ा 1900 में ल्युमियर द्वारा पेरिस प्रदर्शन में इस्तेमाल किया गया। हर साइज का एक इतिहास है। कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं :

- 38 मिमी (कासिमिर सिवान, स्विट्जरलैण्ड)
- 11.5 मिमी (सामान्य 8 मिमी × 3.5 मिमी ध्वनि मार्ग के लिए। आप्टिकल ध्वनि फिल्म केनर के वास्तविक ध्वनि प्रोजेक्टर में 1965 में प्रयुक्त हुई।
- 8.75 मिमी फिल्म 70 के दशक में चीन में शिक्षा, प्रचार और दूसरे उद्देश्यों के लिए प्रयोग होती थी। चीन की 35 मिमी फिल्म को 8.75 मिमी की चार पट्टियों में काटा गया। इस साइज के लिए भी प्रोजेक्टर बनाए जा रहे थे। हालांकि चीन के बाहर शायद ही कोई इनका खरीदार हो।
- **सुपर-डुपर 8 मिमीः** नया 8 मिमी फिल्म प्रारूप अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दिसम्बर 2003 में देखने को

मिला। स्लीप आलवेज, पहली फीचर फिल्म 'सुपर-डुपर 8 में शूटिंग की गयी और स्पेन के सिट्गेस अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में दिखाई गयी और न्यूयार्क में भी।

सुपर-डुपर 8 में परम्परागत सुपर 8 फिल्म लगती थी लेकिन ध्वनि मार्ग के लिए आरक्षित जगह का कुछ भाग एक्सपोज करते समय आ ही जाता था। वीडियो टेप में जाते समय सुपर-डुपर 8 हर फ्रेम में 30% अधिक चित्र क्षेत्र को अपने दायरे में ले लेती हैं।

## 3.19 सारांश

मूक फिल्मों का युग 1920 में समाप्त हो चुका था उसी के साथ यानी टॉकी युग के आने से, सब कुछ बदल गया।

दर्शकों की संख्या में, अतीव वृद्धि हुई लोगों, की अभिरुचि में बदलाव आने लगा।

फिल्मों के ट्रीटमेन्ट में बदलाव, एक दिन में नहीं आया।

कहानी के महत्व को स्वीकारा जाने लगा, पैसा कमाने वाले सामने आ रहे थे। बैंक धन तो दे रहा था, अधिक धन दे रहा था, लेकिन उसका निरीक्षण, नियंत्रण बढ़ गया।

उधर साहित्यिक महत्व की कथा, कहानी, सामने आने लगीं। सिनेमा को कला समझने वाले और सबसे अधिक गति दी- प्रयोगवादी फिल्म बनाने वाले निर्माताओं ने। यद्यपि वह कलात्मक फिल्में बनाते थे। 16 एम.एम. में फिल्म बनाते थे, उनके पास कहानी होती थी, साहित्यक अभिरूचि की अनेक कहानियाँ होती थीं। यह

एक चुनौती के रूप में मुख्यधारा के सिनेमा के सामने प्रश्नचिन्ह था।

यद्यपि व्यवसायिक सिनेमा, मुख्यधारा सिनेमा, की अपनी व्यवस्था होती थी। फिल्म आन्दोलन ने उनके अन्दर परिवर्तन की प्रक्रिया, उत्पन्न कर दी।

उधर हॉलीवुड की स्टूडियो प्रणाली धीरे-धीरे टूटने लगी और निर्माता दर्शकों को लुभाने के लिए, अनेक प्रयोग करने लगे।

## 3.20 शब्दावली

- प्रयोगवादी फिल्में — यह न तो परम्परागत फीचर फिल्में थी और ना ही बिना कथानक के। इनका ट्रीटमेन्ट भिन्न होता था।
- फिल्म गेज — कैमरा, रॉ-स्टॉक सबकुछ गेज के अनुसार होता है।
- वर्षो के प्रयोग के बाद मानक गेज — 16 एम.एम. 35 एम.एम.
- कहानी प्रधान फिल्में — यह घटनाओं को क्रमबद्ध तरीके से पिरोती हुई चलती थी।
- स्त्री सिनेमा — महिला निर्देशकों द्वारा बनायी गयी फिल्में
- हॉलीवुड — अमेरिका का फिल्म निर्माण शहर

## 3.21 संदर्भ ग्रन्थ

इलेक्ट्रानिक मीडिया एण्ड फिल्म्स : राजकृष्ण मिश्र

प्रोडक्शन

फिल्म ऐज फिल्म : वी. पी. परकिन्स

सिनेमा ऐज एन आर्ट : जे.वी. डिबरिश

मूवी मुगल्स : फिलिप फ्रेन्च

फिल्म ऐण्ड रियल्टी : एलेन जे टरनर

माय फेयर लेडी : राय आर्मेश

कनटेमपोरेरी सिनेमा 1945-1963 : पेनीलॉप हाउस्टन

## 3.22 सम्बन्धित प्रश्न

**लघु उत्तरीय प्रश्न :**

1. किस दशक में, हॉलीवुड में, बैंकों ने प्रतिबंध लगाना आरम्भ किया था?
2. स्त्रीवाद की द्वितीय लहर कब आई थी?
3. चौड़े पर्दे पर फिल्म गेज 1900 से कौन-कौन थे?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :**

1. प्रयोगवादी फिल्मों के दौर की कहानी बताइए।
2. स्त्री सिनेमा के सिनेमा उद्योग पर प्रभाव का वर्णन कीजिए।
3. फिल्म गेज के विकास का वर्णन कीजिए।

**वस्तुनिष्ठ**

(क) बड़े पर्दे को फिल्म गेज का मानक बनाया-

(i) एडीसन ने।

(ii) ग्रिफ्थ ने।

(iii) हॉलीवुड ने।

(iv) चार्ल्स चेपलिन ने।

(ख) एडीसन ने फिल्म का मानक गेज बनाया

(i) 1890 में।

(ii) 1902 में।

(iii) 1870 में।

(iv) 1898 में।

(ग) स्त्रीवाद की द्वितीय लहर के परिणाम दिखायी दिए -

(i) 1952 में।

(ii) 1975 में।

(iii) 1980 में।

(iv) 1985 में।

(घ) अमेरिकी हॉलीवुड सिनेमा का प्रभाव विश्व सिनेमा पर कब से पड़ना शुरू हुआ -

(i) 19वीं सदी के आरम्भ से।

(ii) 20वीं सदी के आरम्भ से।

(iii) 1980 से।

(iv) 1890 से।

(क) (i) (ख) (i) (ग) (iii) (घ) (ii)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद



# खण्ड

# 05

# फिल्म का इतिहास ( भारत )

इकाई-1 5
भारतीय सिनेमा

इकाई-2 और 3 संयुक्त 22
पाकिस्तान और बंगलादेश

इकाई-4 और 5 संयुक्त 42
बॉलीवुड एवं अन्य

## परामर्श-समिति

| | |
|---|---|
| **प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव** | **कुलपति - अध्यक्ष** |
| **डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल** | **कार्यक्रम संयोजक** |
| **श्री एम0 एल0 कनौजिया** | **कुलसचिव - सचिव** |

## परिमापन

**1- प्रो0 राम मोहन पाठक** - वाराणसी

**2- डॉ0 अर्जुन तिवारी** - इलाहाबाद

## सम्पादन

**1- श्री राजकृष्ण मिश्र**

## लेखक मंडल

## PGDEM&FP - 02

**1- श्री राजकृष्ण मिश्र** - लखनऊ

**2- डॉ0 के0 के0 मालवीय** - इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से कुलसचिव, श्री एम0 एल0 कनौजिया, द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, मार्च 2008

मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद, मुद्रित। फोन - 2548837

# इकाई 1 भारतीय सिनेमा

## इकाई की रूपरेखा


1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 भारतीय सिनेमा का इतिहास

1.3 क्षेत्रीय फिल्में

1.4 स्वर्ण युग

1.5 यथार्थवादी दौर

1.6 प्रादेशिक भाषाओं में फिल्में

1.7 सिनेमा से पूर्व काल

1.8 दादा साहब फालके

1.9 भारतीय सिनेमा का बोलना

1.10 कोलकाता फिल्म उद्योग

1.11 दक्षिण भारतीय सिनेमा

1.12 सुनहरा पचास दशक

1.13 बॉलीवुड

1.14 सारांश

1.15 शब्दावली

1.16 संदर्भ ग्रन्थ

1.17 सम्बन्धित प्रश्न


## 1.0 उद्देश्य

इस इकाई के पढ़ने के बाद, आप जान सकेंगे–

(i) भारत में फिल्म का इतिहास क्या है।

(ii) पहली मूक फिल्में कब बनी थीं।

(ii) पहली टॉकी या बोलती हुई फिल्म निर्माण की प्रक्रिया, कब से आरंभ हुई थी।

(iv) तकनीकी पक्ष के विकास की प्रक्रिया क्या है।

(v) फिल्म निर्माण का इतिहास

## 1.1 प्रस्तावना

भारत में फिल्म निर्माण की प्रक्रिया के दौर में मुख्य केन्द्र दो था। एक था, आज का कोलकाता जहाँ कहा जाता है, पहली टॉकी फिल्म बनी थीं। यद्यपि वह टॉकी फिल्म जो कोलकता में बनी थी, छोटी थीं, यानी 30, 40 मिनट की फिल्में थीं। 30, 40 मिनट की फिल्मों को फीचर फिल्म नहीं कहा जा सकता है, इसलिए मान्यता के अनुसार पहली फीचर फिल्म ''आलम आरा'' मुम्बई में बनी थी।

भारत में जब हम फिल्म की बात करते हैं; तक हमें यह पता लगता है, विदेश में फिल्म के क्षेत्र में कार्य, 1524 में आरम्भ हो गया था। 19वीं सदी के अंत में अंग्रेजी छायाकारों ने फिल्म के प्रयोग आरम्भ हो गए थे।

1895 में एडीसन ने 'किस' नामक फिल्म बनायी थी, जिसमें चुम्बन के दृश्य दिखाए गए थे। लेकिन ल्यूमियर बन्धु ने सिनेमा को नया आयाम दिया और फ्रांस के एक कैफे में फिल्म का प्रदर्शन किया। 1895 में ल्यूमियर बन्धु ने अपने उपकरण का पेटेन्ट कराया था।

1920 में टॉकी इरा यानी बोलती हुई फिल्मों का दौर आ चुका था और उसी के साथ 24 फ्रेम प्रति सेकेन्ड की गति से चलचित्र चलने लगे थे।

भारत में यह दस वर्ष बाद 1931 में आया। 1931 में आलम आरा के साथ टॉकी फिल्मों का दौर शुरु हो चुका था।

इस फिल्म की सफलता का कारण इसमें 12 गानों का होना था।

इसी की तर्ज पर एक निर्माता ने 74 गानों वाली फिल्म बनाई। इस फिल्म का नाम इन्द्रसभा था। भारत में जब टॉकी इरा का दौर आरम्भ हुआ तो रूका नहीं।

तकनीकी विकास के साथ सब कुछ बदलता गया। सोहराब मोदी ने टेक्नीकलर फिल्म बनायी ''झाँसी की रानी, जो बुरी तरह असफल हो गई। ऐसा होने से, निर्माताओं की हिम्मत टूट गई और किसी ने टेक्नीकल फिल्म नहीं बनाई। अंत में महबूब खान ने 16 एम0 एम0 गेज पर 'आन' फिल्म बनाई थी। यह फिल्म 16 एम0 एम0 गेज पर मात्र असफलता और नुकसान से बचने के लिए बनाई गई थी। आज भारत का फिल्म उद्योग विश्व के बड़े उद्योगों में से एक है।

## 1.2 भारतीय सिनेमा का इतिहास

### 1.2.1

1886 में ल्युमियर बन्धुओं ने मुम्बई के वॉटसन होटल में छः मूक लघु फिल्में दिखाई। शीघ्र ही हीरालाल सेन और एच0 एस0 भारवडेकर ने कोलकाता में और मुम्बई में फिल्में बनाना शुरू किया। ल्युमियर बन्धुओं की तरह भारवडेकर ने 1899 में भारत की पहली यथार्थ वाली फिल्में बनायीं। पहले नाटकों पर फिल्में बनाने का दौर था। पहली भारतीय फीचर-फिल्म राजा हरिश्चन्द्र कही जा सकती है जो 1913 में बनी। इसे भारतीय सिनेमा के पिता कहे जाने वाले दादा साहेब फालके ने बनाया था। 1920 तक फिल्म उद्योग से प्रतिवर्ष 27 फिल्में बनना शुरू हुई जो 1931तक 207 फिल्में प्रतिवर्ष हो गया। आज भारत में 800 फिल्में प्रतिवर्ष बनती हैं।

### 1.2.2

आलम आरा (1931) पहली बोलती फीचर-फिल्म थी और इसमें सात गाने इसे बहुत लोकप्रिय बना सके। फिल्म निर्माताओं को लगा कि शायद गानों से फिल्में हिट होती हैं, अतः गानों का वर्चस्व फिल्मों में बढ़ गया। इसी के चलते इन्द्रसभा में 71 गाने रखे गए जो आज तक का एक रिकार्ड है। गाने हिन्दी फिल्मों का एक अहम अंग माने जाने लगे।

### 1.2.3

सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि बोलती फिल्मों के पदार्पण के साथ ही मूक फिल्मों का दौर खत्म हो गया। इम्पीरियल फिल्म कम्पनी द्वारा निर्मित और अर्देशिर इरानी द्वारा निर्देशित पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' 14मार्च, 1931 को जारी हुई। मुम्बई के मैजिस्खि सिनेमाघर में बोलती फिल्मों से फिल्म उद्योग में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया।

## 1.3 क्षेत्रीय फिल्में

1931 में ही बंगाल और दक्षिण भारत में भी बोलती फिल्मों का प्रारम्भ हो गया। बंगला में पहली बोलती फिल्म जुमाई शास्त्री थी । तेलुगू में भक्त प्रहलाद और तमिल में कालिदास फिल्में भी 1931 में जारी हुईं।

क्षेत्रीय संस्कृति और फिल्मों को अपनी ही भाषा व पहनावे में देखने की ललक ने क्षेत्रीय भाषा की फिल्मों को बढ़ावा दिया और बंगला, तमिल, तेलगू,

मराठी, गुजराती, कन्नड, मलयालम, उड़िया, असमिया, अंग्रेजी और बहुत सी दूसरी भाषा की फिल्में क्षेत्रीय भाषाओं में बनना शुरू हुईं।

## 1.4 स्वर्ण युग

### 1.4.1

मधुर लुभावन गानों के साथ आजादी के बाद के समय में भारतीय सिनेमा का स्वर्ण युग रहा। इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की मान्यता मिली। सत्यजित रे के 'पथेर पांचाली' से जो 1955 में आयी। सत्यजीत रे अपने समय के महान निर्देशकों में से एक माने जाते थे। 1995 में अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले ही उन्हें जीवनपर्यन्त यादगार सेवाओं के लिए ऑस्कर पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

### 1.4.2

70 के दशक में समानान्तर सिनेमा का जन्म हुआ, जिसने यथार्थवादी फिल्मों को बढ़ावा दिया। इसी समय प्रशासन के खिलाफ नाराज युवा वर्ग का जन्म हुआ, जिस किरदार को भारतीय सिने उद्योग के सुपरस्टार कहे जाने वाले अमिताभ बच्चन ने खूब निभाया। अमिताभ बच्चन वस्तुतः स्वयं में एक उद्योग थे और यह स्थिति् 80 के दशक के अन्त तक रही।

### 1.4.3

30 का दशक भारतीय सिनेमा के इतिहास में सामाजिक प्रतिवादों का दौर था। तीन बड़े बैनर प्रभात, बॉम्बे रॉकी और न्यू थियेटर ने गम्भीर फिल्म की, किन्तु मनोरंजन करने वाली फिल्मों का दौर शुरू किया। इसी समय सामाजिक अन्याय जैसे विषयों पर कई फिल्में बनीं। जैसे व्ही0 शान्ताराम की 'दुनिया ना माने', 'आदमी' और 'पड़ोसी', 'फ्रांज ऑस्टेन की 'अछूत कन्या', डायले और फतेहलाल की 'सन्त तुकाराम', महबूब की 'वतन', 'एक ही रास्ता' और 'औरत'। पहली बार अर्देशिर इरानी ने 1937 में रंगीन फिल्म बनाने का प्रयास किया। इस फिल्म का नाम 'किसान कन्या' था।

### 1.4.4

इसी दशक में पहली बोलती मराठी फिल्म (अयोधिमंचा राजा 1932), गुजराती (नरसिंह मेहता, 32), कन्नड.(ध्रुवकुमार, 34), उड़िया (सीता विवाह, 34) पंजाबी (शीला 35) और मलयालम (बालान 38)भी प्रदर्शित हुईं।

### 1.4.5

यह दशक जिसमें दूसरा विश्व युद्ध हुआ और भारत को आजादी मिली, सिनेमा की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण था। 40 के दशक में बहुत सी यादगार फिल्में प्रदर्शित हुई। जैसे शान्ताराम की डा0 कोटनीस की अमर कहानी, महबूब की रोटी, चेतन आनन्द की नीचा नगर, उदय शंकर की कल्पना, अब्बास की धरती के लाल, सोहराब मोदी की सिकन्दर, पुकार और पृथ्वी बल्लभ। जे0 बी0 एच0 वालिया की कोर्ट डांसर, एस0 एस0 वासन की चंद्रलेखा, विजय भट्ट की भरत-मिलाप, राम राज्य, राजकपूर की बरसात और आग।

### 1.4.6

पहला अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सव जो 1952 में मुम्बई में हुआ पर भारतीय सिनेमा की गहरी छाप थी। 1955 में जबरदस्त परिवर्तन हुआ। सत्यजित रे के आने से और उनकी बेहतरीन फिल्म पथेर पांचाली से जिससे भारतीय सिनेमा को विश्व सिनेमा में सीधे प्रवेश मिला, अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता कान्स फिल्म महोत्सव में मिली जिसमें मानवतावादी फिल्मों का काफी जोर रहा। कई पुरस्कार भारतीयों की जेब में आए।

## 1.5 यथार्थवादी दौर

### 1.5.1

यथार्थवादी दृष्टिकोण भी हिन्दी सिनेमा में तभी से परिलक्षित होना शुरू हुआ। विमल राय की 'दो बीघा जमीन' 'देवदास', और 'मधुमती', राज कपूर की 'बूट पालिश', 'श्री 420' और 'जागते रहो', 'व्ही0 शान्ताराम की 'दो आंखें बारह हाथ' और 'झनक झनक पायल बाजे' और महबूब की 'मदर इंडिया' आदि फिल्में इस बात का उदाहरण थीं।

### 1.5.2

गुरुदत्त की प्यासा और कागज के फूल, बी0 आर0 चोपड़ा की कानून, पहली भारत रूस के समन्वय से फिल्म भी 50 के दशक में बनीं। रंगीन का दौर और मनोरंजन के दूसरे साधनों का दौर शुरू हुआ। फिल्म उद्योग ने फिर एक बदलाव देखा। 60 के दशक में हल्की- फुल्की फिल्में आयीं जो वितरक की जेब को देखकर और बॉक्स आफिस पर नजर रखकर बनायी गयीं। 60 का दशक हालांकि

एक जबरदस्त झंकार के साथ शुरू हुआ, जब के आसिफ की फिल्म मुगले आजम प्रदर्शित हुई और भीड़ जुटाने के पिछले सारे रिकार्ड इसने तोड़ डाले। फिर कई एक रोमांटिक फिल्में नाच-गानों से भरी आयीं।

**1.5.3**

राजकपूर की 'जिस देश में गंगा बहती है', संगम, दिलीप कुमार की गंगा-जमुना, गुरूदत्त की साहिब, बीबी और गुलाम, देव आनन्द की गाइड, बिमल राय की बन्दिनी, एस0 मुखर्जी की जंगली, सुनील दत्त की मुझे जीने दो, और प्रयोगवादी फिल्म यादें, बासु भट्टाचार्य की तीसरी कसम, प्रमोद चक्रवर्ती की लव इन टोकियो रामानन्द सागर की आरजू, शक्ति सामन्त की आराधना, ऋषिकेष मुखर्जी की आशीर्वाद और आनन्द, बी0 आर0 चोपड़ा की वक्त, मनोज कुमार की 'अवतार' प्रसाद प्रोडक्सन की 'मिलन', इस दशक की महत्वपूर्ण फिल्में थीं।

## 1.6 प्रादेशिक भाषाओं में फिल्में

### पूर्ण हिन्दी फिल्में

**1.6.1**

प्रादेशिक भाषाओं में मलयालम सिनेमा ने 60 के दशक में साहित्य से प्रेरित हो काफी काम किया। मलयालम सिनेमा सुर्खियों में तब पहली बार आया जब रामू करिआत की छम्मीन (1965) ने राष्ट्रपति का स्वर्ण पदक जीता। इस दशक के अन्त में मृणाल सेन की भुवनसोम ने भारतीय सिनेमा में नयी लहर की शुरूआत की।

भारतीय सिनेमा का फैलाव हुआ, इसलिए कि इसमें कलात्मक गुण था तो आधुनिकता भी, करुणा, मानवता तो फैंटेसी थी।

**1.6.2**

रिप्विक धरक ने भारतीय सिनेमा पर अपना प्रभाव छोड़ा। पूर्वी बंगाल के विस्थापितों पर उन्होंने फिल्म बनायी- मेछे ढका, टाटा अजान्त्रिक, कोमल गंधार सुवर्णरेखा। मृणाल सेन नयी लहर व फैंटेसी के मिश्रित प्रयोग के पक्षधर थे। उनकी उल्लेखनीय फिल्में भुवनसोम, कोरस, मृगया, एक दिन प्रतिदिन, अकालेर संधाने, खारिज औ कंधाहारा उन्होंने कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार जीते।

**1.6.3**

मुम्बई में हिन्दी सिनेमा में एक नया निर्माताओं का समूह उभर रहा था। उनमें से प्रमुख थे बासु चटर्जी (सारा आकाश), राजिन्दर सिंह बेदी (दस्तक), मणि कौल (उसकी गेरी, दुविधा) कुमार साहवी (माया दर्पण) अवतार (27 डाउन), बासु भट्टाचार्य (अनुभव) एम0 एस0 सथ्यू (गरम हवा), श्याम बेनेगल (अंकुर) और कांतिलाल राठौड़ (बाकू) आदि। कोलकाता में रेधख सेन द्वारा 'दिखाए गए रास्ते के चलते तपन सिन्हा और तरुण मजूमदार ने भी कुछ यादगार फिल्में बनायीं (काबुलीवाला, हाटे बाजारे, हारमोनियम, सफेद हाथी, बालिका वधू, नियन्त्रण, गणदेवता, दादर कीर्ति)।

**1.6.4**

70 के दशक में बहुत बड़े बजट की कई सितारों वाली फिल्में बनीं। कमाल अमरोही की पाकीजा, राजकपूर की बॉबी, रमेश सिप्पी की शोले, जंजीर, दीवार, खून पसीना, यादों की बारात, कभी-कभी, धरमवीर, अमर अकबर अंथोनी, हम किसी से कम नहीं और मुकद्दर का सिकन्दर बड़े सितारों वाली मंहगी फिल्में थीं जिनमें मारधाड़ अत्याचार का बदला लेना आदि प्रमुख रूप से हावी रहा था।

**1.6.5**

दक्षिण में नयी लहर का सिनेमा कर्नाटक और केरल में दिखायी दिया। पट्टाभि रामा रेड्डी की दस्तकार (70)और अडूर गोपाल कृष्णन की स्वयम्वर (72) क्रमशः कन्नड़ और मलयालम में नयी परम्परा डालने वाली फिल्में थीं। कुछ सामाजिक विषयों पर हल्की फिल्में यथा एम0 टी0 वासुदेवन नैयर की निर्मलयम, बी0 वी0 कारंभ की चोमना डुडी, गिरीश करनाड की काडू, गिरीश कसारा वली की घाटश्रद्धा, जी0 अरविंद की उत्तरायण और थाम्य, के0 बालाचन्दर की अरंगेश्रम, अवरगल और अपूर्वा रगनगल, अहर कोडमेट्टम, के0 जी0 जार्ज की स्वदमन और पी0 ए0 बाकर की चुवन्ना विभुकल और जी0 वी0 अय्यर की हंसागी थे।

**1.6.6**

70 के दशक के अन्त में नयी लहर के हिन्दी सिनेमा ने क्लाइमैक्स देखा है, तब गोविन्द निहलानीं (आक्रोश), सईद मिर्जा (अल्बर्ट पिन्टो को गुस्सा क्यों आता है), अरविन्द देसाई की अजीब दास्तान, रविन्द्र धर्मराज (चक्र), सई परंजपे

(स्पर्श), मुजफ्फर अली (गमन) और विप्लव राय चौधरी (शोध) आदि निर्माता सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। यह लहर दूसरे प्रादेशिक सिनेमा तक भी पहुंची। इनमें मराठी, गुजराती, असमी, उड़िया और तेलगू प्रमुख थे। जब्बार पटेल जैसे निर्देशक (सामना, सिंहासन), रामदास पुट्टाने (सर्वसाक्षी), केतन मेहता (भावनीभ वाई), (अपरुपा, पोपारी) मनमोहन मोहापात्र (क्लान्ता अपारान्हा, माझी) पहाछा, निराद महापात्र (माया मिरिगा) और गौतम घोष (मातृ भूमि) अपनी-अपनी फिल्मों के साथ सिने बाजार में दिखाई दिए।

**1.6.7**

90 के दशक के पूर्वार्ध ने कुछ अच्छी हिन्दी फिल्मों के साथ-साथ कुछ अच्छी प्रादेशिक भाषा की फिल्में भी देखीं। दृष्टि और द्रोहकाल (निहलानी), लेकिन (गुलजार), दिशा (सई परांजपे), प्रहार (नाना पाटेकर), परिंदा (विनोद चोपड़ा), दीक्षा (अरुण कौल), कस्बा (कुमार शाहनी), रुदाली (कल्पना लाजमी), माया मेहसाब (केतन मेहता), मुझसे दोस्ती करोगे (गोपी देसाई), सूरज का सातवां घोड़ा और मम्मो (बेनेगल), वोह चोकरी (शुभांकर घोष) और एक डाक्टर की मौत (तपन सिन्हा) आदि हिन्दी फिल्में थीं, जो बंगला, उड़िया, असमी, मणिपुरी आदि प्रदेशों से आयीं। प्रादेशिक फिल्मों यथा चराचर (बुद्धदेव दासगुप्ता), उत्तोरण, (संदीप रे), व्हील चेयर (तपन सिन्हा), उनीशे अप्रैल (रितुपर्णो घोष), आदि मीमांसा, लल्वन्या प्रीथि (ए के बोस), निर्वचना (विप्लवराय चौधरी) आदि मशहूर फिल्में थीं। दक्षिण में मलयालम फिल्में जैसे वस्तुहारा (अरविन्दन) भी सराही गयीं।



## 1.7 सिनेमा पूर्व काल

**1.7.1**

पौराणिक कथाओं से कहानियां निकालकर सुनाना वह भी चित्रों और संवाद आदि के साथ पुरानी भारतीय परम्परा रही है। ये कहानियां ज्यादातर देवी-देवताओं की होती थीं जो कांच की स्लाइड पर चित्र बनाकर उन्हें प्रदर्शित की जाती थीं। जब ल्युमियर बन्धुओं ने 7 जुलाई, 1896 को मुम्बई के वॉटसन होटल में पहली बार फिल्म प्रदर्शन किया तो दर्शक जरा भी आश्चर्यचकित नहीं हुए। अपनी ओर आती ट्रेन को देखकर भारतीय दर्शकों ने ऐसा जताया कि वे इससे वाकिफ हैं और यह चीज उनके लिए नई नहीं है, और देशों में ल्युमियर बन्धुओं को ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। वहां दर्शकों ने आश्चर्य व रोमांच अनुभव किया था ऐसे दृश्य देखकर।

### 1.7.2

हरिश्चन्द्र सरलाराम भारवाडेकर जो ल्युमियर के शो में उपस्थित थे, ल्युमियर के सिनेमेंटोग्राफ को हथियाने के इच्छुक थे न कि उसकी फिल्मों को। रैंगलर परांजपे की इंग्लैंड वापसी के समय उनका चौपाटी में जोरदार स्वागत किया गया। यह समारोह भरवाडेकर द्वारा दिसम्बर 1901 में फिल्माया गया–यही पहली सामाजिक व यथार्थ भारतीय फिल्म कहलायी।

### 1.7.3

कोलकाता में हीरालाल सेन ने क्लासिक थियेटर में हो रहे नाटकों के कुछ दृश्य फिल्माए। ये फिल्मांश नाटक के बाद दर्शकों को दिखाए गए या ऐसे स्थानों में ले जाकर दर्शकों को दिखाए गए जहां यह शो करना सम्भव नहीं था। यह गुण कि एक ही दृश्य को कई बार और दूर-सुदूर स्थानों पर देखा जा सकता है, लोगों को भा गया, कलाकारों को भी, रंगमंच को भी हर कूट उस शख्स को जो मनोरंजन की दुनिया से जुड़ा था। 20वीं सदी के पहले दशक में रिकार्ड किए हुए और सीधे प्रसारण वाले दोनों तरह के कार्यक्रम रिकार्ड किए व दिखाए गए।

पारम्परिक कला, संगीत, नृत्य और लोकप्रिय थियेटर का सिनेमा पर गहरा प्रभाव था, शायद इसीलिए गाने और नृत्य का समावेश भारतीय फिल्मों में अहम रोल अदा करता रहा और यह आज भी जारी है।

## 1.8 दादा साहब फाल्के

### 1.8.1

ढुंढिराज गोविन्द फाल्के (1870-1944) को प्यार से लोग दादा साहेब फाल्के कहते थे। वे भारतीय सिनेमा के पिता कहलाते थे। फालके के फिल्म निर्माता के कैरियर में जो केन्द्रीय बिन्दु था वह यह कि वे स्वदेशी के पक्षधर थे। उन्होंने यह संदेश प्रसारित किया कि स्वावलम्बी बनने के लिए भारत को अपनी स्वयं की अर्थव्यवस्था पर ध्यान देना होगा।

### 1.8.2

फाल्के ने अपने आयातित कैमरे से बीज से अंकुरण के चित्र लिए। इसे 'दि बर्थ आफ ए पी0 प्लांट (1912)कहा गया। मटर के अंकुरण की कथा का चित्रण, इससे उनको काफी बल मिला और आर्थिक मदद भी।

### 1.8.3

'लाइफ आफ क्राइस्टर'–एक आयातित फिल्म से प्रोत्साहित होकर फाल्के ने भारतीय देवी-देवताओं को मानसिक रूप से कल्पना में लेना शुरू किया। उनका यह जुनून था कि देवी-देवताओं का दर्शन पर्दे पर विशुद्ध स्वदेशी रूप में हो। दादर के मुख्य मार्ग पर उन्होंने एक स्टूडियो बनाया। सेट लगाकर वहीं अपनी पहली फिल्म राजा हरिश्चन्द्र की शूटिंग शुरू की। यह 1912 की बात है। पूरी फिल्म बन जाने के बाद 21 अप्रैल, 1913 को रिलीज हुई और बंबई के कोरोनेशन सिनेमा में लगी।

### 1.8.4 राजा हरिश्चन्द्र

राजघराने की झलक से शुरू होती है फिल्म। बाहर की ओर लोगों का आना- जाना दिखाई पड़ता है। फिल्म को भारतीय लोककला थियेटर से प्रेरित कहा जा सकता है। कैमरा सेटअप स्थिर था और ज्यादातर गतिविधि फ्रेम के जरिये हुई है बाथटब का दृश्य जिसमें हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी तारामती को बुलाता है भारतीय फिल्मों में पहला ऐसा दृश्य था। फिल्म में दिखायी गई महिलाएं जो भीगी खड़ी हैं और भीगी साड़ी उनके शरीर से चिपक गयी, वे सभी पुरुष हैं जो स्त्री पोशाक में हैं।

### 1.8.5

फाल्के एक रूढ़िवादी हिन्दू परिवार से आते हैं । एक पुजारी परिवार से जिसकी गहरी धार्मिक जड़ें हैं। जब तकनीक ने यह सुविधा दी कि पात्रों को जैसे चाहें फिल्मांकन हेतु तैयार कर लें तब पौराणिक कथाओं में निर्माताओं की रूचि बढ़ गयी। फाल्के ने कई धार्मिक फिल्में बनायीं। यथा मोहिनी भस्मासुर (1914), जिसमें पहली महिला कलाकार कमलाबाई गोखले ने अभिनय किया कैमरे के सामने। आगे सत्यवान सावित्री (1914), सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र (1917), लंका दहन (1917), श्री कृष्ण जन्म (1918), और कालिया मर्दन (1919) और फिल्में इसी प्रकार की आयीं।

## 1.9 भारतीय सिनेमा का बोलना

### 1.9.1

30 के दशक के शुरू में मूक भारतीय सिनेमा ने 'बोलना' शुरू कर दिया। साथ ही गाना भी और नाचना भी। अर्देशिर ईरानी (इम्पीरियल फिल्म कम्पनी) द्वारा निर्मित आलम आरा 14 मार्च 1931 को प्रदर्शित हुई। यह पहली बोलती भारतीय फिल्म थी।

### 1.9.2

इस तरह मुम्बई भारतीय सिने उद्योग का केन्द्र बिन्दु बन गया जहां कई निर्माण इकाइयां वर्चस्व में आयीं और कार्यरत हुईं। 30 के दशक में माधुरी (1932) इन्दिरा एमए (1934), अनारकली (1935), मिस फ्रंटियर मेल (1936)और पंजाब मेल (1939)

### 1.9.3 वी शान्ताराम

40 के दशक में बंबई के मशहूर निर्माताओं में से थे वी0 शांताराम। उनकी पहली बोलती फिल्म अयोध्या (1932) से आदमी (1939) तक यह सिद्ध हो चुका था कि वे एक अलग हाव-भाव वाले फिल्म निर्माता थे जिनकी फिल्मों ने चर्चा और बहस के लिए लोगों को मजबूर किया। उन्होंने जातिवाद, धार्मिक अन्धापन और महिलाओं के अधिकार जैसे विषय पर फिल्में बनायीं। हालांकि शांताराम अतीत के पन्नों से कहानियां उठा रहे थे, किन्तु उन्हें वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में सजा-संवार देते थे। जहां अमृत मन्थन (1934) ने हिन्दू रुढ़िवादिता का विरोध किया, धर्मात्मा (1935) ने ब्राह्मणवाद और जातिवाद के दकियानूसी विचारों का विरोध किया। महात्मा मूल रूप में इसी नाम के साथ अंग्रेजों द्वारा प्रतिबन्धित की गयी, इस आधार पर कि इसने एक पवित्र विषय को विवादित राजनीति से जोड़ा। अमरज्योति (1936) एक महिला की कहानी है जिसमें प्रताड़ित महिला बदला लेती है। यह भारत में महिला आंदोलन की ओर इशारा करती हुई पहली ऐसी फिल्म थी।

दुनिया न माने (1937) एक साहसी महिला के साहस भरे विरोध की कहानी है जो एक वृद्ध के साथ सौदेबाजी करके विवाह की वेदी पर बैठा दी जाती है। आदमी (1939) वी0 शान्ताराम की मुख्य उपलब्धि थी।

## 1.10 कोलकाता फिल्म उद्योग

कोलकाता के मदन थियेटर ने संगीत से भरी शीशी फरहाद और लैला-मजनूँ (1931) जैसी फिल्में बनायीं। संगीत से भरी दोनों फिल्मों ने दर्शकों पर एक अकथनीय प्रभाव छोड़ा, चंडीदास (1932, बंगला) एक वैष्णवी कवि व पुजारी की कहानी है जो नीची जाति की धोबन के प्रेम में पड़ जाता है। यह फिल्म सुपर हिट हुई। पी0 सी0 बरुआ ने 1935 में देवदास बनायी। यह शरतचन्द्र चैटर्जी के प्रख्यात उपन्यास पर आधारित एक प्रेम कथा है जिसमें निराशा, अवसाद ही प्रेम का फल दिखाया गया है यह फिल्म खूब सराही गयी और निर्माताओं ने इससे बहुत प्रेरणा ली।

## 1.11 दक्षिण भारतीय सिनेमा

तमिल सिनेमा ने 1929 में जनरल पिक्चर निगम (मद्रास) के स्थापित होने से जोर पकड़ा। ज्यादातर तमिल फिल्में बहुभाषी फिल्में थीं जो तेलुगू, मलयालम, और कन्नड़ में अनुवाद थीं। पहली दक्षिण भारतीय फिल्म श्रीनिवास कल्याण ए0 नारायणन द्वारा 1934 में बनायी गयी थी।

## 1.12 सुनहरा पचास दशक

### 1.12.1

50 के दशक ने बहुत से निर्देशकों यथा महबूब, विमल राय, गुरुदत्त और राज कपूर को उठते हुए देखा। इन्होंने निःसंदेह भारतीय सिनेमा की तस्वीर बदल दी। ये निर्देशक वस्तुतः 30 और 40 के दशक में फिल्मी दुनिया में घुसे थे जब भारतीय लोगों के लिए कष्टदायी समय हो रहा था। क्योंकि आजादी की लड़ाई, सूखा, बदलते सामाजिक परिवेश, फासीवाद के प्रति विश्व भर में युद्ध इन सारी समस्याओं के बीच निर्देशक को काम करना था।

### 1.12.2 महबूब

महबूब ने जर्मानी फिल्में जो मेलोड्रामा भी थीं बनायीं। रोटी जो 1940 में बनी थी जर्मन अभिव्यक्तिवाद से प्रेरित थी। ये दो प्रारूपों की चर्चा करती है–एक अरबपतियों की जो धन व सत्ता से लैस हैं, दूसरी आदिवासी क्षेत्रों में रह रहे गरीब, भूखे लोगों की। अरबपति हवाई दुर्घना के बाद आदिवासी दम्पत्ति द्वारा बचा लिए जाते हैं। यह दम्पत्ति उनके आग्रह पर बाद में उनके शहर आ जाता है। शहर में खुशी और आनन्द न पाकर वापस अपने स्थान को लौट जाता है। अरबपति बरबाद हो जाते हैं और आदिवासी क्षेत्र में शान्ति की तलाश में निकल पड़ते हैं।

महबूब ने अपनी फिल्म 'औरत' 1940 में दोबारा रंगीन करके बनायी। 1957 में उनकी फिल्म मदर इंडिया रिलीज हुई जो बॉक्स ऑफिस हिट गयी। कहानी राधा (नरगिस) के इर्द-गिर्द घूमती है। उसका पति जो एक दुर्घटना में अपने दोनों हाथ गंवा बैठा है उसे छोड़ देता है। अकेली वह अपने बच्चों को पालती है; इस बीच आर्थिक व शारीरिक रूप से एक सूदरखोट उसका शोषण करता है। उसके पुत्रों में से एक बिरजू एक तेजतर्रार व्यक्ति निकलता है और दूसरा रामू एक कर्तव्यपरायण पुत्र होता है।

हर दृष्टि से सराही गयी महबूब की फिल्मों में गाँव और शहर, गरीब और अमीर के बीच का द्वन्द्व परिलक्षित होता है।

### 1.12.3 बिमल राय

ढाका (बांग्लादेश) में पैदा हुए बिमल राय सिने जगत में कैमरा सहायक के रूप में प्रविष्ट हुए। उनका निर्देशन उदमेर पाथे (1944) में दिखा। उन्होंने विश्वयुद्ध के बाद के रोमांस व मेलोड्रामा के बीच के सामंजस्य को पर्दे पर उकेरा।

दो बीघा जमीन (1953) और सुजाता, बिमल राय की दो यादगार फिल्में थीं। राय वस्तुतः एक सुधारक और बदलाव के हिमायती थे। 'दो बीघा जमीन' ग्रामीण क्षेत्रों से शहर में पलायन कर रहे उन हजारों लोगों की कहानी थी जो शहर में जमीन तलाशते हैं। हालांकि कहानी दुखदायी है किन्तु फिर भी राय दर्शकों को गाने और नृत्य के साथ बांधे रख पाते हैं। सुजाता में अछूत होने का पुल कैसे झेला जाता है इस बात का प्रस्तुतीकरण बेहतरीन ढंग से किया गया है जो हृदय को छूता है।

### 1.12.4 गुरूदत्त

बंगलूर में पैदा हुए और कोलकाता में पढ़े गुरुदत्त फिल्मी दुनिया में एक अभिनेता के रूप में आए। बाजी में निर्देशक के पहले उन्होंने कोरियोग्राफर और सहायक निर्देशक का काम किया। उनकी शुरू की फिल्में मनोरंजन से भरी होती थीं। जैसे आर-पार (1954) मि0 एण्ड मिसेज 55 (1955), सी0 आई0 डी0 (1956), प्यासा (1957) के साथ गुरुदत्त ने भारतीय सिनेमा की सर्वाधिक रोमांटिक फिल्में बनायी। कागज के फूल (1959) सिनेमास्कोप पर बनी पहली फिल्म थी जो मूलतः आत्मकथात्मक थी। फ्लैश बैक में यह एक प्रतिष्ठित निर्देशक की कथा है, उसकी घटना है शादी की, एक नायिका के प्रवेश की, जिससे बातें बढ़ी और उसका पतन और फिर उसकी मृत्यु हुई। कागज के फूल की आर्थिक विफलता का गुरूदत्त पर जबरदस्त सदमा लगा और उन्होंने 1964 में आत्म हत्या कर ली।

### 1.12.5 राज कपूर

पेशावर में पैदा हुए जो अब पाकिस्तान में है, पृथ्वीराज कपूर के बेटे राज कपूर एक सफल निदेशक और निर्माता रहे। वे हिन्दी फिल्मों में ताली बजाते थे और फिर फिल्म उद्योग के सफलतम निर्देशक कहलाए। 1948 में उन्होंने आर0 के0 फिल्मस् का बैनर स्थापित किया और 'आग' बनायी। आवारा (1951), श्री 420 (1955) समाज-सुधार का बीड़ा उठाती हैं। उनकी जवां दिलों की मुहब्बत दर्शाने वाली फिल्म बॉबी (1973) और फिर सत्यम् शिवम् सुन्दरम् (1978) बड़ी हिट हुई। हां, मेरा नाम जोकर प्रशंसा तो पा सकी किन्तु बाजार उतना न कर सकी जितनी उससे आशा थी।

## 1.13 बॉलीवुड

**1.13.1**

बालीवुड के विलक्षण उलटफेर से हम परिचित हैं। नाच-गानों से भरी फिल्में ही भारतीय सिनेमा की पहचान हैं, जहां प्रयोगे भी होते रहते हैं। मीरा नायर की 'मानसून वेडिंग' इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। किन्तु भारतीय सिनेमा इस स्थिति तक कैसे पहुंचा, इसरा आभास हममें से कुछ ही को है। भारतीय सिने उद्योग आज विश्व का सबसे बड़ा सिने उद्योग है जहां हर वर्ष 800 फिल्में बनती हैं।

**1.13.2**

बॉलीवुड शब्द बम्बई और हॉलीवुड के मिश्रण से बना है। फिल्मी संकट शुरू हुआ 1896 में, जब ल्युमियर बन्धु 6 फिल्में भारत लेकर आए। 1920 तक भारत 27 फिल्में प्रतिवर्ष बनाने की स्थिति में आ गया।

**1.13.3**

30 के दशक में 200 फिल्में प्रतिवर्ष बनने लगी थीं। 30 और 40 के दशक की फिल्में द्वितीय विश्वयुद्ध, भारत की आजादी और विभाजन इन सब समस्याओं को प्रतिबिम्बत करती थीं। इस दौरान संगीत फिल्मों में प्रधान तत्व रहा। अभिनेता शुरू में स्वयं गाना गाता था, बाद में प्लेबैक गानों की प्रथा पड़ी। 50 के दशक से रंगीन फिल्में शुरू हुईं जिनमें दौलत, सौन्दर्य, रोमांस भरा रहता था।

60 के दशक में फिल्मों ने नयी पीढ़ी की समस्याओं को भी उठाने की हिम्मत की। गरीबी, यथार्थ पर भी फिल्में बनीं, किन्तु वे एक वर्ग विशेष द्वारा ही पसन्द की गयीं।

**1.13.4**

90 के दशक में कई निर्माताओं को वही तकनीक अपनाते हुए देखा गया जिनकी वे कभी आलोचना किया करते थे। बॉक्स ऑफिस सफलता के लिए निर्माता चीजों को तोड़-मरोड़कर नाच-गाने भरने लगे।

**1.13.5**

नयी लहर का सिनेमा भी धीरे-धीरे केंचुल से बाहर आ रहा था। किन्तु नाच- गाना फिल्मों का आवश्यक अंग बना ही रहा।

**1.13.6**

फिल्मों में गानों का ऐसा प्रभाव रहा कि बहुत से दर्शक केवल गाने सुनने के लिए फिल्म देखने पहुंच जाते थे। गानों का फिल्मों में पसन्द किया जाना इस बात का आधार बना कि गीत-संगीत का अपना एक महत्व है। यह महत्व आज भी बदस्तूर जारी है।

**1.13.7**

कोई माने या न माने बम्बई के फिल्मी उद्योग का आधुनिक सिने संसार में एक खासा योगदान है जिसके छींटे अन्तर्राष्ट्रीय सिने संसार तक पहुंचते हैं।

## 1.14 सारांश

इस इकाई में हमने भारतीय सिनेमा के उद्‌भव एवं विकास का वर्णन किया।

विश्व के इतिहास से तुलनात्मक अध्ययन के अन्तर्गत यह पाया गया, यद्यपि तकनीकी विकास की प्रक्रिया यूरोप में अमेरिका में, बहुत पहले शुरू हो चुकी थी तथापि सिनेमा के विकास में, भारत अधिक पीछे नहीं रहा।

एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है, कैमरा, ध्वनि अंकन, मुद्रण, प्रयोगशाला, रसायनशाला का सम्पूर्ण इतिहास फ्रांस, इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा अन्य यूरोपीय देशों में हुआ, भारत उसमें कोई योगदान नहीं दे सका। भारत में पहली टॉकी फिल्म 1930 में बनी थी और यूरोप में पहली टॉकी फिल्म 1920 में बनी थी, तकनीकी क्षेत्र में, भारत में पूर्ण संत्राप रहा। कैमरा, साऊन्ड लाइन, रॉ स्टाक, अभी भी, भारत में विदेशों से आता है।

भारत में; प्रोसेसिंग लैब, साऊन्ड लैब तथा साऊन्ड रिकार्डिंग स्टूडियो की बाढ़ तो आई, लेकिन उसमें मशीनों का आयात किया गया।

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है, भारत प्रत्येक तकनीकी क्षेत्र में शून्य योगदान की श्रेणी में रहा, लेकिन रचनात्मक फिल्म निर्माण तथा निर्देशन में भारत ने खूब नाम कमाया। सत्यजित रे को पहला ऑस्कर, मृत्यु से पूर्व प्रदान किया गया था।

## 1.15 शब्दावली

| | |
|---|---|
| मूक फिल्म | बिना आवाज की फिल्म |
| टॉकी | बोलती हुई |
| ऑप्टिकल खिलौने | यह नाम फिल्म को जनता ने दिया था। |

| | |
|---|---|
| काम्पट्रोप | ऑप्टिकल खिलौने का प्रारम्भिक रूप |
| फेन्टास्कोप | एक भी वस्तु के कई चित्र लेकर दर्शाने की प्रक्रिया |
| सेल्यूलाइड | फिल्म का रूप |
| काइनेटोस्कोप | चलचित्र प्रोजेक्टर की शुरुआती डिजाइन |
| मूवी कैमरा | चलचित्र छायांकन का उपकरण |
| प्रिन्टर | फिल्म प्रिन्ट करने का उपकरण |

## 1.16 संदर्भ ग्रन्थ


| | |
|---|---|
| इलेक्ट्रानिक मीडिया और फिल्म प्रोडक्सन | राजकृष्ण मिश्र |
| फिल्म एज फिल्म | वी0 एफ0 परकिन्स |
| सिनेमा ऐन आर्ट | रेल्फ स्टीफेन्सन और जे0 आर0 डिबरिश |
| कम्यूनीकेशन | विलियम्स रेमन्ड |
| मूवी मुगल्स | फिलिप फ्रेन्च |
| माई बायोग्राफी | चार्ल्स चैपलिन |
| माई फेयर लेडी | ऐलेन जे लरनर |
| कनटेमपरेरि सिनेमा (1945-1964) | पेनीलोप हाऊस्टन |
| फिल्म और रियल्टी | राय आर्मेस |


## 1.17 सम्बन्धित प्रश्न

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

(i) ल्यूमियर बन्धु ने मुम्बई में, कब 6 लघु फिल्में दिखाई थीं?

(ii) भारत की पहली टॉकी का नाम बताइए। इसे किसने बनाया था?

(iii) पहली टेक्नीकलर फिल्म का नाम और निर्माता-निर्देशक कौन था, यह बताइए।

(iv) बंगाल और दक्षिण भारत में, बोलती फिल्म या टॉकी का दौर कब प्रारम्भ हुआ?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

(i) भारत में, फिल्म उद्योग के उद्‌भव एवं विकास के दौर की विवेचना कीजिए।

(ii) भारत में फिल्म के स्वर्ण युग का विवरण दीजिए।

(iii) बिमल राय, के. आसिफ, राजकपूर और गुरुदत्त के फिल्म के क्षेत्र में रचनात्मक योगदान का विश्लेषण कीजिए।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

(क) भारत में टॉकी फिल्म–

(i) 1942 में बनी थी।

(ii) 1931 में बनी थी।

(iii) 1956 में बनी थी।

(iv) 1919 में बनी थी।

(ख) बोलती फिल्मों के आने के बाद;

(i) मूक फिल्मों का दौर समाप्त हो गया।

(ii) मूक फिल्में बनती रहीं।

(iii) मूक फिल्मों का दौर 1947 में समाप्त हुआ।

(iv) मूक फिल्में आज भी बन रही हैं।

(ग) पथेर पांचाली फिल्म

(i) 1968 में प्रदर्शित हुई थी।

(ii) 1960 में बनी थी।

(iii) 1955 में प्रदर्शित की गई थी।

(iv) 1975 में आयी थी।

(घ) दक्षिण में, नयी लहर का सिनेमा–

(i) कर्नाटक और केरल में प्रचलित हुआ।

(ii) आन्ध्रा और तमिलनाडु में आया

(iii) तमिलनाडु में जोर पकड़ा

(iv) गुजरात में उसका विकास हुआ

**उत्तर**

(क) (ii) (ख) (i) (ग) (iii) (घ) (i)

# संयुक्त इकाई-2 और 3 पाकिस्तान और बंगलादेश

## इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 पाकिस्तान उद्योग की स्थापना

2.3 लाहौर के फिल्मी सफर में एक और मोड़

2.4 1960 का दशक

2.5 1980 का दशक

2.6 1990 का दशक

2.7 भविष्य

2.8 बंगला फिल्म-संसार बंगलादेश

2.9 1980 का दशक

2.10 1990 का दशक

2.11 सिनेमाघर फिर शबिस्तां

2.12 बंगलादेश फिल्म इतिहास

2.13 सुकुमारी का एक दृश्य

2.14 ध्रुव में नजरुल

2.15 आसिया की एक झलक

2.16 सारांश

2.17 शब्दावली

2.18 संदर्भ ग्रन्थ

2.19 सम्बन्धित प्रश्न

## 2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात्, आप जान सकेंगे–

(i) पाकिस्तान की पहली, सबसे पहली फिल्म कौन सी थी।

(ii) पाकिस्तान फिल्म उद्योग का सफर कैसे गुजरा।

(ii) पाकिस्तान फिल्म उद्योग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ क्या थीं।

(iv) पाकिस्तान में फिल्म पुरस्कारों की योजना कब से आरम्भ हुई और किसने आरम्भ की तथा किसके नाम से शुरू की गयी।

(v) वर्त्तमान पाकिस्तानी फिल्म उद्योग किस दौर से गुजर रहा है और उसका भविष्य क्या है।

(vi) विभाजन के पश्चात् बंगला फिल्म उद्योग दो भाग में बंट गया। किस प्रकार बंगलादेश फिल्म उद्योग का जन्म हुआ।

(v) बंगलादेश के फिल्म उद्योग के बारे में।

## 2.1 प्रस्तावना

1947 तक भातीय फिल्म उद्योग एक था, एक इकाई माना जाता था। यद्यपि वह कई जगहों पर स्थापित था। मुम्बई में हिन्दी सिनेमा था। कोलकता में बंगला सिनेमा था। ढाका में, बंगला सिनेमा था। लाहौर में उर्दू या हिन्दुस्तानी सिनेमा था। मद्रास में तमिल सिनेमा था। आन्ध्रा यानी हैदराबाद में तेलगू सिनेमाघर, कर्नाटक में कन्नड़ सिनेमा घर अन्य केन्द्रों पर भी फिल्में बनती थी, प्रदर्शित की जाती थीं।

विभाजन के पश्चात्–ढाका बंगलादेश में चला गया यानी बंगला फिल्मों का एक केन्द्र भारत के फिल्म उद्योग से अलग हो गया। उधर पाकिस्तान बन जाने से, लाहौर का फिल्म उद्योग, भारत या मुम्बई फिल्म उद्योग से अलग होकर, पाकिस्तान में शामिल हो गया।

तामिल, तेलगू इत्यादि अन्य केन्द्र विभाजन से प्रभावित नहीं हुए, अतः वहाँ पर, मद्रास (चेन्नई), हैदराबाद, केरल, कर्नाटक में यथास्थिति बनी रही और अन्य प्रमुख केन्द्र आसाम, उड़ीसा तेजी से विकसित हुए।

## 2.2 पाकिस्तान फिल्म उद्योग की स्थापना

8 अगस्त, 1948 को पाकिस्तान की पहली फिल्म 'तेरी याद' लाहौर के प्रभात थियेटर में प्रदर्शित की गयी। इसमें आशा घोशले, नासिर खान (दिलीप

कुमार का भाई) ने भूमिकाएं निभायीं। संगीत नाथ ने दिया था, निर्माता थे दीवान सरदारी लाल और निर्देशक दाउद चांद।

अगले कुछ वर्षों में थियेटर में लाहौर की फिल्में भीड़ जुटाने लगीं। 7 अप्रैल, 1950 को एक फिल्म 'दो आंसू' पहली पाकिस्तानी-उर्दू फिल्म थी जिसने रजत जयन्ती (25 सप्ताह) की। इसमें संतोष कुमार, अजमल, अलाउद्दीन ने अभिनय किया। जबकि नयी अभिनेत्री सबीहा खानम जो कुछ और फिल्मों में भी आयी ने भी प्रमुख भूमिका निभायी। संगीत मुबारक का था। शेख लतीफ ने यह फिल्म नौबहार फिल्म्स् के लिए बनायी थी और इसके निर्देशक थे अनवर कमल।

29 अप्रैल, 1950, को एक अन्य महत्वपूर्ण फिल्म 'चान्वे' चर्चा में आयी क्योंकि यह एक महिला मैडम नूरजहाँ द्वारा निर्देशित पहली पाकिस्तानी फिल्म थी। इसमें उन्होंने अभिनय भी किया। उनके अतिरिक्त सन्तोष कुमार, जहाँगीर, गुलाम मुहम्मद ने भी अभिनय किया। संगीत फिरोज निजामी का था और निर्माता थे उनके पति शौकत हुसैन रिज़वी जिन्होंने शहनूर फिल्म्स् के बैनर तले फिल्म निर्माण किया। पटकथा इम्तियाज अली ताज ने लिखी थी।

## 2.3 लाहौर के फिल्मी सफर में एक और मोड़

महत्वपूर्ण मोड़ 3 जून, 1954 को आया जब एक उर्दू फिल्म 'सासी' रिलीज हुई और 50 हफ्ते चलकर इसने एक रिकार्ड बनाया। यह किसी फिल्म के स्वर्ण जयन्ती मनाने का पहला अवसर था। इसमें सबीहा खानम, सुधीर, आशा घोसले, नजर, सलीम रज़ा (इसी नाम के गायक से संदेह न हो) ने अभिनय किया। संगीत चिश्ती ने दिया था और फिल्म निर्माता थे जे0 सी0 आनन्द जिन्होंने एवरेडी प्रोडक्शन के अन्तर्गत फिल्म बनायी। निर्देशक थे दाउद चाँद जिन्होंने पूर्व में 'तेरी याद' भी निर्देशित की थी।

12 मार्च, 1956 को पाकिस्तानी फिल्मी दुनिया के लिए यादगार दिन था जब पहली सिन्धी भाषा की फिल्म 'उमर मारवी' जो फजलानी फिल्म के बैनर तले बनी थी, प्रदर्शित हुई। इसमें निगार सुलताना, फजलानी और चार्ली ने अभिनय किया था। संगीत गुलाम नबी लतीफ का था। निर्माता थे फजलानी और निर्देशक शेख हसन

17 जुलाई, 1958 को फिल्म पात्रवार इलियास रशीदी ने पहली वार्षिक

फिल्म पुरस्कार योजना निगार पुरस्कार शुरू की जो फिल्म निर्माण के विभिन्न पहलुओं के लिए थी।

जागो हुआ सवेरा जो 25 मई, 1959 को रिलीज हुई को अच्छा रेस्पांस नहीं मिला जबकि पटकथा और संगीत मशहूर शायर फैज अहमद फैज ने लिखी थी। यह एक आश्चर्य था क्योंकि फैज का पूरे दक्षिण एशिया में नाम था और उनका काम प्रशंसा पाता था। जागो हुआ सवेरा का संगीत टिमर बर्न ने दिया था। निर्माता थे नोमन तसीस (सेंचुरी फिल्म के बैनर तले) और निर्देशक थे ए0 जे0 कारदार।

## 2.4 1960 का दशक

1960 के दौरान निर्देशक मुंशी दिल और निर्माता आगा जी0 ए0 गुल की उर्दू फिल्म 'आजरा' पहली रंगीन (गाने भी रंगीन) फिल्म थी। फिल्म के सभी गाने हिट थे जो नीलो, एजाज, लैला, एम0 इस्माइल और नईम हाशमी द्वारा लिखे गए थे।

निर्देशक डाका ने संगम बनायी जो पहली पूरी लम्बाई की पाकिस्तानी फीचर फिल्म थी जो 23 अप्रैल, 1964 को रिलीज हुई। यह रंगीन थी। इसमें रोजी, हारुन, खलील आदि ने काम किया था। कुछ लोगों का मानना है कि 'माला' पहली पाकिस्तानी रंगीन सिनेमास्कोप फिल्म थी। संतोष कुमार और साहिबा खानम ने माला में अभिनय किया। यह पश्चिमी पाकिस्तान की पहली रंगीन फिल्म थी। संगीत अताउर रहमान ने दिया था। निर्माता निर्देशक थे जहीर रेहान और बैनर था सुन्ने सर्किल प्रेजेन्टेशन।

26 मई, 1961 को के प्रोडक्शन द्वारा 'बॉम्बे वाला' रिलीज की गयी। यह एकमात्र पाकिस्तानी फिल्म थी जिसका नाम भारतीय शहर के नाम पर रखा गया था। यह आश्चर्य ही था कि फिल्म सेंसर बोर्ड से पास भी हो गयी इसी नाम से।

1962 में, फिलस्तीनी विषय पर एक फिल्म 'शहीद' बनी। इसमें तालिश था यह एक हिट थी। इसी समय 1963 में, मुसर्रत नजीर, एक लोकप्रिय अभिनेत्री ने कनाडा जाकर सैकड़ों लोगों का दिल तोड़ा। वहां उसने एक डाक्टर से शादी भी कर ली। उसकी अन्तिम फिल्म 'बहादुर' अपूर्ण थी। लेकिन इस कार्यकाल में सैयद कमाल की उपस्थिति फिल्म 'ताँबा' में तहलके के साथ आयी और सफल हुई।

सितम्बर 1965 में भारत और पाकिस्तान के युद्ध में पाकिस्तानी सिनेमाघरों से भारतीय फिल्में उतार दी गयीं पूर्ण बन्द के चलते। आज कोई भी फिल्म दूरदर्शन पर चलायी जा सकती है और डीवीडी, वीसीडी और वी0 एच0 एस0 के जरिए खरीदी जा सकती है।

60 के दशक में 'वहीद मुराद' के पदार्पण के बाद मार्लोन बोडो या एल्विस प्रिसले (पाकिस्तान) को भूमिकाएं मिलीं। 1966 में 'अरमान' रिलीज हुई और पाकिस्तानी फिल्म उद्योग को प्रोत्साहन मिला। यह प्लेटिनम जयन्ती (75 हफ्ते) मनाने वाली पहली पाक फिल्म थी।

अभिनेता नदीम (असली नाम नजीर बेग) अपनी पहली फिल्म चकोरी जो 1967 में आयी, से ही मशहूर हुए। अपने व्यक्तित्व व दिलीप कुमार स्टाइल अपनाने के कारण उसके साथी उसे काफी समर्पित मानते हैं।

1967 में हबीब ने पहली पाकिस्तानी डरावनी फिल्म बनायी–जिन्दा लाश जो बड़ी हिट हुई। यह पाकिस्तान की पहली X-रेट फिल्म थी। इसमें नदीम, शबनम् रेहान कवी थे।

ईस्टर्न फिल्म मैगजीन (संपादक - सैद हारून) पाकिस्तान की फिल्मी दुनिया की खबर देने वाली लोकप्रिय पत्रिका साबित हुई। साक्षात्कार, फिल्म समीक्षा, गपशप, समाचार के अतिरिक्त एक प्रश्नोत्तर का स्तम्भ 'योर्स इम्पियरली' चलता था। उपसम्पादक आसिफ नूरानी ने फिल्म फेयर के आई0 एस0 जौहर वाले पेज की तरह इसे डिजाइन किया था।

3 जनवरी, 1969 को पहली `A' फिल्म नीला पर्वत रिलीज हुई। इसमें मोहम्मद अली, हुस्ना, शाहनवाज (वरिष्ठ), कोमल, तालिश और कमाल ईरानी थे। निर्माता-निर्देशक थे अहमद बशीर, बैनर था फिल्म यूरोपिया, संगीत दिया था पिया रंग कादिर ने।

अक्टूबर 1969 में लेखक, निर्देशक, निर्माता रियाज शाहिद ने रजका (17 अक्टूबर को रिलीजी हुई) के वितरण प्रस्ताव अल फतह, एक फिलस्तीनी गुरिल्ला संगठन, को दिए। फिल्म में अभिनेत्री नीलो को इच्छा न होने पर भी नाचने के लिए मजबूर किया जाता है। यह 12 फरवरी, 1965 को घटी वास्तविक घटना कही जाती है। साथ ही हबीब जलील के मशहूर गीत 'नीलो' भी चलता है। तभी पुश्ता

फिल्म ने थोड़ी अश्लील फिल्में बनाना शुरू किया। धन्यवाद मुसर्रत शाहीन, चकोरी और राजनीतिज्ञों का जिनके प्रभाव के आगे सेंसर की कैंची में भी जंग लग जाती है।

इस गुंडा सभ्यता और अश्लील फिल्मांकन ने लॉलीवुड की नरम व रोमांटिक छवि को धूल चटा दी। तब से सैकड़ों राउन्ड गोली बारी, मारकाट और मसाले के बिना कोई भी लालीवुड फिल्म अधूरी मानी जाने लगी।

## 2.5 1980 का दशक

1984 में वाहिद मुराद का वर्ष था। वह चाकलेट हीरो था जो 1983 में शराब, आमाशय का कैंसर और टूटे दिल की भेंट चढ़ गया। इस वर्ष उसकी पहले की फिल्में चल निकलीं। एक अधूरी फिल्म भी इसी के चलते पूरी की गयी जिसमें कुछ फर्जी शॉट भी लगाने पड़े। यह फिल्म 1985 में रिलीज हुई।

सईद रिजवी की शनि, पाकिस्तान की पहली विज्ञान-कथा पर बनी फिल्म थी इसने आशातीत सफलता पायी। इसमें शान ने काम किया था और यह 1987 में रिलीज हुई थी। बाद में यह फिल्म रूस के अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में भी प्रदर्शन हेतु गयी।

## 2.6 1990 का दशक

1990 में इन्टरनेशनल गोरिल्ले रिलीज हुई। यह एक नृत्य-सेक्स धर्म की फार्मूला फिल्म थी जिसमें सलमान रुश्दी को दिखाया गया था जिसकी भूमिका अफजल अहमद ने निभायी थी। वह अपनी खून की प्यास मुस्लिम बंधक बनाए लोगों को तलवार से काटकर बुझाता है। इस्लामाबाद पुलिस फाइरिंग जो 12 फरवरी, 1989 को हुई थी, भी इसमें दिखाई गयी थी।

**1990**

1970 व 80 के दशक में 11 स्टूडियो थे जिनसे वर्ष भर में औसतन 100 फिल्में निकलकर आती थीं। केबिल टी0 वी0 और बॉलीवुड फिल्मों के नकली वीडियो का बुरा असर लालीवुड पर पड़ा। वार्षिक निर्माण गिरकर 40 पर पहुंच गया, वह भी मात्र एक स्टूडियो से।

लॉलीवुड की अधिकांश फिल्में स्वयं का निर्माण थीं। लॉलीवुड 90 में शीर्ष स्थान पर था जब सैयद नूर की जीवा, समीना पीरजादा की इन्तिहाँ रिलीज हुई और

उन्होंने पाकिस्तानी सिनेमा को एक नयी स्फूर्ति दी, भले ही वह कुछ समय के लिए हो। दूसरी याद करने लायक फिल्में दीवाने तेरे प्यार के, मुझे चांद चाहिए, संगम, तेरे प्यार में, घर कब आओगे आदि थीं।

1990 के अन्त में जिन्ना पर फिल्म बनाते हुए काफी विवाद हुआ। इसके निर्माता अकबर एस0 अहमद एवं निर्देशक जमील देहलवी थे। ऐतराज तीन बातों पर था : (1) क्रिस्टोफर ली को जिन्ना की भूमिका में क्यों लिया गया है? (2) भारतीय कलाकार शशि कपूर को क्यों लिया गया है? (3) पटकथा के साथ प्रयोग क्यों हो रहे हैं?

80 के दशक के अन्त में अन्जुमन का विवाह मोबीन मलिक से हुआ और उसने किसी भी नयी फिल्म में गाना बन्द कर दिया। इसके बाद ही हुआ 1996 में फिल्म उद्योग को दहला देने वाला हादसा सुलतान राही की हत्या। लॉलीवुड में शोक व्याप्त हो गया और पंजाबी फिल्म निर्माण में एक ठहराव सा आ गया। ये तो उर्दू फिल्में थी जिनके निर्माण के चलते पंजाबी फिल्म उद्योग को बचाया जा सका। उर्दू फिल्मों को भी एक झटका लगा जब जाने-माने निर्देशक संगीतज्ञ का तिरस्कार हुआ। जावेद फैसल की कई निर्माताओं ने मान-मुरव्वत की पर कोई फायदा नहीं हुआ। तभी नजरुल इस्लाम की मृत्यु हो गयी। यह पहले से ही झटका सह रही फिल्मी दुनिया के लिए एक और झटका था। तभी एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति सैयद नूर सामने आए और उन्होंने निर्देशक का पद भरने की कोशिश की। पंजाबी फिल्म 'चूड़ियां' तभी आयी। पंजाबी फिल्म उद्योग में जान पड़ गयी सैयद नूर की फिल्म से जो 1998 में आयी। इसमें सायमा, मोअम्मद राना ने अभिनय किया था। इसने 180 मिलियन रु0 का कारोबार किया, तभी फिल्म उद्योग जो सुलतान राही की मृत्यु के बाद उजाड़ सा हो गया था में गतिविधियां लौट आयीं। लोगों की समझ में आया कि कुछ भी हो, जीवन चलते रहने का नाम है।

## 2.7 भविष्य

पाकिस्तान में मनोरंजन से जुड़ी कई प्रतिभाओं को अभी भी खोजा जाना था। समय बदला और लालीवुड को कराची फिल्म निर्माताओं की ओर से एक और झटका लगा जब साकिब मलिक की निर्देशित फिल्म अजनबी शहर में आयी। पाकिस्तानी उपग्रह मनोरंजन क्षेत्र में साकिब मलिक का नाम अच्छे निर्देशकों में माना जाता है। फिल्म में युवाओं के दिल की धड़कन अली जाफर, मेगास्टार शान और

समीना पीरजादा थे। रैम्प मॉडेल टूबा सिद्दीकी भी इसमें 'ब्रेक' पा सके। संगीतकार शानी के बारे में अफवाहों का बाजार गर्म रहा।

शहरों में लालीवुड का उपहार पसन्द किया गया।

शोएब मंसूर की 'खुदा के लिए' एक अन्य फिल्म है जो उद्योग में छायी रही। इसमें बड़े-बड़े पाक कलाकार भी थे, वहीं कुछ नवोदित कलाकार भी। ईमान अली और फवाद ने 'खुदा के लिए' में प्रवेश लिया। इसे नयी लहर का पाकिस्तानी सिनेमा कहने में गुरेज नहीं। इससे उम्मीद है पाक दर्शकों की संख्या बढ़ेगी, और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में पहचान भी।

## 2.8 बांग्ला फिल्म संसार–बंग्लादेश

1975 में लथिअल को प्रथम राष्ट्रीय पुरस्कार सर्वश्रेष्ठ फिल्म का मिला। जहीर रैहन की 'स्टॉप जीनोसाइड' को दिल्ली के फिल्म समारोह में सिडलाक पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

1976 में 46 फिल्में रिलीज हुईं। उनमें से आलमगीर कबीर की सूर्यकन्या (सूर्य की पुत्री) भी थी जो कल्पना और यथार्थ का आधुनिक परिवेश में मिला-जुला रूप थी। कबीर अनवर की शुप्रभात (गुड मार्निंग), अजमद हुसैन की नयन मोनी (लव ऑफ आई), राजन तरफदार की पलंका में ग्रामीण व सामंतवादी जीवन के दर्शन होते थे। हरूनार राशिद की मेघेर अनेक रंग (द आफ्टरमाथ क्लाउड) युद्ध और मानवीयता पर एक बेहतरीन प्रस्तुतीकरण थी। फिल्म को राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला, 1977 में।

आलमगीर कबीर की शिमानापरिये (एक्रास दि फ्रिन्ज), सुभाष दत्त की वसुन्धरा (मातृभूमि), और अब्दुल लतीफ बच्चू की जादुर बंशी (दि मैजिक ल्यूट) को दर्शकों से अच्छी प्रशंसा मिली। 1978 में चार साहित्यक फिल्में बनीं। ये फिल्में थीं–अब्दुल्ला अल मामुन की सारेन बऊ (दि वाइफ आफ शिप ड्राइवर) शाहिदुल्ला कैसर के एक लोकप्रिय उपन्यास पर बनी फिल्म, अमजद हुसैन की गोलपि ऐखान ट्रेन (दि एन्डलेस ट्रेल) अपने ही उपन्यास पर, सुभाष दत्त की धुरेर फूल (दि अनसीन फ्लावर), अशरफ सिद्दीकी की एक छोटी कहानी पर आधारित थी। इन फिल्मों को राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिले।

गोलपि और धुरेर फूल मॉस्को फिल्म समारोह में दिखाई गयी। अभिनेता-निर्देशक दाराशिका ने ऐतिहासिक पटकथा पर फिल्म बनायी–फकीर मजनू शाह जिसने अंग्रेजों के खिलाफ 18वीं शताब्दी में लड़ाई लड़ी। शिवली सादिक ने गांव में अन्धविश्वास पर एक फिल्म बनायी। कुल 38 फिल्में 1978 में रिलीज हुईं।

वर्ष 1979 में 51 फिल्में रिलीज हुई, किन्तु इनका स्तर अच्छा नहीं था। मशीउद्दीन शाकिर और शेख नियामत अली दो सशक्त नाम थे जिन्होंने अपनी एकमात्र फिल्म सूर्ज दिघल बाड़ी (दि ओमिनस हाउस) से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में हलचल मचा दी। यह फिल्म 1947 से पहले के समय में भूख, युद्ध और विभाजन पर अबू इशाक के एक चर्चित उपन्यास पर आधारित थी। सूर्ज दिघल बाड़ी ने पांच अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार जीते जिनमें मेनहेम फिल्म समारोह पुर्तगाल फिल्म सोसायटी सम्मान भी शामिल थे। 1979 की दूसरी अच्छी फिल्मों में अब्दुल समाद की सूरिया संग्राम (दि सन फाइट), आलमगीर कबीर की रुपाली सोकिट (दि लोनर), काजी हयात की दि फादर, अमजद हुसैन की सुन्दरी (और वह सुन्दर थी) और बेलाल अहमद की नगरडोला थीं।

## 2.9 80 का दशक

कल्पना और मारधाड़ बांग्लादेश की 80 के दशक की फिल्मों में छाया रहा।

सैयद सलाउद्दीन जकी और बादल रहमान जो पुणे फिल्म संस्थान से प्रशिक्षण प्राप्त थे, 1980 में निर्देशक हुए। जकी की छुड्डी (द काइट) दूरदर्शन के स्टेज के सुबर्ग असद तारिक के साथ लीक से हटकर बनी फिल्म थी। बादल की एमिलर गोएन्डा वाहिनी (एमिल और उसकी टीम) एक बच्चों की रंगीन फिल्म थी। इसके अलावा अब्दुल्ला अल मामुन की सखा तुमी कर (डार्लिंग टु हूम् मू बिलांग) और अमजद हुसैन की कोशाई (दि बूचर) 1980 की कल्पना व मारधाड़ से भरी फिल्मी दुनिया में एक राहत थी।

1981 का फिल्मी सफर कुछ रचनात्मक के नाम पर खाली-खाली सा था। शहीउल हक खान की कल्मीयता, अमजद हुसैन की जन्मो थेके जाल्ची (पेन्स सिन्स बर्थ) और सैयद हसन इमाम की लाल सबूजेर पाला (द सागा आफ कलर) कुछ अपवाद थे। आलोचक पत्रकार निर्देशक आलमगीर कबीर नई फिल्म मोहाना (दि रिवर माउथ) के साथ 1982 में दिखे। नजरुल इस्लाम ने शरतचन्द के प्रचलित

उपन्यास देवदास पर प्रयोग किया। अहमद हुसैन की दुई पोईशर आल्ता वर्ष की एक और अच्छी फिल्म थी।

आगे के समय 1983 से 1989 के बीच, मारधाड़, कल्पना ही हावी रहे। एक नयी खेप मुर्शिदुल इस्लाम, तारिक मसूद, तनवीर मुकम्मल, इनायत करीम बबूल, मुस्तफा कमाल, इस्माइल हुसैन, हबीबुर रहमान हबीब, दिलदार हुसैन की दिखी। आलमगीर कबीर निर्देशक- शिक्षक के रूप में जाने गए। उन्होंने लघु फिल्मों का आंदोलन शुरू किया। 1984 में अख्तारुज्जमन ने प्रिंसेस टीना खान बनायी जो ओपेरा गर्ल के जीवन पर आधारित थी। रफीकुल बारी ने पेन्शन बनायी और अमजद हुसैन ने भाट डे (हंगरी), 1985 में दो फिल्में–एक पूरी लम्बाई की शेख नियामत अली की दहन (Affliction)–पुरस्कृत की गयीं काडोवाइवैरी अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में। आगामी (फ्यूचर) जो बांग्लादेश के स्वातंत्रय आंदोलन पर आधारित हैं एक नए व्यक्ति मुर्शिदुल इस्लाम द्वारा बनायी गयी थी सर्वश्रेष्ठ फिल्म घोषित की गयी, भारत के अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में, जो नई दिल्ली में हुआ था। रामेर सुमति (दि काइन्डनेस ऑफ राम) जो शरत चन्द के उपन्यास पर आधारित है वर्ष की एक और सामाजिक फिल्म थी जिसे शहीदुल अमीन ने निर्देशित किया था। एक अन्य महत्वपूर्ण फिल्म चाशी नजरुल की शुवदा (गुड गर्ल) थी जो 1986 में आयी। यह फिल्म भी शरत चन्द के उपन्यास पर आधारित थी।

## 2.10 दशक 1990 में नए चेहरे व प्रेम, रोमांस, नृत्य-गाने

प्रधान फिल्में बांग्लादेश में छायी रहीं। एहतेशाम की चांदनी (द मून रे) ने नयी जोड़ी के साथ बॉक्स ऑफिस पर धमक दी। ये जोड़ी थी नईम-शहनाज की 1991 में। शोहनुर रहमान सोहन की कयामत थेके कयामत (कयामत से कयामत)–एक सर्वाधिकार सुरक्षित फिल्म (बम्बई) ने बॉक्स ऑफिस रिकार्ड बनाया 1993 में। उसी वर्ष एक अन्य फिल्म पद्मा नादिर माझी (दि बोटमेंन आफ दि पद्मा रिवर) गौतम घोष द्वारा निर्देशित, ने पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। 1993 के अन्त में चुनी हुई सरकार ने फिल्म ग्रान्ट फंड की दुबारा घोषणा की। यह बांग्ला सिनेमा के लिए आशावादी शुरूआत थी।

1998 से 2005 तक बांग्लादेशी सिनेमा ने कठोर समय का सामना किया इस समय अश्लील फिल्में व हिन्दी और अंग्रेजी भाषा की फिल्मों से मिली चुनौती

सामने थी। सरकार ने तभी कानून बनाकर अश्लील फिल्मों का बनाना प्रतिबन्धित कर दिया। 2006 की कुछ सुपर हिट फिल्में ये थीं–कुटी टाकर कबीन, जिबोनेर गोल्पो, विद्रोही पद्मा, शती तुमी कर, मुल्ला बरीर बाऊ, गुलाप जान, रानी जुटीर बकी इतिहास, आयना, बांग्ला, केलागोर, और तारेक मसूद की ओन्टोजागा।

बांग्ला सिनेमा की कुछ मशहूर अभिनेत्रियां थीं–शबाना, बबिता, शबनूर मौशमी और पोपी।

## 2.11 सिनेमाघर, फिर शबिस्तां

यह भी महत्वपूर्ण है कि 1957 तक यहाँ कोई भी फिल्म उद्योग जैसा के पूर्वी बंगाल राज्य सरकार ने 1953-54 में पहल की और 1955 में तेजगाँव ढाका में एक स्टूडियो और प्रयोगशाला स्थापित की गयी। फिल्म विकास नगम (एफ0 डी0 सी0) 1958 में पूर्वी बंगाल राज्य सरकार द्वारा कानून बनाकर स्थापित किया गया। इससे बांग्लादेश के फिल्म उद्योग में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। इस बीच 1931 से 1956 के अन्तराल में भी ढाका में फिल्म निर्माण की कोशिशें बराबर जारी रहीं। परिणाम-स्वरूप द लास्ट किस (1931), सलाम (1954) और मुख-ओ-मुखूस (1956) फिल्में आयीं।

## 2.12 बंगलादेश फिल्म का इतिहास

मुख-ओ-मुखुस विकासशील फिल्म उद्योग की पहली दर फिल्म कही जा सकती है इसमें संरक्षण व आर्थिक योगदान एक नवाब परिवार का रहा। ढाका में बिजली का तन्त्र 1975 और 1901 में फैला। नवाब रूट ख्वाजा अहसानुल्लाह और उनके पुत्र नवाब सर ख्वाजा सलीमुल्लाह कला और संस्कृति के गहरे प्रशंसक थे। दोनों ही कलकत्ता आधारित फोटोग्राफिक सोसायटी आफ इंडिया के सदस्य 1888-89 और 1890-1896 में रहे। उनके संरक्षण में ढाका में फोटोग्राफी पली-बढ़ी। नवाब सलीमुल्लाह के महान कार्यों में मुस्लिम लीग (1906) और ढाका विश्वविद्यालय (1921) की स्थापना हुई। इन्हीं नवाब परिवार के प्रोत्साहन से ढाका में फिल्म निर्माण शुरू हुआ। बाद में नवाब सलीमुल्लाह के भतीजे ख्वाजा अजमल, ख्वाजा आदिल, सैयद साहेब आलम, ख्वाजा आजाद, नवाबजादा नसरुल्लाह और मूसरो ने भी रूचि ली फिल्में बनवाने में। यह उनके समय काटने का एक जरिया भी हुआ और शौक भी।

## 2.13 सुकुमारी का एक दृश्य

उनकी मदद की अम्बुज गुप्ता ने जो जगन्नाथ कालेज में पढ़ाते थे और फिल्म निर्देशन भी करते थे। प्रो0 अंदालिब सादानी (ढाका विश्वविद्यालय) सैयद अब्दुरु सोभान, काजी जलालुद्दीन और दूसरे लोगों ने भी इस काम में मदद की। उस समय तक कलकत्ता में फिल्म निर्माण का काम पूरी तरह जम चुका था। ढाका में अभी भी सुविधाएं जुटनी थीं। नापा लोगों के एक समूह ने पहल की और एक लघु फिल्म सुकुमारी (अच्छी लड़की) बनायी। ख्वाजा आजाद अलीगढ़ विश्वविद्यालय से स्नातक और ख्वाजा अजमल–एक जाने-माने खिलाड़ी जो फोटोग्राफी पढ़ चुके थे, कैमरा लेकर अपने पहले काम में जुट गए। नवाबजादा नसरुल्ला ने नायक की ओर सैयद अब्दुल सोभान ने नायिका की भूमिका निभाने का निर्णय लिया। लड़कियों के अभाव में सोभान को स्त्री पात्र जैसा बनाया गया। दिलकुशा बाग में शूटिंग हुई। बिना आवाज की सुकुमारी इस प्रकार 1928-29 में पूरी हुई। यह एक रोमांचकारी अनुभव था और सफल भी।

फिल्म व्यक्तिगत तरीके से दिखाई गयी। फिर इस फिल्म के प्रिंट गायब ही हो गए। केवल एक स्थिर फोटो (जिसमें नायक के रूप में ख्वाजा नसरुल्ला के रूप में ख्वाजा नसरुल्ला और नायिका के रूप में सैयद अब्दुल सोभान) दिखायी देते हैं एकत्र करके बांग्लादेश के फिल्म संग्रहालय में 1979 के फिल्म संग्रहालय में 1979 में रखा गया।

1931 में मशहूर क्रान्तिकारी कवि काजी नजरुल इस्लाम ने कलकत्ता का मदन थियेटर लि0 में प्रवेश लिया। बाद में नजरुल फिल्मी दुनिया में संगीतकार और आयोजक के रूप में आ गए। उन्होंने सम्मिलित रूप से फिल्म 'ध्रुव' निर्देशित की–1934 में। उन्होंने उस फिल्म में अभिनय तो किया ही, उसके गीत भी लिखे और संगीत भी दिया।

## 2.14 ध्रुव में नजरूल

दूसरे बंगला मुस्लिम कलाकारों ने और तकनीकी विशेषज्ञों ने भी फिल्मी दुनिया में प्रवेश लिया। उनमें सम्मिलित थे मशहूर गायक अब्बास उद्दीन अहमद, रुकैया खातून, मकबुल, अलाउद्दीन सरदार, अताउर रहमान (पिनाकी राम),

ओबेदुल हक, (हिमाद्री चौधरी), इसमाइल मोहम्मद (उड़ान चौधरी), फतेह लोहानी (किसन कुमार), काजी खालूक, (स्वपन कुमार) अनुवाय बेगम (बेनामी चौधरी) अमीनुल हक, सरवर हुसैन, अब्दुल अहद और इनाम अहमद।

पूर्वी बंगाल के औबेदुल हक ने फिल्म 'धुखे जादेर जिबान गोरा' निर्देशित की व बनायी–यह फिल्म उन्होंने हिमाद्री चौधरी के छद्म नाम से कलकत्ता में 1946 में बनायी।

1947 में पाकिस्तान बना और ढाका पूर्वी बंगाल या पूर्वी पाकिस्तान की राजधानी बना। इससे नए लोगों में संस्कृति का संचार नए सिरे से हुआ। बहुत से महत्वाकांक्षी लोगों ने नयी निर्माण वितरण इकाइयां स्थापित कीं। नजीर अहमद, एक रेडियो उद्घोषक को जिसका कुछ फिल्मी आधार भी था, पाकिस्तान सरकार ने मोहम्मद अली जिन्ना की पूर्वी बंगाल के दौरे पर (1948) एक फिल्म बनाने को कहा। नजीर अहमद ने पाकिस्तान के पहले गवर्नर जनरल मो0 अली जिन्ना की 10 दिन की यात्रा पर एक समाचार फिल्म बनायी। उन्होंने कलकत्ता से सारी तकनीकी मदद ली। यह पूर्वी पाकिस्तान की पहली फिल्म थी। 1954 में पूर्वी बंगाल सरकार के सौजन्य से एक फिल्म यूनिट स्थापित की गयी। समाचार फिल्म का शीर्षक 'सलामत' था। सलामत की कहानी निर्माण से जुड़े एक कर्मी (जिसने ढाका शहर को पल-पल पर बदलते देखा है। इसका संगीत अब्दुल अहद ने दिया था। उसी समय अब्दुल सादेक, ब्यूरो आफ स्टैटिस्टिक्स, पूर्वी बंगाल ने भी फिल्में बनाने की कोशिश की। इसकी बदौलत पूर्वा बंगाल फिल्म को-आपरेटिव लि0 कम्पनी बन गयी। उन्होंने एक समाचार फिल्म 'अप्पायन' बनानी शुरू की। उसी बीच अब्दुल जब्बार खान ने एक पूरी लम्बाई की फिल्म मुख-ओ-मुखुस (दि दिस एण्ड द मास्क) 1954 में बनायी और भोजन पर एक डाकूमेंटरी भी बनायी।

तेजगाँव में एक फिल्म स्टूडियो और एक प्रयोगशाला स्थापित की गयी। इस स्टूडियो से बहुत सी प्रचार फिल्में डाक्यूमेंट्री भी बनायी गयीं। फतेह लोहानी ने भी 'साल्मा काफ्ट बोबो आई न्यू' (सरसों के तेल पर विज्ञापन फिल्म) बनायी। दि व्हील, दि गेटवे टु इक्ट पाकिस्तान जैसी फिल्में भी बनीं। जब स्टूडियो प्रयोगशाला, अनुभवी कलाकार, तकनीशियन और सरकारी मदद नहीं थी तब अब्दुल जब्बार खां ने जो पेशे से एक अभियन्ता थे, एक फिल्म इकबाल फिल्म लि0 के झंडे तले बनायी उनके मार्ग में कई बाधाएं आयीं किन्तु उन्होंने पाकिस्तान

की पहली पूरी लम्बाई की बोलती हुई फीचर फिल्म बनायी। मुख-ओ-मुखुश 3 अगस्त 1956 को रिलीज हुई। यह फिल्म 1952 के बांग्ला भाषा आंदोलन जिसने कई जानें लीं, को दर्शाती थी। दूसरी कहानी अच्छे बनाम बुरे की ही कहानी थी। यह थियेटर स्टाइल की फिल्म थी। फिल्म अपने ऐतिहासिक महत्व के लिए जानी जाती थी। मुख-ओ-मुखुश नूरुज्जामन, शाहिदुल आलम, कलीमुल्ला, एफ ए हासन इकबाल फिल्म की कम्पनी ने बनायी थी और पाकिस्तान फिल्म ट्रस्ट के मुशरफ हुसैन चौधरी और पाकिस्तान फिल्म सर्विस के एम0 ए0 अवाल द्वारा वितरित की गयी। निर्देशक अब्दुल जब्बार खान ने अपनी ही कथावस्तु पर नायक का रोल निभाया। ईनाम अहमद, पूर्णिमा सेन, नज्मा (पियरी), जहारत आरा, अली मंसूर, रफीक, नरूल अनाम खान, सैफुददीन, और दूसरों ने भी अभिनय किया। ओ0 एम0 जमान कैकटे पर रहे और समर दास संगीतकार रहे। छापने का व प्रिंट बनाने का काम पश्चिम पाकिस्तान के लाहौर स्थित शहनूर स्टूडियो में किया गया।

1957 में श्रम व उद्योग मंत्री शेख मुजीबुर्रहमान के प्रयास से पूर्वी पाकिस्तान फिल्म विकास निगम स्थापित किया गया। इससे फिल्मों को शूटिंग, डबिंग, रिकार्डिंग, प्रिंटिंग, प्रॉसेसिंग की सुविधा मिलना शुरू हुई। नुईर मो0 को सरकार द्वारा इसका अधिशाषी निदेशक तैनात किया गया। इस निगम ने कई अच्छे निर्देशकों को प्रोत्साहित भी किया।

## 2.15 आसिया की एक झलक

पहली फिल्म असिया (द लाइफ ऑफ ए विलेज गर्ल) निगम के गर्भ से पैदा हुई। फतेह लोहानी इसके निर्देशक थे। नजीर अहमद हालांकि इसके जन्मदाता थे। फिल्म ग्रामीण जीवन पर केन्द्रित थी जिसे बहुत प्रशंसा मिली। अभिनय करने वालों में सुमिता, काजी खालूक, शाहिद, रानेन कुशाद सेला मियां, मदूद, सितारा, सरीन, मेरुबाह, रूब, सलीम थे। जाने-माने संगीतकार अब्बासुद्दीन अहमद ने संगीत दिया था। असिया को पाकिस्तान का राष्ट्रपति पुरस्कार मिला सर्वश्रेष्ठ बंग्ला फिल्म 1961 की, के लिए।

जागो हुआ सवेरा (दि डे शैल डान) निगम द्वारा बनायी दूसरी फिल्म थी जो 1959 में आयी। इस फिल्म ने भी लंदन, न्यूयार्क में काफी प्रशंसा अर्जित की

और मॉस्को फिल्म समारोह में पुरस्कार भी। इस फिल्म की कहानी माणिक बन्दोपाध्याय के मशहूर उपन्यास पर आधारित थी जिस पर पटकथा कवि फैयज अहमद फैयज ने लिखी। निदेशक ए0 जे0 काटदर थे। काटदर कैमरामैन वाल्टर लसाली (जर्मनी), के साथ ढाका आए। रिकार्डिस्ट जॉन फ्लेचर (इंग्लैड), सम्पादक सुश्री बिनवोवेट (इंग्लैंड), संगीतकार तिमिर बोस (भारत), सहायक शांति कुमार चारथेडी (भारत), अनेक लोग साथ थे। इसमें अनीस (खान अला), तृप्ति मित्रा, जुरैन, यक्सी, रेडवान, काजी खालेक, नसीमा, मोयना, लतीफ ने अभिनय लिया।

फतेह लोहानी की द्वितीय फिल्म थी आकाश आर माटी (आकाश और पृथ्वी) जो 1959 में रिलीज हुई। यह एक संगीत प्रधान फिल्म थी जिसमें सुमिता, प्रदीप, अमीन, डागू, अल, जीनत यबलुल, माधुरी, तेजन, रानोन, फज्जुल कारित और दूसरों ने भूमिका निभायी। 1959 में महलुद्दीन अहमद एक पत्रकार अपनी फिल्म 'माटीर पहर' (दि हित आफ दि अरात) से सामने आए। फिल्म आधुनिक विज्ञान पर आधारित थी और यह विश्वास की बातों पर भी। एक और फिल्म आदेश तोमार अमार (यह हमारी-तुम्हारी भूमि) 1959 में रिलीज हुई। विभाजन के बाद नयी आशाओं का संचार हुआ। एहतेशाम की एक देस तोमार हमार में यह देखने को मिलता है। इसमें सुमिता, अमीन, रहमान, सुल्तान, मदहुद, धागू स्वपना, सुभाष, मेस्बाह, शाहजहाँ और पन्ना ने अभिनय किया था।

1960 का दशक बांग्ला सिनेमा का अच्छा वर्ष था–स्टाइल प्रस्तुतीकरण विषय, कारोबार, कलात्मक अभिरुचि, भाषा, इतिहास आदि के सन्दर्भ में।

एहतेशाम की राजधनिर बुके (इन द हर्ट आफ कैपिरल सिनेमा) 1960 की हिट फिल्म थी जिसमें नयी जोड़ियां रहमान-चित्रा, सुभाष-नर्गिस दिखाई दीं। सलाहुद्दीन के जे नदी मरु पाथे (वह नदी रेत मे गिरती हैं), मुस्ताफिज हरानो दिन (दि लास्ट डेज) महिउद्दीन की 'तोरनार अमार' (थिने और मिने), जहीर रेहान की कारवोनो आरुएनी (नेवर केम) 1961 में रिलीज हुई थीं। उनमें से कारवोनो आरूएनी (नेवर केम) एक कलात्मक रचना थी। 1962 में सलाहुद्दीन की सूरजस्नान (दि सनबाथ), एहतेशाम की चंदा ने दो पहलू दर्शाए। सूरज स्नान एक लीक से हटकर फिल्म थी जिसमें सामाजिक जागरुकता, थी जबकि चंदा एक, उर्दू भाषा की फिल्म थी जिसने पाकिस्तान की व्यावसायिक 'देहरी पर धमक दी। इससे

और उर्दू भाषी फिल्मों का रास्ता खुला।

जहीर रैहन की कांचेर देयाल (दि ग्लास वाल) और सलाहुद्दीन की धारापाट (दि नम्बर) 1963 में बनी थीं। कांचेर देयाल को कलात्मक अभिरुचि के लिए 11 पुरस्कार मिले। मुस्ताफिज की तलाश (इन सर्च) वर्ष की एक सफल व्यावसायिक फिल्म थी। 1963 में कुल 5 फिल्में रिलीज हुई थीं।

1961 की 16 फीचर फिल्मों में जहीर रहमान की संगम (दि यूनियन) पाकिस्तान की पहली रंगीन फिल्म थी। जबकि सुभाष दत्त ने शूटरंग (हेन्स) के साथ एशियन फिल्म महोत्सव, फ्रैंककर्ट में प्रवेश किया, बेबी इसलाम की तन्हा (दि आर्फन) वर्ष की एक और अच्छी फिल्म थी। रहमान की मिलन (दि यूनियन) एक व्यावसायिक हिट फिल्म थी।

सादिक खान अभिनेता-निर्माता, राजनैतिक कार्यकर्त्ता ने नदी ओ नदी (रिवर एण्ड दि वोमेन) एक उपन्यास जो बंगाल की ग्रामीण पृष्ठभूमि पर लिखा था, पर आधारित करके बनायी। दो व्यावसायिक फिल्में लोककथा पर आधारित उसी साल रिलीज हुईं। एक सलाउद्दीन की रूपवन जिसने बॉक्स ऑफिस पर अच्छी कमाई की। इससे निर्माताओं को और भी ऐसी फिल्में बनाने की प्रेरणा मिली। दूसरी मुस्ताफिज की माला सेरों के जीवन पर बनी थी। कुल 11 फीचर फिल्में 1965 में रिलीज हुई थीं।

उर्दू और लोक कथाओं पर बनी फिल्में 1966 में छायी रहीं। 26 निर्माणों में से यादगार रहीं–सुभाष दत्त की कागोजेर नौका (दि पेपर बोट), फज्जुल हक की 'सन ऑफ पाकिस्तान', जहीर रैहन की 'बहुला, काजी जहीर की भैया (ब्रदर) आदि।

खान अताउर रहमान जो एक अभिनेता, संगीतकार, गायक थे ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर नवाब सिराजुद्दौला बनायी 1967 में। दूसरी अच्छी फिल्में एहतेशाम की चौकरी, सुभाष दत्त की आनिमा-ओ-अबशिष्या (दि ग्लास एण्ड दि रेसिड्यु), जहीर रैहान की अनुवारा, रहमान की दर्शना (मीटिंग), काजी जहीर की नयन तारा (दि स्टेट आफ आई) थीं। कुल 23 फिल्में 1967 में बनीं।

1968 में 34, 1969 में 33, फिल्में आयीं इनमें उर्दू व लोक कला व कथा आधारित फिल्में हावी रहीं। इनमें खान अता की सोए नीदिया जागे पानी (दि रिवर

फ्लो) 1968, जोआर बाटा (दि फ्लो एण्ड रिसेशन) –1969, सुभाष दत्त की आविर्भाव (दि एपियरेंस) 1968 मीता की आटो टुक् आशा (सो लिटिल होप), डूबेन मिजाँ की (शाहिद टिटुमिर) 1968, काजी जहीर की मोमना मोती (1968), नूरूल हक बचू की बेदेर मेमा (द डाटर आफ स्नेक चार्लर) 1969, कमाल अहमद की अबार्नाच तो (अवांछित 1969) आकर्षक थीं। सुभाष दत्त की आविर्भाव को कम्बोडिया की महारानी से विशेष पुरस्कार मिला।

बंगाल को 1971 में आजादी मिली। 1969-70 में आंदोलन चरम पर था पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब के खिलाफ। 1970 में जहीर रेहान, वयोवृद्ध निर्देशक ने यही विचार जिबान थैक नेया (फ्राम दि ग्लिम्पस आफ लाइफ) में उठाया। पहली बार कैमरा राजनीतिक परिदृश्य पर केन्द्रित किया गया था। रेलांस के साथ-साथ जहीर रेहन ने इसमें बंगलादेश की आजादी की भविष्यवाणी की थी।

1970 में कुल 41 फिल्में बनीं। यादगार फिल्मों में कारीगर की मिसर कुमारी (एजिप्ट की रानी), रफीकुल बाद चौधरी की टलस्ते, रेबेका की बिन्दु थैक वृत्ता (बिन्दु से वृत्त) सुभाष दत्त की बिनिमय (विनिमय), निजामुल हक की कोथे जीनो देखेची (कहीं देखा है) थीं।

1971 का वर्ष बंगलादेश की आजादी की लड़ाई का वर्ष था। बहुत से निर्देशक, कलाकार, तकनीकी विशेषज्ञों ने इस लड़ाई में भाग लिया। उनमें से जहीर रेहन ने एक डाक्यूमेंट्री 'स्टॉप जीनोसाइड' बनायी जो पाकिस्तान में सैनिक थारून पर थी। अब्दुल जब्बार खान के नेतृत्व में एक फिल्म इकाई निष्कासित बांग्लादेश सरकार द्वारा स्थापित की गयी। इस इकाई द्वारा कई डाक्यूमेंट्री फिल्में आजादी की लड़ाई पर बनीं। दूसरी तरफ पाकिस्तान के कब्जे वाले बांग्लादेश में 5 फीचर फिल्में बनीं।

16 दिसम्बर 1997 को बांग्लादेश पाकिस्तान से आजाद हुआ। फिर फिल्म निर्माण ने जोर पकड़ा और इस वर्ष 29 फीचर फिल्में बनीं। काजी नजरूल इस्लाम ने ओरा एगारोजान (11वें स्वतन्त्रता सेनानी), सुभाष दत्त ने अरुणोदम अग्निशाक्षी, (सूर्योदय का सरक्षात, मुमताज अली ने रक्तक्ता बांग्ला (बंगाल में खून) बनायी। काजी जहीर ने सुपर हिट अबुज मान (निर्मल मन) दी। हसन इमाम लालो फकीर को पर्दे पर लाए।

1973 में 30 फिल्में थीं। जहीरुल हक की रंगबाज (रोमियो) एक सामाजिक फिल्म बॉक्स ऑफिस पर हिट रही। तीन फिल्में बांग्लादेश की आजादी पर और बनीं। वे थीं धीरे बहे मेघना (मेघना धीरे बहे), आलमगीर कुर्नकुम की अमर

जन्मभूमि और खान अताउररहमान की अबर तोरा मानुष हो (फिर मनुष्य हो)।

रिलक घटक, मशहूर बांग्ला भारतीय निदेशक ने तील्स सकती नादिर नाम (एक नदी जिसका नाम तस्ति) बनायी जो एक मशहूर उपन्यास पर आधारित थी बनायी यह वर्ष की बेहतरीन फिल्म थी। कबीर अनोवर की अकेली फिल्म स्लोगन की गौर करने लायक थी।

1974 के बाढ़ और सूखे ने देश में त्राहि-त्राहि मचा दी। 30 फिल्में उस वर्ष बनीं। चाशी नजरुल इसलाम की संग्राम, मीता की अलोर मिचिल (प्रकाश का जुलूस) एफ ए फिल्म इकाई की शनिबारेर छिती (शनिवार का पत्र) मोहिउद्दीन की 'एस्सा खान', एफ करीम चौधरी की अनेक दिन अगे (बहुत दिन पहले) प्रशंसा की पात्र रहीं।

1975 में सरकार का ध्यान इस ओर गया और राष्ट्रीय पुरस्कार, फिल्म अनुदान, फिल्म को उद्योग के रूप में मान्यता, बच्चों और शिक्षा सम्बन्धी फिल्मों को टैक्स की छूट आदि बातें मान्य हुईं। मशहूर कैमरामैन व निदेशक बेबी इसलाम की चरित्रहीन, निदेशक व ध्वनि रिकार्ड करने वाले मोहसिन की बड़ी थैक बेगम (नौकरानी से रानी) और गीता की लथियल (दि स्ट्राइकर) श्रेष्ठ फिल्मों में गिनी गयीं।

8 अगस्त 1948 को पाकिस्तान फिल्म उद्योग की पहली फिल्म, लाहौर के प्रभात थियेटर में प्रदर्शित की गई।

पाकिस्तानी फिल्म उद्योग में महत्वपूर्ण मोड़ 3 जून, 1954 को आया, जब एक उर्दू फिल्म साँसी रिलीज हुई।

1960 के दशक में, पाकिस्तान फिल्म उद्योग की सर्वप्रथम रंगीन फिल्म प्रदर्शित की गई।

सितम्बर 1965 में भारत-पाकिस्तान युद्ध के कारण भारतीय फिल्में, पाकिस्तानी सिनेमाघरों से उतार दी गईं।

पाकिस्तान का चाकलेटी हीरो मुराद 1984 में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

1990 के दशक के आते-आते वहाँ पाकिस्तानी उद्योग में, 11 स्टूडियो बन चुके थे।

बंगलादेश में 1975 में प्रथम राष्ट्रीय पुरस्कार मिला।

1976 में बंगलादेश में 46 फिल्में रिलीज हुईं।

कल्पना और मारधाड़ बंगलादेश में 80 के दशक में छाया रहा।

1990 के दशक में रोमांस, नृत्य और संगीत का प्रभाव रहा।

एफ0 डी0 सी0 यानी फिल्म विकास निगम 1958 में स्थापित किया गया।

## 2.17 शब्दावली

| | |
|---|---|
| एफ0 डी0 सी0 | फिल्म डेवलपमेण्ट कारपोरेशन |
| प्रयोगशाला | फिल्म लैब |
| लैब | जहाँ फिल्मों की धुलाई होती है। |
| स्टूडियो | फिल्म निर्माण केन्द्र |
| थियेटर | फिल्म प्रदर्शन केन्द्र |
| चॉकलेटी हीरो | सुन्दर नायक |
| लालीवुड | लाहौर फिल्म उद्योग |

## 2.18 सन्दर्भ ग्रन्थ


| | |
|---|---|
| इलेक्ट्रानिक मीडिया और फिल्म प्रोडक्सन (फिल्म निर्माण) | राजकृष्ण मिश्र |
| फिल्म ऐज फिल्म | वी0 पी0 परकिन्स |
| सिनेमा ऐज एन आर्ट | जे0 आर0 डिबरिश |
| मूवी मुगल्स | फिलिप फ्रेन्च |
| माई फेयर लेडी | एलेन जे लरनर |
| कन्टेमपोरेरि सिनेमा (1845-1963) | पेनीलोप हाउस्टन |
| फिल्म ऐण्ड रियल्टी | राय आर्मेस |


## 2.19 सम्बन्धित प्रश्न

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(i) बंगलादेश फिल्म उद्योग कब बना ?

(ii) पाकिस्तान की पहली फिल्म का नाम बताइए।

(iii) बंगलादेश में फिल्म विकास निगम की स्थापना कब हुई?

(iv) लाहौर फिल्म उद्योग को क्या कहते हैं और वहाँ के कुछ थियेटर के नाम बताइए।

## दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(i) पाकिस्तान फिल्म उद्योग पर एक निबन्ध लिखिए।

(ii) बंगलादेश के दौर के पूर्व से पूर्वी पाकिस्तान में फिल्म की स्थिति तथा बंगलादेश में फिल्म विकास की यात्रा का विवरण दीजिए।

(iii) पूर्वी पाकिस्तान या विभाजन से पूर्व के ढाका फिल्म उद्योग का परिचायक विश्लेषण कीजिए।

(iv) पाकिस्तान और बंगलादेश तथा अग्रिम फिल्म उद्योग का परिचय दीजिये।

## वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(क) बंगलादेश में फिल्म विकास निगम की स्थापना

(i) 1958 में हुई थी।

(ii) 1963 में हुई थी।

(iii) 1946 में हुई थी

(iv) 1954 में हुई थी।

(ख) पाकिस्तानी फिल्म उद्योग की सर्वप्रथम फिल्म–

(i) 8 नवम्बर, 1958 को प्रदर्शित की गई।

(ii) 8 अगस्त, 1948 को प्रदर्शित की गई।

(iii) 18 दिसम्बर 1956 में दिखायी गई।

(iv) 29 नवम्बर 1946 में दिखाई गई।

(ग) पाकिस्तान फिल्म उद्योग में महत्त्वपूर्ण मोड़ तब आया जब :

(i) पहली पश्तू फिल्म बनी।

(ii) पहली सिंधी फिल्म बनी।

(iii) पहली उर्दू फिल्म सांसी आदि।

(iv) पहली अंग्रेजी की फिल्म आयी।

(घ) बंगलादेश में 46 फिल्में :

(i) 1948 में रिलीज हुईं।

(ii) 1956 में रिलीज हुई

(iii) 1931 में रिलीज हुई।

(iv) 1976 में रिलीज हुई।

# संयुक्त इकाई -( 4 और 5 ) बॉलीवुड एवं अन्य

**इकाई परिचय**


4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 बॉलीवुड

4.3 बॉलीवुड फिल्मों से गाने पर्दे के पीछे, गायक द्वारा अंकित करना

4.4 पटकथा, संवाद, गीत,

4.5 वित्त पोषण

4.6 उपग्रह टी0वी0, इन्टरनेट, वीडियो

4.7. इतिहास – परिचयात्मक

4.8. 1930-40 के दशक

4.9. 1960 का दशक

4.10 विवाद

4.11 बॉलीवुड पुरस्कार

4.12 टालीवुड

4.13 बॉलीवुड बनाम टॉलीवुड

4.14 कॉलीवुड

4.15 फिल्म रचना (विभाजन से पूर्व)

4.16 सारांश

4.17 शब्दावली

4.18 संदर्भ ग्रन्थ

4.19 सम्बन्धित प्रश्न


## 4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे–

- बॉलीवुड सिनेमा किसे कहते हैं।

- बॉलीवुड सिनेमा के विकास की कहानी क्या है।
- बॉलीवुड में किस तरह की फिल्में बनती थी।
- टालीवुड का इतिहास क्या है।
- टॉलीवुड पुरस्कार के विषय में ।
- कॉलीवुड किसे कहते हैं।
- कॉलीवुड उद्योग की स्थिति क्या है।
- बंगला सिनेमा के विकास की प्रक्रिया क्या रही है।

## 4.1 प्रस्तावना

हिन्दी सिनेमा की राजधानी आज की मुम्बई कल बम्बई था जिसे बॉम्बे भी कहा जाता है। मुम्बई चित्र मुम्बा देवी के नाम के ऊपर सम्भवतः पड़ा है। इसीलिए भारतीय सिनेमा को हॉलीवुड अमेरिकी सिनेमा की तर्ज पर बॉलीवुड कहा जाता है।

कहते हैं, जहाँ समुद्र होता है वहीं फिल्म उद्योग पनपता है। वस्तुतः इतना तो सच है ल्यूमियर बन्धुओं द्वारा, पेरिस के बाद, पहला शो यानी प्रथम फिल्म प्रदर्शन तत्कालीन बम्बई में किया गया वाटसन होटल में, 1886 में। दादा साहब फालके को भारतीय सिनेमा का फादर यानी पिता कहा जाता है। देविकारानी, बरुआ साहब, के0एल सहगल, वी शान्ताराम जैसे निर्माताओं ने सोहराब मोदी के साथ में फिल्म उद्योग की स्थापना में योगदान किया। 1920 में 27 मूक फिल्मों के निर्माण से लेकर 1931 में फिल्म निर्माण की संख्या 207 पर पहुँच गई थी। 14 मार्च 1931 को अर्देशिर इरानी की 'आलमआरा' पहली टॉकीज, पहली बोलती हुई फिल्म बनी आज भारत में सब मिलाकर करीब 800 फिल्में बनती हैं। जिनमें से हिन्दी फिल्मों की संख्या 100 से 120 के आसपास रहती है।

भारतीय परम्परा सामाजिक परिवेश, नृत्य और गीत से जुड़ी हुई है। सम्भवतः इसीलिए बॉलीवुड सिनेमा नृत्य गीत से भरा-पूरा होता था। आरम्भ में ही, पहली टॉकी फिल्म में 7 गाने थे।

## 4.2 बॉलीवुड

बॉलीवुड एक अनौपचारिक नाम है जो बम्बई के फिल्म उद्योग को दे दिया गया है। बॉलीवुड दो शब्दों के संयोजन से बना है– बॉम्बे जो कि मुम्बई का पुराना नाम है और हॉलीवुड, अमेरिका का फिल्मी उद्योग जहाँ केन्द्रित है। हालांकि कुछ

लोग इसे हॉलीवुड की ही एक बिगड़ी हुई औलाद मानते है, किन्तु इस नाम ने अपनी जड़ें जमा ली हैं और अब तो आक्सफोर्ड इंग्लिश शब्दकोश में भी यह स्थान पा चुका है। बॉलीवुड और दूसरे समानार्थी शब्द यथा (तमिल-कालीवुड, तेलगू - टालीवुड, बंगला, कन्नड और मलयालम) सभी मिलकर भारतीय फिल्म उद्योग का एक वृहद बैनर निर्मित करते हैं जिसका निर्माण विश्व में सर्वाधिक है फिल्मों की संख्या के आधार पर और टिकटों की बिक्री के मद्देनजर।

बॉलीवुड न केवल भारत की छाप दर्शाता है बल्कि मध्य-पूर्व, अफ्रीका, दक्षिण पूर्व एशिया, और दक्षिण एशियाई भूभागों की झलक भी पर्दे पर दिखलाता है। बॉलीवुड के दर्शक इंग्लैण्ड कनाडा, अमरीका जहां प्रवासी भारतीय हैं, बहुतायत से मिलते हैं।

बॉलीवुड मूल हिन्दी सिनेमा का पर्यायवाची है। उर्दू के शब्दों का भी खुलकर प्रयोग देखने को मिलता है। भाषाविद् हिन्दी व उर्दू दोनों ही को हिन्दुस्तानी के दो अंग मानते हैं। हालांकि यह एक राजनीतिक बहस का विषय है। अब इधर अंग्रेजी का वर्चस्व संवाद व गानों दोनों ही में बढ़ रहा है। कभी-कभी संवाद के पूरे वाक्य अंग्रेजी में ही बोले जाते हैं।

## 4.2.1

ज्यादातर बॉलीवुड फिल्में संगीतमय कही जाएंगी। बहुत कम फिल्में बिना नाच-गाने के होती हैं। वे इन फिल्मों से हटकर होती हैं। भारतीय दर्शक अपने पैसे की पूरी वसूली चाहते हैं तभी वे 'पैसा वसूल' फिल्मों की मांग करते हैं। इसीलिए मसाला फिल्मों का चलन बढ़ा जिसमें सारे मसाले भरे होते हैं।

अंधा प्रेम, क्रोधी माता-पिता, प्रेम त्रिकोण, भ्रष्ट राजनेता, अपराध, अपहरण, षड़यंत्र, सोने के दिल वाली नर्तकियां, बचपन में जुदा बच्चे आदि दिलचस्प कहानी को जन्म देते हैं। कभी कुछ फिल्में कला की दृष्टि से बनायी जाती हैं वे बॉक्स ऑफिस पर फेल हो जाती हैं। बाहर रहने वाले प्रवासी भारतीय आज की आधुनिक फिल्मों को पसन्द करते हैं क्योंकि वे उन्हें हॉलीवुड फिल्मों के काफी करीब लगती हैं। जैसे चुम्बन, बारिश में भीगने के दृश्य, रतिक्रीड़ा करते हुए आदि दृश्य एकदम अंग्रेजी फिल्मों की प्रतीति देते हैं। तयशुदा विवाह की जगह फिल्में आज मुक्त प्रेमालाप, डिस्को जीवन, लड़के-लड़कियों का मेलजोल दिखा रही हैं, जो पसन्द किया जा रहा है। कुछ भारतीय इसे गलत करार देकर आंखें मोड़ लेते हैं किन्तु ऐसा करने से धारा का प्रवाह तो नहीं टूटता।

## 4.3 बॉलीवुड फिल्मों के गाने पर्दे के पीछे

गाने, गायक कलाकारों द्वारा गाकर अलग से रिकार्ड किए जाते हैं। अभिनेता केवल होंठ चलाते हैं। हालांकि बहुत से अभिनेता अच्छे नर्तक भी हैं। कुछ एक गायक भी हैं। किशोर कुमार एक अपवाद थे, जिन्होंने 50 के दशक में गाना शुरू किया, अभिनय के साथ-साथ के0एल0सहगल, सुरैया, नूरजहां अभिनेता के साथ-साथ अपनी आवाज भी किरदार को देते थे।

### 4.3.1

अभी अमिताभ बच्चन ने मेरे अंगने में (लावारिस) में गाया। सन् 80 में फिर सिलसिला में, महान्, तूफान, बागबान, कभी खुशी कभी गम और कभी नहीं (अदनान सामी के साथ) गाने में भी उतरे।

आमिर खान ने भी 'आती क्या खंडाला (गुलाम) में अपनी आवाज दी।

2005 में अभिषेक बच्चन ने भी रोहन सिप्पी की फिल्म ब्लफमास्टर में एक गीत गाया। शाहरुख खान ने जोश (2000) में 'अपुन बोला' गाया। हालांकि इन लोगों ने गायन को कैरियर नहीं बनाया। अच्छे गायकों के भी चाहने वाले होते हैं– इस हद तक कि एक बड़ी संख्या में दर्शक केवल गाने सुनने के लिए ही फिल्म देखने पहुंचते हैं। लता मंगेशकर का गायन कैरियर छः दशकों में फैला होने के कारण सबसे बड़ा व्यक्तित्व माना जाता है। उन्होंने 50, 60, 70वें दशक में सारे ही स्त्री आवाज वाले गाने गाए हैं। फिल्म में संगीत देने वाले भी एक अहम भूमिका निभाते हैं। वे फिल्म को सफल या असफल बनाते हैं। फिल्मी गानों की रिमिक्सिंग करके उन्हें नए कलेवर में ढाल देने की प्रक्रिया भी आज जोरों पर है और धड़ल्ले से इस रिमिक्स के अलबम बनाए और बेचे जा रहे हैं और खूब मुनाफा कमा कर दे रहे हैं।

बॉलीवुड की फिल्मों में खासकर पुरानी फिल्मों में नृत्य, शास्त्रीय शैली में नृत्यांगनाओं द्वारा किए जाने वाले नृत्य की शैली के होते थे या लोक नृत्य आधारित दृश्य फिल्मों मे लिए जाते थे। आज इसमें पाश्चात्य संगीत व नृत्य का भाग भी मिल गया है। कभी -कभी एक ही फिल्म में समानान्तर रूप से भारतीय शास्त्रीय नृत्य-संगीत और पाश्चात्य शैली का नृत्य दोनों की ताल साथ-साथ होती सुनाई देती है। नायक या नायिका अकेले नहीं एक पूरे समूह के साथ नृत्य करे, इस बात का भी

चलन बढ़ रहा है। नृत्य को प्रभावकारी बनाने के लिए महंगी भड़कीली पोशाकें तो अभिनेता पहनते ही हैं, एक गाने में ही कई बार पोशाक बदली भी देखी जा सकती है। प्राकृतिक स्थलों पर ये दृश्य फिल्माया जाना भी आम बात है। स्विट्जरलैण्ड में ये दृश्य फिल्माए जाना आम बात है क्योंकि यहां आल्पस् पर्वत की वादियों में कश्मीर की घाटियों जैसा आनन्द व सौन्दर्य देखने को मिलता है। कश्मीर में आतंकवाद के पैर फैलने के बाद निर्माता-निर्देशकों को वैकल्पिक व्यवस्था के तहत भी यह करना जरूरी हो गया।

**4.3.2**

कई बार गाना जरूरी होता है कहानी के बीच में और गाने के द्वारा ही पात्र वह कह देता है जो काम कथानक में नहीं कह पा रहा है या ऐसी घटनास्थली कल्पना भी बखान कर सकता है जो अभी तक फिल्म में हुई ही नहीं है। आज नयी फिल्मों में इसका प्रचलन भी बढ़ गया है। एक सुन्दर स्त्री से यह गाना करवाया जाता है, जिसका कहानी से कोई लेना-देना नहीं होता है। पहले की फिल्मों में भी तवायफ के द्वारा गाए गए गाने या कैबरे शो के गाने इसी श्रेणी के गाने हुआ करते थे। हेलन ऐसे नृत्यों के लिए एक चिर-परिचित नाम है।

## 4.4 पटकथा, संवाद, गीत,

पटकथा, संवाद, गीत, अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा लिखे जाते हैं। संवाद मूलतः हिन्दी में लिखे जाते हैं जो कहीं- कहीं उर्दू का पुट लिए होते हैं। कुछ फिल्मों में अंग्रेजी का प्रयोग दिखाई देता है। कुछ संगीतकार एक विशेष गीतकार के साथ काम करना चाहते हैं क्योंकि उनके बीच सामंजस्य स्थापित हो चुका होता है। यह काम शायद अमरीकी भूमि से ही बहकर आती है जहां रिचर्ड रोगर और आस्कर हैमस्टीक II या एलन जे लर्नर और फ्रेडरिक लोवे जैसी जोड़िया खूब लोकप्रिय हुई।

बॉलीवुड के फिल्मी गीतों में अरेबिक और पर्सियन शब्दों का प्रयोग खुलकर होता है और वह गानों को और माधुर्य ही प्रदान करता है।

1983 की फिल्म हीरो का एक उदाहरण देखें, गीतकार आनंद बक्शी द्वारा रचित गीत में–

बिछड़े अभी तो हम, बस कल-परसों
जियूंगी मैं कैसे इस हाल में बरसों
मौत न आयी, तेरी याद क्यों आयी

हाए, लम्बी जुदाई।

दूसरा स्रोत जहां से प्रेम में कविता जन्म लेती है और जो फिल्मों में खूब पसन्द की जाती है, राधा कृष्ण और गोपियों का प्रेम। पौराणिक दृष्टान्तों को उठाकर फिल्म में डाल दिया जाता है। कई बार गीतकार अपने आप को एक भक्त के रूप में प्रतिष्ठित करके भगवान कृष्ण पर गीत की रचना कर डालते हैं।

बॉलीवुड में भारत के हर कोने का व्यक्ति काम करता है। हजारों लोग काम की तलाश में बॉलीवुड का रूख करते हैं। मॉडल, सौन्दर्य प्रतियोगी, टीवी कलाकार, थियेटर अभिनेता और आम आदमी भी, मुम्बई आते हैं एक स्टार बनने के दिवास्वप्न के साथ। हॉलीवुड की तरह, केवल कुछ ही सफल हो पाते हैं।

मनोरंजन की दुनिया में स्टार बनना बड़ा कागजी महल है, कब ऊंचा महल बन जाए, कब ढह जाए कोई नहीं जानता। एक फिल्म पर कभी-कभी तकदीरें बनती बिगड़ती हैं। केवल कुछ लोग राष्ट्रीय लोकप्रियता की उस ऊंचाई तक पहुंच पाते हैं जिस पर पहुंच कर उन्हें कोई चीज नुकसान नहीं पहुँचा सकती, जैसे कि अमिताभ बच्चन। निर्देशक अपनी फिल्म में सर्वाधिक लोकप्रिय सितारों को लेना चाहते हैं जो उन्हें सफलता की गारंटी दे सकें। हालांकि ऐसी सोच इसलिए क्योंकि सितारों की उपस्थिति से कई फिल्में इसलिए सितारे एक बार लोकप्रिय हो जाने पर ज्यादा से ज्यादा फिल्में ले लेते हैं इसका लाभ उठाने की दृष्टि से। धर्मेन्द्र, अमिताभ बच्चन, शाहरूख खान के पास लोकप्रियता का यह दौर काफी समय तक रुका रहा।

## 4.5 वित्त पोषण

### 4.5.1

बॉलीवुड की फिल्मों का निर्माण खर्च (आजकल) हॉलीवुड की फिल्मों से कहीं ज्यादा होता है। सेट, वस्त्र, विशेष प्रभाव, सिनेमेटोग्राफी 1990 के पहले तक विश्व स्तर के नहीं थे। किन्तु जब पश्चिमी फिल्मों और दूरदर्शन की पहुंच भारत में बढ़ी तब बॉलीवुड पर एक दबाव पड़ा कि स्तर को हॉलीवुड जैसा ही बनाया जाए। समुद्र पार के दृश्यों का फिल्मांकन बॉक्स ऑफिस पर हिट हुआ। इसीलिए आज आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलैण्ड, इंग्लैण्ड, अमरीका, यूरोप आदि में धडल्ले से शूटिंग हो रही है। भारत में बनने वाली फिल्में भी बड़े बजट की बन रही हैं जैसे लगान, देवदास, मंगल पांडे।

### 4.5.2

बॉलीवुड फिल्मों का वित्त पोषण निजी वितरकों द्वारा किया जाता है और कुछ एक बड़े स्टूडियो द्वारा भारतीय बैंको और आर्थिक सहयोग देने वाली संस्थाओं ने इस हेतु कर्ज देने की हिम्मत ही नहीं की। कहने में गुरेज नहीं बम्बई के अंडरवर्ल्ड का भी अच्छा योगदान संसाधन जुटाने में होता है। उन्होंने कई फिल्मों का निर्माण करने में मदद की है और अच्छी हस्तियों से उनके अच्छे सम्बन्ध भी नकारे नहीं जा सकते। मौके पर वे बाहुबल और पैसा दोनों ही का इस्तेमाल करना जानते हैं। जनवरी 2000 में मुम्बई के एक माफिया ने राकेश रोशन को निशाना बनाया। 2001 में सी0 बी0आई0 ने फिल्म चोरी-चोरी चुपके चुपके के प्रिंट जब्त कर लिए क्योंकि इसके निर्माण में अण्डरवर्ल्ड का पैसा लगा था।

### 4.5.3

बॉलीवुड में एक और समस्या जो ज्वलन्त है वह है कॉपीराइट का उल्लंघन। थियेटर में फिल्म रिलीज होने के पहले ही डीवीडी प्रतिलिपियां बाजार में उपलब्ध हो जाती है। नवीनतम फिल्मों की डी वी डी, वी सी डी और वी एच एस कापी बनाना भारत और दक्षिण पूर्व एशिया में एक लघु उद्योग का रूप ले चुका है। अपनी भूमि पर बाजार में जगह बना चुकी ये कापियां बाहर के देशों में भारतीय प्रवासियों द्वारा खरीदे जाकर अच्छा बाजार बनाती हैं। चोरी-छिपे इन कॉपियों के द्वारा ही पाकिस्तान में लोग बॉलीवुड फिल्में देख पाते हैं क्योंकि वास्तव में तो पाक-सरकार ने इन पर प्रतिबन्ध लगा रखा है। इनकी बिक्री, वितरण या प्रसारण पर। ये फिल्में भारत में अनगिनत केबल संचालकों द्वारा भी दिखाई जाती है बिना वितरक या निर्माता को कोई भुगतान किए। इंग्लैण्ड और अमेरिका में इन फिल्मों की कॉपी छोटे-छोटे स्टोर पर उपलब्ध हो जाती है। ग्राहक स्टोर से कॉपी लेकर फिर उसकी और प्रतियां बना ली जाती है। इंटरनेट पर भी ये फिल्में उपलब्ध होने से इस गैरकानूनी धंधे को और विस्तार मिलता है।

## 4.6. उपग्रह टीवी, इण्टरनेट, वीडियो

### 4.6.1

विदेशी फिल्में भारतीय मनोरंजन संसार में भारी घुसपैठ बना चुकी हैं। पहले बहुत सी बॉलीवुड फिल्में अच्छा व्यापार कर लेती थीं, आज कुछ ही फिल्में ऐसा कर पाती है। इसमें कुछ खुशी की बात यह हो सकती है कि बॉलीवुड की कुछ फिल्में इंग्लैण्ड, कनाडा और अमरीका में पसन्द की जा रही हैं भले ही प्रवासी

भारतीयों द्वारा। यह गति बढ़ेगी ही क्योंकि प्रवासी भारतीयों की संख्या इन देशों में बढ़ती ही जा रही है।

बॉलीवुड और हॉलीवुड की तुलना करें तो 2002 में बॉलीवुड ने 3.6 बिलियन टिकट बेचे और कुल 1.3 बिलियन अमरीकी डालर की आमदनी की, जबकि हॉलीवुड फिल्मों ने 2.6 बिलियन टिकट बेचे और 51 बिलियन का व्यापार किया।

### 4.6.2 विज्ञापन

बहुत से भारतीय कलाकार यथा एम0एफ0 हुसैन तो पेंटिंग, बिलबोर्ड, पोस्टर आदि से आजीविका कमा रहे हैं। यह इसलिए कि भारत में श्रम काफी सस्ता है और अब तो विनायल के बिलबोर्ड बन रहे हैं जो कम्प्यूटर से प्रिंट किए जाते हैं। इस से बने पुराने पोस्टर आज लोक कल्पनाओं की विधा के रूप में जीवित रह गए हैं।

## 4.7. इतिहास– परिचयात्मक

### 4.7.1.

सिनेमा भारत में पहले पहल 1896 में आया जब ल्युमियर बन्धुओं के सिनेमैटोग्राफ ने वॉटसन होटल, मुम्बई में छः लघु फिल्में दिखायीं।

### 4.7.2

तीन वर्ष बाद, हरिश्चन्द्र भाटवाडेकर ने दो लघु फिल्में बनायीं और प्रदर्शित कीं। फिर कई प्रयास हुए स्टेज के नाटकों पर फिल्म बनाने के। पहली भारत में बनी फिल्म राजा हरिश्चन्द्र थी जो 1913 में बनी थी। यह दादा साहेब ढुंढीराज गोविन्द फाल्के द्वारा निर्देशित थी जिन्हें भारतीय सिनेमा का पिता कहा जाता है। 1920 तक सिने उद्योग पूरी तरह स्थापित हो चुका था और 27 फिल्में हर साल बनायी जाती रही थीं।

### 4.7.3

1930 तक 200 फिल्में हर साल बनने लगीं। पहली भारतीय बोलती फिल्म आर्देशिर इरानी की आलम आरा थी जो 1931 में आयी और सुपर हिट साबित हुई। बालीवुड में संगीत प्रधान फिल्मों का चलन भी बढ़ना शुरू हुआ।

## 4.8. 1930 और 40 के दशक

1930 और 40 के दशक भारत के लिए महत्वपूर्ण थे। विश्वयुद्ध II, भारत की आजादी की लड़ाई और विभाजन का दर्द इन सबसे देश गुजर रहा था, इन विषयों पर भी कुछ निर्माताओं ने हिम्मत करके फिल्म बनायी। उत्तरार्द्ध 1950 में बॉलीवुड फिल्में रंगीन हो गयीं। गीत-संगीत और नृत्य की प्रधानता बढ़ी। सफल अभिनेताओं में देव आनन्द और राज कपूर थे।

## 4.9 1960 का दशक

1960 के अन्त और 1970 के मध्य में हिंसक फिल्मों का दौर रहा। हालांकि कुछ रोमांटिक फिल्में भी साथ-साथ बनती रहीं। धर्मेन्द्र उस समय प्रमुख स्टार माना जाता था। 1975 में सबसे लोकप्रिय फिल्म शोले आयी। इसमें धर्मेन्द्र के साथ अमिताभ बच्चन भी था। 1970 और 80 में रोमांस की जगह हिंसा, डाकू आदि फिल्मों का केन्द्र-बिन्दु रहे। अमिताभ बच्चन गुस्सैल युवक के रोल में खूब जमा। 1990 के शुरू में पारिवारिक ड्रामा, रोमांस का पुट लिए हुए फिल्मों की कथावस्तु रहा। हम आपके हैं कौन (1994), दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे (1995) इस दौर में आयीं। भारतीय फिल्म उद्योग में फिल्में समूह की पसन्द को ध्यान में रखकर बनायी जा रही थीं। कुछ फिल्में ग्रामीण पृष्ठभूमि और समुन्दर पार के दर्शकों को ध्यान में रखकर भी बनायी गयीं।

## 4.10 विवाद

### 4.10.1 चोरी के आरोप

व्यस्त शूटिंग कार्यक्रमों और कम बजट होने के कारण बालीवुड के कुछ लेखक, संगीतकार वगैरह चोरी की लत में घिर गए। वे केन्द्रीय बिन्दु, कथानक, धुन, आदि की नकल करने लगे। तेलगु और तमिल फिल्मों की कुछ चीजें हिन्दी में देखने को मिल जाती या हॉलीवुड से ही कुछ चीजें चुरा ली जातीं।

### 4.10.2

दक्षिण एशिया में कॉपीराइट अधिनियम प्रभावकारी न होने से यह हरकत जारी रही। बॉलीवुड में बहुत से लोगों को यह आभास भी नहीं था कि चोरी पश्चिम

से की जा रही है।

### 4.10.3

आज स्थिति में फर्क है। दर्शक होशियार है, हॉलीवुड पर भी उसकी नजर रहती है वह समझ जाता है कि किस फिल्म में किस हद तक चोरी की गयी है और कहां से। आज भी चोरी रोकने का कोई प्रभावी कानून नहीं है।

### 4.10.4 यौन मामले

2005 में, 'इण्डियाज मोस्ट वॉन्टेड' टीवी शो में खुलासा किया कि बॉलीवुड अभिनेत्रियों का कलाकार (शक्ति कपूर, अमन वर्मा) यौन उत्पीडन कर रहे हैं। अभिनेत्रियों के शोषण की उड़ती-उड़ती खबरें चारों ओर फैलने लगीं। हालांकि लोग इन इलजामों को स्वीकार नहीं किए और मजे की बात यह कि बॉलीवुड तन्त्र ने भी इन अभिनेताओं का साथ दिया। दर्शकों ने इन सबको कोई खास नोटिस नहीं लिया।

## 4.11 बॉलीवुड पुरस्कार

भारतीय सिने जगत की पत्रिका फिल्मफेयर ने 1953 में फिल्म फेयर पुरस्कार शुरू किए। ऐकेडमी ऑफ मोशन पिक्चर आर्ट एण्ड साइन्सेज के प्रारूप पर लोगों से राय लेकर फिल्मों की श्रेणी बना ली जाती। लोग हर श्रेणी की फिल्मों के लिए अपनी राय देते। पुरस्कार एक आलीशान कार्यक्रम में बड़े सितारों के जलवे बिखेरते हुए कार्यक्रम के बीच दिए जाते। ऑस्कर से यहाँ फर्क है कि यह वोट का अधिकार केवल किसी समूह, क्लब या अकादमी तक ही सीमित नहीं है। ऑस्कर की तरह बॉलीवुड में भी व्यावसायिक सफलता ही कसौटी माना जाता है, कलात्मक कोण पीछे रह जाता है।

बाद में दूसरी कम्पनियां जैसे स्टारडस्ट पत्रिका, जी टीवी आदि ने भी फिल्मफेयर की नकल की। कुछ मशहूर पुरस्कार निम्न हैं।

- जी सिने पुरस्कार
- स्टार स्क्रीन पुरस्कार
- स्टारडस्ट पुरस्कार
- आइफा पुरस्कार

☞ अप्सरा पुरस्कार

इन कार्यक्रमों का प्रस्तुतीकरण बढ़िया होता है उसमें नाच- गाना, स्टेज शो सभी कुछ रहता है। 1973 से भारत सरकार ने भी राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार प्रारम्भ किए। ये पुरस्कार फिल्म समारोह निदेशालय (डी एफ एफ) द्वारा दिए जाते हैं। निदेशालय न केवल बॉलीवुड फिल्मों को, अपितु दूसरी क्षेत्रीय भाषाओं में बनी फिल्मों को भी पुरस्कृत करता है। ये पुरस्कार एक समारोह जिसकी अध्यक्षता राष्ट्रपति करता है, में दिए जाते हैं।

## 4.12 टालीवुड

### 4.12.1

टॉलीवुड तेलगू फिल्म उद्योग के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द है। यह नाम हॉलीवुड से ही लिया गया है, जैसे बॉलीवुड और कालीवुड लिए गए हैं। कभी-कभी टालीवुड का प्रयोग बंगला सिनेमा के लिए भी किया जाता है। टालीगंज और हॉलीवुड को मिला कर।

### 4.12.2 उद्योग

टालीवुड दक्षिण भारत के आन्ध्र प्रदेश में स्थित है। हर वर्ष 100 से 150 तेलगू फिल्में बनती है। 2005 में हर सप्ताह दो फिल्में रिलीज होती थी और वार्षिक आमदनी 23.044 मिलियन (522 मिलियन डालर) थी जो 700 मिलियन टिकटों की बिक्री से आयी। फिल्में प्रमुखतः तीन त्योहारों संक्रान्ति, ग्रीष्म और दशहरा के समय लगती हैं वो अच्छा व्यापार करती हैं।

### 4.12.3

2004 में संक्रान्ति के पर्व का 150 करोड़ का कारोबार था। तीन टीवी चैनल हैं जो लगातार तेलगू फिल्में दिखाते हैं और उनसे सम्बन्धित कार्यक्रम भी।

नीचे बॉक्स ऑफिस पर कुल प्राप्तियों का विवरण टालीवुड को दिया जा रहा है।

(भारतीय बिलियन रु0 में)

| वर्ष | कुल आय |
|---|---|
| 1980 | 819 |
| 1985 | 1526 |

| | |
|---|---|
| 1990 | 3333 |
| 1995 | 7985 |
| 2000 | 14011 |
| 2005 | 23044 |

तेलगू फिल्म उद्योग आंन्ध्र प्रदेश की कुल राजस्व का 1% देता है।

## 4.13 बॉलीवुड बनाम टॉलीवुड

### 4.13.1

बहुत सी बॉलीवुड अभिनेत्रियां तेलगू फिल्मों में काम करने का समय निकाल लेती हैं। इसमें कमाई भी अच्छी होती है और लोकप्रियता भी ज्यादा होती है। मशहूर कलाकार जैसे सोनाली बेन्द्रे और अमीषा पटेल 75 लाख का परिश्रमिक लेती है, जबकि कैटरीना कैफ जैसे कलाकार 70 लाख तक पा जाते हैं। सादाक, भूमिका चावला और चार्मी (सभी मुम्बई की लड़कियां) 50-60 लाख प्रति फिल्म का परिश्रमिक पाती हैं। ऋषिता, प्रिया, जैनिलिया भी प्रमुख भूमिकाओं में रहती हैं। वे 30-40 लाख प्रति फिल्म पाती है।

नयी अभिनेत्रियों के लिए टॉलीवुड तेलगू फिल्मों में शुरुआत करना एक अच्छे भविष्य की आशा जगाता है। यह इसलिए की टालीवुड भारत में क्षेत्रीय भाषाओं की सबसे बड़ी बाजार है और वहां की फिल्मों पर हिन्दी सिने जगत के प्रतिष्ठित लोग अच्छी कहानी या दूसरी बातों के लिए नजर रखे होते हैं– न केवल कहानी बल्कि नए चेहरे, तकनीकी कार्यों हेतु कोई नया अच्छा काम करने वाला भी उनकी नजर में आ जाता है।

### 4.13.2 बजट

तेलगू फिल्मों का बजट 7-15 करोड़ प्रति फिल्म होता है। अच्छी फिल्में 12-20 करोड़ तक खर्च करती हैं। सुपर हिट फिल्में 25-30 करोड़ का राजस्व देती हैं।

### 4.13.3 प्रशंसक

टॉलीवुड के कलाकारों के चाहने वाले दक्षिण भारत में फैले हुए है। एन टी रामाराव, चिरंजीवी (जिन्हें पद्म भूषण भी मिला) प्रशंसकों में ईश्वर जैसे पूजे जाते हैं। चिरंजीवी भी चहेतों में खासे लोकप्रिय हैं। फिल्म रिलीज होने पर चहेते काफी

प्रचार-प्रसार, सामाजिक गतिविधियों में लग जाते हैं। 50 या 100 दिन पूरे होने पर अच्छा जश्न मनाया जाता है। बंगला फिल्मों की कुछ मशहूर अभिनेत्रियाँ शबाना, बबिता, मौशमी और पोपी।

### 4.13.4 बंग्ला सिनेमा

बंग्ला फिल्म उद्योग दरअसल दो स्थानो पर बंटा है। ढाका (ढाकीवुड) और कोलकाता (टॉलीवुड) कलकत्ते के दक्षिण में बसे टालीगंज जहां फिल्म उद्योग केन्द्रित है और टालीवुड से मिलकर बना है।

टालीवुड बांग्लादेश या टालीवुड है। बहुत से फिल्म स्टूडियो व निर्माण इकाईयां कोलकाता में ही पली-बढ़ी, ढाका केवल तैयार माल के प्रदर्शन के लिए रहा।

नियमित फिल्म शो ढाका में अरमानिटोला के एक जूट के गोदाम में पहले विश्व युद्ध के समय शुरू हुए। एक नियमित सिनेमा घर जिसका नाम पिक्चर हाउस रखा गया और 1913-14 में फिल्में दिखाना शुरू हुआ। बाद में इसका नाम 'न्यू पिक्चर हाउस' और शबिस्तान हो गया। यह पूर्वी बंगाल का पहला सिनेमा घर था जो बाद में बांग्लादेश में चला गया। ढाका में फिर और भी सिनेमाघर जैसे सिनेमा पैलेस (रूप महल) 1924-29 में, ताजमहल, पैराडाइस, निशांत, ब्रिटानिया, गुलिस्तां, नाज आदि बने। दूसरे जिला मुख्यालयों जैसे चित्तागाँव, दीनाजपुर, फरीदपुर, बोगरा, राजशहर, नरायनगंज में भी और सिनेमा घर बने। 1947 तक 80 सिनेमाघर बन कर चल रहे थे।

## 4.14 कालीवुड

### 4.14.1

कालीवुड तमिल सिनेमा को कहा जाता है जो चेन्नई में स्थित है। यह नाम कोदाम्बक्कम और हॉलीवुड के सम्मिलन से बना है। कोडम्बक्कम चेन्नई का एक भाग है जहां के आस-पास फिल्म स्टूडियो की भरमार है।

कालीवुड भारत में सिनेमा बनाने वाली दूसरी बड़ी उद्योगनगरी है। 2005 में यहां हर सप्ताह औसतन तीन फिल्में बनीं' वार्षिक लेनदेन 23,205 मिलियन टिकटों की बिक्री पर। यहां 1916 से मूक फिल्में बनायी जा रही थीं। बोलती फिल्मों की शुरूआत 1931 में हुई। 30 के अन्त तक उद्योग इतना फैल गया कि मद्रास

विधायिका को मनोरंजन कर अधिनियम 1939 पास करना पड़ा।

### 4.14.2

हिन्दी सिनेमा के बाद तमिल सिनेमा ही दूसरा लोकप्रिय सिनेमा है। भारत, श्रीलंका, मलेशिया, सिंगापुर और दूसरे दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में तमिल भाषी लोगों में तमिल फिल्में खूब पसन्द की जाती हैं। हाल ही में ये फिल्में जापान, दक्षिण अफ्रीका, इंग्लैण्ड और कनाडा में भी लोकप्रिय हुई। कई सफल तमिल फिल्में बाद में बॉलीवुड में भी बनायी गयी।

### 4.14.3

मनोरमा वार्षिकी 2000 में एक अनुमान के अनुसार 20वीं सदी में 5000 के करीब तमिल फिल्में बनी। कुछ फिल्में दूसरी भाषाओं में भी रुपान्तरित की गयीं। हिन्दी में रुपान्तरित फिल्मों में मिन्सारा कानाबु, रोजा, बॉम्बे, प्रमुख है। अन्नियां पहली फिल्म है जो फ्रेंच में रुपान्तरित की गयी।

हाल ही में संवाद और गानों में अंग्रेजी शब्दों की मांग बढ़ी है। कुछ शब्द या पूरा वाक्य अंग्रेजी में कहा जाय, इस बात का चलन बढ़ा है। कुछ फिल्में दो या तीन भाषाओं में समानांतर बनायी जाती हैं, या तो उपशीर्षक देते हुए या कई ध्वनिमार्ग निर्मित करते हुए। कालीवुड फिल्में अक्सर मद्रास बशाई जो मद्रास में बोली जाने वाली तमिल है का भी उपयोग करती है।

### 4.14.4 कालीवुड और राजनेता

तमिल फिल्म उद्योग का सीधा सम्बन्ध राजनीतिज्ञों से है। पहले अकांग्रेसी मुख्य मंत्री सी0एन0अन्नादुराई और मुख्यमंत्री एम0करुणानिधि ने सिनेमा की पटकथा लिखी। लम्बे समय तक तमिल नाडु के मुख्यमंत्री रहे एम0जी रामाचन्द्रन (एमजीआर) कालीवुड के एक जाने-पहचाने अभिनेता थे। पूर्व मुख्यमंत्री जे0 जयाललिता भी एक लोकप्रिय अभिनेत्री थीं। इसके अतिरिक्त कई कलाकार आज लोकसभा या विधानसभा में हैं जबकि कुछ अन्य भावी व्यक्ति पंक्ति में खड़े हैं।

रजत जयंती, कलाकारों के जन्मदिन भी बड़े जोर-शोर से उल्लास से मनाए जाते हैं। ये आयोजन न केवल भारत में बल्कि उन देशों में भी मनाए जाते हैं जहाँ

तमिल भाषी लोग निवास करते हैं।

## 4.15 फिल्म रचना ( विभाजन से पूर्व )

1930 मे, लाहौर में बनी फिल्में हॉलीवुड में बनी फिल्मों से प्रभावित थीं, न केवल उनकी कहानी, हाव-भाव, पटकथा में समानता थी बल्कि अभिनय, मेकअप, पहनावे में भी वही छाप देखने को मिलती थी। हीरो डोगलास फेयरबैंक या एराल क्लिन जैसे लगते थे। लाहौर बम्बई सिने संसार से इतर अपना अस्तित्व बनाना चाह रहा था। इस विचार के चलते ए0आर0कारदार और एम0इस्माइल ने एक स्टूडियो यूनाइटेड पीपुल के नाम से रावी रोड, लाहौर में खोला। जिन अभिनेताओं ने इस स्टूडियो के लिए काम किया उनमें हीरालाल, गुल हमीद, नजीर, और अहमद डीन थे। इसी प्रकार अभिनेत्रियों में कौशल्या देवी, गुलजार और मुमताज के नाम लिए जा सकते हैं। जैसा कि स्टूडियो के 1929 से उपलब्ध दस्तावेजों से प्रकट होता है, ज्यादातर फिल्मों के शीर्षक अंग्रेजी शब्दों पर आधारित थे, यथा स्वीट हार्ट, दि प्रिजनर, मास्कड राइडर, दि गोल्डन डैगर, पेंशन फ्लावर, दी सैक्रेड फ्लेम, हाउस बोट, गोल्डन टेम्पल, दि अवार्ड, पैराडाइज आदि। कुछ उर्दू शीर्षक भी होते थे, यदा– लालारुख, काफिर, ख्वाजा सीरा, और फिरदौस। इसमें से कुछ फिल्में अधूरी ही रह गयीं क्योंकि मूल फिल्में मरणासन्न हालत में थीं और बम्बई और कलकत्ते में बोलती फिल्में बनाने के प्रयास में रात-दिन एक किया जा रहा था। आखिर में मुम्बई की जीत हुई जब इसने 1931 में पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' रिलीज की। लाहौर में यह काम करने वाली विभूति हकीम राजा प्रसाद थे जिन्होंने एम0 इस्माइल, रफीक गजनवी, नजीर और अभिनेत्री अनवरी को लेकर हीर-रांझा बनायी। यह कारदार द्वारा लाहौर में निर्देशित अन्तिम फिल्म थी। यहां से वे कलकत्ते और फिर बम्बई चले गए।

## 4.16. सारांश

बॉलीवुड किसी शहर का नाम नहीं है, यह मुम्बई में स्थित फिल्म उद्योग का नाम है। या फिर यूं कहा जाय कि समुद्र के किनारे स्थित किसी नामचीन व्यवस्था का नाम है। सम्पूर्ण फिल्म उद्योग मुम्बई में नहीं है।

भारत में कुल मिलाकर 800 फिल्में बनती है। यह फिल्में बंगला, तमिल,

तेलगू, मलयालम, उड़िया, असमिया, पंजाबी तथा अन्य अनेक भाषाओं में बनती है।

इसके अतिरिक्त कई बोलियों में भी फिल्म बनती है। जैसे भोजपुरी

भारत के प्रमुख फिल्म उद्योग के केन्द्र इस प्रकार हैः-

**1. बॉलीवुड हिन्दी सिनेमा**

**2. टालीवुड तेलगू सिनेमा**

**3. कालीवुड तमिल सिनेमा**

**4. बंगला सिनेमा कोलकत्ता**

भारत के विभाजन से पूर्व लाहौर, फिल्म निर्माण का केन्द्र हुआ करता था। वहाँ बनने वाली फिल्मों के शीर्षक अधिकतर अंग्रेजी भाषा के होते थे। उदाहरण-स्वरूप

**(i) स्वीट हार्ट**

**(ii) द प्रिजनर**

**(iv) फ्लावर**

**(v) स्वेयर फ्लेम**

**(vi) लाइस वोट**

**(vii) गोल्डेन टेम्पल**

**(viii) द अवार्ड**

**(ix) पैराडाइज**

फीचर फिल्मों की परिकल्पना में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं।

सर्वप्रथम (i) संगीत प्रधान फिल्में बनती थी फिर (ii) सामाजिक फिल्मों का दौर आया। (iii) शैक्षिक (iv) ऐतिहासिक (v) सुधारवादी फिल्में (vi) डाकुओं पर फिल्में। (vii) ऐक्शन (viii) ऑफ बीट (ix) फैमिली ड्रामा (x) फार्मूला फिल्मों का भी दौर आया।

जिसमें कहानी नहीं आइटम होते थे। कामेडी का आइटम, डान्स का आइटम, पात्र के आइटम, ऐक्सन के आइटम। प्रत्येक कलाकार अपनी-अपनी

रूचि के दृश्य देकर, निर्देशक, निर्माता पर प्रभाव डालता रहा था।

उधर वितरकों ने हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। उनकी अपनी रूचि किसी वैज्ञानिक विश्लेषण पर नहीं किसी व्यापारिक सर्वथा पर आधारित नहीं होती थी, बल्कि उनकी रूचि उनकी बीबीयों, मित्र-मंडली की सनक पर आधारित बनी थी।

इस सबके बीच श्याम बेनेगल, सत्यजित रे, विदिक घटक, विमलराय, वी शातांराव जैसे निर्माता, अपने प्रयोग करते रहते थे। सम्भवतः इन्हीं के सम्भावित प्रयास से, भारतीय सिनेमा बन सका है, विश्व का बड़ा सम्भवतः सबसे बड़ा 800 फिल्मों और 3000 करोड़ (आय) पूँजी वाला उद्योग बन सका है।

## 4.17 शब्दावली

बॉलीवुड : मुम्बई फिल्म उद्योग

टॉलीवुड : तेलगू सिनेमा

कॉलीवुड : तमिल सिनेमा

हॉलीवुड : अमेरिकन फिल्म उद्योग

प्ले बैक : गाने पर्दे के पीछे

बैकग्राउण्ड म्यूजिक : पार्श्व संगीत

उपग्रह टीवी : सेटलाइट से सिगनल लेकर प्रदर्शन अंकन

टॉकी : बोलती फिल्में

मूक फिल्म : बिना आवाज की फिल्म

बॉक्स ऑफिस : फिल्म प्रदर्शन की आय का पैमाना

बजट : फिल्म निर्माण के खर्च का पूर्व अनुमान

बंगला सिनेमा : कोलकता में बनने वाली बंगलाभाषी सिनेमा

## 4.18 संदर्भ ग्रन्थ


- इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और फिल्म प्रोडक्शन : राजकृष्ण मिश्र
- फिल्म एज फिल्म : वी पी परकिन्स

- सिनेमा एज एन आर्ट : जे0आर0डिबरिश
- मूवी मुगल्स : फिलिप फ्रेन्च
- माई फेयर लेडी : एलेन जे लरनर
- कन्टेमपोरेरि सिनेमा (1845-1963) : पेनीलोप हाऊस्टन
- फिल्म एण्ड रियल्टी : राय अमरेश

## 4.19 सम्बन्धित प्रश्न

### लघु उत्तरीय प्रश्न

(i) ल्यूमियर बन्धु ने मुम्बई में कब लघु फिल्में दिखायी थीं।

(ii) भारत की पहली टॉकी फिल्म का नाम बताइए, यह कब बनी थी और किसने बनायी थी?

(iv) भारत में 1930 में कुल कितनी फिल्में बनी थी और तब फिल्म उद्योग कहाँ कहाँ था।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(i) भारत में फिल्म उद्योग के उद्‌भव एवं विकास के दौर की विवेचना कीजिए।

(ii) विभाजन से पूर्व भारत में फिल्म उद्योग कहाँ-कहाँ था और उसकी स्थिति क्या थी ?

(iii) बॉलीवुड पुरस्कारों के विषय में विस्तार से बताइए।

(iv) भारतीय सिनेमा के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. बंगला फिल्म उद्योग दो जगहों पर बंटा है–

(i) कोलकत्ता – ढाका

(ii) कोलकत्ता – मुम्बई

(iii) चेन्नई – हैदराबाद

(iv) बंगलौर – कोलकाता

(ख) कालीवुड भारत में फिल्म बनाने वाला

(i) तीसरा बड़ा केन्द्र है

(ii) दूसरा बड़ा केन्द्र है।

(iii) चौथा बड़ा केन्द्र है।

(iv) पहला बड़ा केन्द्र है।

(ग) भारत में सर्वप्रथम फिल्म प्रदर्शन

(i) चेन्नई में 1920 में हुआ था

(ii) कोलकता में 1899 में हुआ था

(iii) मुम्बई में वॉटसन वोटल में 1896 में हुआ था

(iv) हैदराबाद मे 1925 में हुआ था।

(घ) भारत की पहली फिल्म –

(i) 1910 में बनी थी।

(ii) 1899 में बनी थी

(iii) 1940 में बनी थी

(iv) 1913 में बनी थी

**उत्तर**

(क) (i), (ख) (ii) (ग) (iii) (घ) (iv)